પંન્યાસપ્રવર શ્રી સુજોધવિજયજી ગણી.

श्री वद्धमान-सत्य-नीति-हर्ष सूरि ग्रन्थमाला पुष्प नं. १७

पण्डित प्रकाण्ड श्रीमद् राजकीर्तिगणि विरचिता

# श्री वद्धमानदेशना

तथा

महोपाध्याय श्री सुरचन्द्र गणि विरचिता

## श्री जैनतत्त्वसार (मूल तथा सटिप्पण)

: प्रकाशक :

लुवारनो पोळना जैन उपाश्रयना संघ तरफथी सेक्रेटरी
शा. रमणलाल नकरचंद. लुवारनी पोळ-अमदावाद.

विक्रम संवत २०१३. वीर संवत. २०८३ सने. १९५६

प. पू. आ. महेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज साहेबना उपदेशथी
आ ग्रन्थमां आर्थिक सहाय आपनार गृहस्थोनी नामावली
रु–६००) शेठ छोगमल हंसाजी बेडावाला हाल–शिवगंज मारवाड
रु–५००) शेठ हेमराजजी जसराजजी (पोताना मातुश्री पानीबाईना स्मरणार्थे) चांदराइ मारवाड
रु–३००) शेठ सांकळचंदजी रासाजी जावाल (मारवाड)
आ पुस्तकमां बाकीनी खुटती तमाम रकम लुवारनी पोळना उपाश्रयना जैन ज्ञानद्रव्यमांथी आपवामां आवी छे.

प्रकाशक—

: मुद्रक :
पण्डित मफतलाल झवेरचन्द गांधी
श्री नयन प्रिन्टिंग प्रेस.
का. र. ६१. ढांकवावाडी, फरनान्डीझ पुल पासे
अहमदाबाद

: प्राप्तिस्थान :
लुवारनी पाळ, जैन उपाश्रय
लुवारनी पोळ अहमदाबाद

# श्री वर्द्धमानजिनदेशना तथा श्रीजैनतत्त्वसार विषयानुक्रमणिका


| विषय | विषयानुक्रमः | पृष्ठाङ्क | विषय | विषयानुक्रमः | पृष्ठाङ्क |
|---|---|---|---|---|---|
| १ | **प्रथमोल्लास** | १–१५३ | १३ | रात्रिभोजनत्यागः | ९३–९५ |
| १ | सम्यक्त्वाधिकारः | ३–९ | १४ | रात्रिभोजनत्यागे केशवकथा | ९५–१०६ |
| २ | सम्यक्त्वोपरि आरामशोभा कथा | ९–२८ | १५ | दिग्विरमणगुणव्रतोपरि चारुदत्तकथा | १०६–११५ |
| ३ | अहिंसाधिकारः | २९–३५ | १६ | सप्तमभोगोपभोगपरिमाणव्रतमहिमा | ११६–१२१ |
| ४ | प्राणातिपातविरमणव्रतोपरि श्री हरिबलकथा | ३५–५६ | १७ | सप्तमव्रतोपरि धर्मकुमारकथा | १२२–१२५ |
| ५ | द्वितीयव्रतमहिमा | ५६–५८ | १८ | अष्टमव्रतोपरि सुरसेनमहसेनकथा | १२६–१२८ |
| ६ | द्वितीयव्रतोपरि हंसराजकथा | ५८–६४ | १९ | नवमसामायिकव्रतोपरि केसरिचौरकथा | १२८–१३१ |
| ७ | तृतीयव्रतमहिमा | ६४–६५ | २० | देसम-देशावकासिकव्रतोपरि सुमित्रमंत्री कथा | १३१-१३४ |
| ८ | तृतीयव्रतोपरि श्री लक्ष्मीपुञ्जकथा | ६६–७० | २१ | पौषधव्रतोपरि रणशूरकथा. | १३५–१३८ |
| ९ | चतुर्थव्रतमहिमा | ७१–७७ | २२ | अतिथिसंविभागव्रतमहिमा | १३९-१४३ |
| १० | चतुर्थव्रतोपरि मइरावती कथा | ७७–८४ | २३ | अतिथिसंविभागव्रतोपरि जिनदत्तकथा | १४३–१४६ |
| ११ | पञ्चमव्रतमहिमा | ८५–८९ | २४ | श्रावकप्रतिमास्वरूपं | १४७–१५० |
| १२ | पञ्चमव्रतोपरि श्री धनसारकथा | ८९–९२ | २५ | आनन्दश्रावकाविधिज्ञानं–संलेखना च. | १५१–१५३ |

| विषय | विषयानुक्रम | पृष्ठाङ्क |
|---|---|---|
| २ द्वितीयोल्लास | | १५४–१८२ |
| श्री रत्नसारकथा | | १५४–१७८ |
| श्री कामदेवस्योपसर्गाः | | १७९--१८२ |
| ३ तृतीयोल्लास | | १८३–२०२ |
| सहस्रमल्लकथा | | १८३--२०० |
| चूलनीपिताश्रावकचरित्रम् | | २-१--२०२ |
| ४ चतुर्थोल्लासः | | २०३–२१७ |
| धिष्टचरित्रम् | | २०३--२१५ |
| सुरादेवश्राद्धचरित्रम् | | २१५--२१७ |
| ५ पञ्चमोल्लास | | २१७--२२६ |
| धनदेव–धनमित्रकथा | | २१८--२२४ |
| चुल्लगशतकचरित्रम् | | २२५--२२६ |
| ६ षष्ठोल्लासः | | २२६--२३७ |
| कुलध्वजकथा | | २२६–२३५ |
| कुंडकोलिकचरित्रम् | | २३५--२३७ |
| ७ सप्तमोल्लासः | | २३८–२४९ |
| दामनककथा | | २४०–२४४ |
| सद्दालपुत्रचरित्रम् | | २४५–२४९ |
| ८ अष्टमोल्लासः | | २४९–२५७ |
| असंमतकथा | | २५०ः-२५३ |
| महाशतक चरित्रम् | | २५३–२५७ |
| ९ नवमोल्लासः | | २५८–२६५ |
| भीमकुमारचरित्रम् | | २५८--२६५ |
| नंदिनीप्रियचरित्रम् | | २६५ |
| १० दशमोल्लासः | | २६६–२७५ |
| सागरचन्द्रकथा | | २६६--२७४ |
| तेतलिपुत्रचरित्रम् | | २७५ |
| श्री जैनतत्वसार सटिप्पण | | १–१२० |

# शुद्धिपत्रकम्

| पृ | पं. | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| २ | ११ | काणके | कोणके |
| ४ | १ | श्लाध्यते | श्लाघ्यते |
| ४ | ६ | भवपथे | भवपथे |
| ६ | १४ | इति | इति |
| ९ | ३ | सिंहने | सिंहेन |
| ११ | ३ | चंदोऽपि | चंद्रोऽपि |
| १६ | १४ | मादकान् | मोदकान् |
| १८ | १३ | क्षिप्रा | क्षिप्ता |
| १९ | १३ | नंति | नेति |
| २२ | १० | ण्छत्रा | च्छत्रा |
| २२ | १३ | भये | भवे |
| २३ | १३ | गृहणं | ग्रहणं |
| २४ | ५ | सम्बलं | शम्बलं |
| ३७ | ५ | कृतार्था | कृतार्थो |
| ३७ | १० | स्थिता | स्थितो |
| ३८ | ११ | चिंन्तितं | चिन्तितं |
| ४० | ६ | क्क | क्व |
| ४१ | ६ | क्तुकामो | कर्तुकामो |
| ५१ | ३ | भूता | भूतो |
| ५१ | ९ | प्रिये | प्रिय |
| ५१ | १४ | प्रताहार | प्रतीहार |
| ५३ | १ | शिध्रं | शिघ्रं |
| ५७ | २ | वागूं | वाग् |
| ५७ | ३ | कार्तयन् | कीर्त्तयन् |
| ६० | ५ | किराता | किरातो |
| ६० | ८ | भा | भो |
| ६० | १२ | नाक्तं | नोक्तं |
| ६५ | १३ | मेधिना | मेधिनो |
| ६८ | १३ | सन्नुत्वाच | सन्नुवाच |
| ७६ | ११ | विविशो | विवशो |
| ८० | ५ | महद्भिकस्य | महर्द्धिकस्य |
| ८० | ७ | मसति | भवति |
| ८० | ८ | नंतशा | नंतशो |
| ८१ | ६ | अन्यथाः | अन्यथा |
| ८१ | १३ | स्वप्नंमह | स्वप्नमहं |
| ९३ | ७ | निद्राता | निद्रातो |
| १०५ | ३ | ज्ञापाज्ञान | ज्ञापाज्ञानि |
| १०९ | ६ | समापे | समीपे |
| १०९ | ७ | समापे | समीपे |
| ११२ | ७ | सरावर | सरोवर |
| १२३ | ११ | यातिका | येानिका |
| १२३ | ११ | समापे | समीपे |

| पृ. | पं. | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १२३ | १२ | त्क्रमेण | क्रमेण |
| १२५ | ५ | तण्डिलेषु | तण्डूलेषु |
| १२५ | ६ | मुद्रग | मुद्ग |
| १२८ | ३ | भेंदा | भेंदो |
| १३१ | ८ | स्वगृहे | राजास्वगृहे |
| १३५ | १४ | शुभटेभ्या | सुभटेभ्यो |
| १३६ | १२ | नातः | नीतः |
| १३७ | २ | लाक | लोक |
| १३७ | १२ | विकुवितेन | विकुर्विंतेन |
| १३८ | १ | इता | इतो |
| १४७ | १ | कअत | अत |
| १५३ | १ | लाके | लोके |
| १५४ | ४ | चम्पाया | चम्पायां |
| १५६ | ८ | रुढा | रूढो |
| १५७ | १० | द्दालारूढं | द्दोलारुढं |
| १५७ | १४ | काऽसि | कोऽसि |
| १६४ | ७ | मेघद्मवर्जन् | मेघवद्गर्जन् |
| १७० | ९ | नगठ | नगर |
| १७७ | ५ | गरोधने | गरोद्याने |
| १८३ | ६ | अन्योऽप | अन्योऽपि |
| १९३ | ६ | चैत्यवंदनन | चैत्यवंदन |
| १९४ | ११ | भवद्भयो | भवद्भ्यो |
| १९६ | ११ | वंदित्य | वंदित्वो |
| २०५ | १२ | षड्मासां ते | षड्मासांते |
| २०६ | ३ | सामर्थ्य | सामर्थ्य |
| २११ | १२ | भृता | भृता |
| २१६ | ४ | ल्केशादि | क्लेशादि |
| २२० | ८ | राज्ञाः | राज्ञो |
| २२२ | ७ | श्चिदेवं | श्चिदेवं |
| २२५ | ९ | ज्ज्येष्ठत्रं' | ज्ज्येष्ठ पुत्रं' |
| २२६ | ९ | मिघ | भिघ |
| २२८ | २ | समयाति | समायाति |
| २२९ | १ | मचिंत्वा | मचिंत्या |
| २३१ | १४ | कुमारमारक्षकै | कुमारमारक्षकै |
| २३९ | २ | प्रभुपरि | प्रभुरपि |
| २४२ | ९ | त्याहि | याहि |
| २४६ | १० | गोशाकः | गोशालकः |
| २४९ | १ | कालाहलः | कोलाहलः |
| २५६ | १ | कुमरेणन | कुमरणेन |
| २५८ | २ | चत्यं | चैत्यं |
| २५९ | ८ | कुमऽरेण | कुमारेण |

આ ગ્રંથમાં પ્રતના શ્લોકો મુક્યા છે, તે યોગ્યશાસ્ત્રના છે અને [ ] મુક્યા છે.

॥ श्री वर्द्धमान-सत्य-नीति-हर्षसूरिजैनग्रन्थमाला पुष्प नं १७ ॥

॥ ॐ ह्रीँ अर्हं श्री संखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

तीर्थोद्धारक आचार्यदेव विजयनीतिसूरीश्वरेभ्यो नमः

प. पू. आचार्यदेव श्रीमद्विजयहर्षसूरीश्वरेभ्यो नमः

पण्डितप्रकाण्ड-श्रीमद्राजकीर्तिगणिवरविरचित-

# श्री वर्द्धमानजिनदेशना

नमः श्रीपार्श्वनाथाय। वांछितार्थप्रदायिने ॥ करोमि गद्यबंधेन। श्रीवर्धमानदेशनां ॥ १ ॥

अस्मिन् जंबूद्वीपे भरतनाम क्षेत्रं वर्त्तते, तस्मिन् भरते च वाणिज्यग्रामाख्यं नगरमस्ति. तन्नगरं कीदृगस्ति ? गढ-मढ-वनखंड-वापी-कूपादिभिरलकानगरीसदृग् विराजते, तस्मिन्नगरे जितशत्रुनामा राजा राज्यं करोति, सुखेन चात्मीयप्रजां पालयति, तस्मिंश्च वाणिज्यग्रामनगरे आनंदनामा गृहपतिर्वसति, तस्य च शिवानाम्नी स्त्री वर्त्तते, सा च रूपलावण्यशीला-

दिसंयुक्तास्ति, स च श्रेष्ठी धनदवद्धनी वर्त्तते, तस्य चत्वारि कोट्यः स्वर्णरूप्याणां भूमिगता वर्त्तन्ते, चत्वारि कोट्यो व्यवहारे वर्त्तन्ते. चत्वारि कोट्यश्च व्याजे दत्ताः संति, पंचशतशकटानि व्यापारार्थं देशांतरे यान्ति, पंचशतशकटानि तृणार्थमिंधनार्थं च वहंति, चतुःशतप्रवहणानि च समुद्रे वाणिज्यार्थं वहन्ति, दश धेनूनां सहस्राण्येकस्मिन् गोकुले वर्त्तन्ते, ईदृशानि चत्वारि गोकुलानि तस्यानंदश्रेष्ठिनो गृहे सन्ति, ईदशी ऋद्धिस्तस्य गृहेऽस्ति. एवमसौ शिवाभार्यया सह मनुष्यसुखानि भुंक्ते, सुखेन च दिनानि गमयति ।

अथान्यदा प्रस्तावे चतुर्विंशतितमस्तीर्थकरः श्रीवर्द्धमानस्वामी स्वर्णकमलेषु पादौ स्थापयन् चतुर्दशसहस्रसाधूनां परिवारेण, षट्त्रिंशत्सहस्रार्यिकाणां परिवारेण च सहितः सुखं सुखेन विहरन् भव्यजीवान् प्रतिबोधयन् वाणिज्यग्रामे द्रुतपलासे चैत्ये समवसृतः, देवैश्च समवसरणं कृतं, तत्र त्रयो वप्राः कृताः, भगवांश्च सिंहासनोपर्युपविष्टः, मस्तकोपरि च त्रीणि छत्राणि, पार्श्वे च चामराणि शोभन्ते। जयजयध्वनिरुच्छलितः, आकाशे च देवदुंदुभिर्वाद्यते. देवाश्च समागताः, द्वादशपरिषदो मिलिताः, अग्निकोणके त्रयः परिषद उपविष्टाः. गणधराः १ देव्यः २ साध्व्यश्च ३. नैऋतकोणकेऽपि त्रयः परिषद उपविष्टाः, ज्योतिषिदेव्यः १ व्यंतरदेव्यः २ भवनपतिदेव्यश्च ३. वायव्यकोणकेऽपि त्रयः परिषद उपविष्टाः, ज्योतिषिदेवाः १ व्यन्तरदेवाः २ भवनपतिदेवाश्च ३. ईशानकोणकेऽपि त्रयः परिषद उपविष्टाः, वैमानिकदेवाः १ मनुष्याः २ मनुष्याणां स्त्रियश्च ३. एवं द्वादश परिषद उपाविष्टाः, अन्येऽपि नगरवासिश्राद्धश्राद्धीगणाश्च वंदनार्थं समागताः, जितशत्रुराजापि चतुरंगसेनया सह वंदनार्थं निर्गतः, एवमनेके राजलोका अपि भगवद्वंदनार्थं गच्छन्ति. तथानंदगाथापतिरपि तान् राजादिलोकान् व्रजतो

दृष्ट्वैकस्य नागरस्य पृच्छति, 'भो पुरुष ! एते लोकाः क्व व्रजन्ति ?' स मनुष्यः कथयति 'भो श्रेष्ठिन् ! सर्वज्ञः सर्वदर्शी सर्वलोकानां सुखजनकः श्रीमहावीरोऽत्र समवसृतोऽस्ति, तस्य वंदनार्थमेते व्रजन्ति.' तत् श्रुत्वाऽऽनंदश्रेष्ठी स्वमनसि चिंतयत्यसौ 'वीतरागोऽस्ति, अस्य वंदनेन च महाफलं भवति,' एवं चिन्तयन् सोऽपि द्रुतपलासे चैत्ये समागतः, त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वा नमस्कारं च कृत्वा पुरत उपविष्टः, अथ कंदर्पमदमंथकत्रिभुवनगुरुर्भविकलोकनेत्राणामानंददायकः श्रीवर्द्धमानस्वामीदृशं धर्मोपदेशं कथयति—

'भो भव्यलोका जातिजरामरणदुःखवियोगरोगादिभिः पूर्णोऽयं मनुष्यलोकः. अस्मिन् संसारसमुद्रे मनुष्यभवो दुर्लभः, आर्यक्षेत्रे चोत्तमकुलप्रसूतिर्दुर्लभा, उत्तमगुरुसंयोगो धर्मश्रवणं च पुनर्दुर्लभं. एवं ज्ञात्वा निद्राविकथाक्रोधादिकषायांस्त्यक्त्वा धर्मे उद्यमो विधातव्यः, पुनर्भो भव्यलोका यदि मुक्तिसुखं वांछथ तर्हि सम्यक्त्वे आदरं कुरुध्वं ? यदुक्तं सिद्धांते—

**१ दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं॥ सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया न सिज्झंति॥१॥**

**[यो०मू० या देवे देवतावुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः । धर्मे च धर्मधीः शुद्धा सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥ १ ॥**

आ०—मूलं बोधिद्रुमस्यैतत्, द्वारं पुण्यपुरस्य च । पीठं निर्वाणहर्म्यस्य, निधानं सर्वसम्पदाम् ॥१॥

१ दर्शनभ्रष्टः भ्रष्टः दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणं सिद्धयन्ते चरणरहिताः दर्शनरहिताः न सिद्धयन्ति ।

गुणानामेक आधारो- रत्नानामिव सागरः । पात्रं चारित्रवित्तस्य, सम्यक्त्वं श्लाघ्यते न कैः ॥२॥
अवतिष्ठेत नाज्ञानं, जन्तौ सम्यक्त्ववासिते ।प्रचारस्तमसः कीदृक्, भुवने भानुभासिते ॥३॥
तिर्यग्नरकयोर्द्वारे, दृढा सम्यक्त्वमर्गला । देवमानवनिर्वाण-सुखद्वारैककुञ्चिका ॥४॥
भवेद्वैमानिकोऽवश्यं, जन्तुः सम्यक्त्ववासितः । यदि नोद्वान्तसम्यक्त्वो- बद्धायुर्वापि नो पुरा ॥५॥
अन्तर्मुहूर्तमपि यः समुपास्य जन्तुः. सम्यक्त्वरत्नममलं विजहाति सद्यः ।
बम्भ्रम्यते भवपथे सुचिरं न सोऽपि. तद्बिभ्रतश्चिरतरं किमुदीरयामः ॥६॥

**अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या । अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥ २ ॥**

आ०—मिथ्यात्वं परमो रोगो- मिथ्यात्वं परमं तमः । मिथ्यात्वं परमः शत्रुर्मिथ्यात्वं परमं विषम् ॥१॥
जन्मन्येकत्र दुःखाय, रोगोध्वान्तं रिपुर्विषम् । अपि जन्मसहस्रेषु, मिथ्यात्वमचिकित्सितम् ॥२॥
मिथ्यात्वेनालीढचित्ता नितान्तं, तत्त्वातत्त्वं जानते नैव जीवाः ।
किं जात्यन्धाः कुत्रचिद्वस्तुजाते, रम्यारम्यव्यक्ति-मासादयेयुः ॥३॥

**देव–सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः । यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥ ३ ॥**

उ०—एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः ।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा- एको भावस्तत्त्वतस्तेन दृष्टः ॥१॥

ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयमयं शरणमिष्यताम् । अस्यैव प्रतिपत्तव्यं शासनं चेतनास्ति चेत् ॥ ४ ॥

अरण्यरुदितं कृतं, शवशरीरमुद्वर्तितं, श्वपुच्छमवनामितं, बधिरकर्णचापः कृतः ।
स्थले कमलरोपणं, सुचिरमूषरे वर्षणं, यदन्धमुखमण्डनं, यदबुधे जने भाषितम् ॥१॥

ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्रादिरागाद्यङ्ककलङ्किताः । निग्रहानुग्रहपरास्ते देवाः स्युर्न मुक्तये ॥ ५ ॥
नाट्याट्टहाससङ्गीताद्युपप्लवविसंस्थुलाः । लंभयेयुः पदं शान्तं प्रपन्नान् प्राणिनः कथम् ॥ ६ ॥

आ०—न सर्वज्ञा न नीरागाः, शङ्करब्रह्मविष्णवः । प्राकृतेभ्यो मनुष्येभ्यो-ऽप्यसमञ्जसवृत्तितः ॥१॥
स्त्रीसङ्गः काममाचष्टे, द्वेषं चायुधसंग्रहः । व्यामोहं चाक्षसूत्रादि-रशौचं च कमण्डलुः ॥२॥
गौरी रुद्रस्य सावित्री, ब्रह्मणः श्रीर्मुरद्विषः । शचीन्द्रस्य रवे रत्ना-देवी दक्षात्मजा विधोः ॥३॥
तारा बृहस्पतेः स्वाहा, वह्नेश्चेतोभुवो रतिः । धूमोर्णा श्राद्धदेवस्य, दारा एवं दिवौकसाम् ॥४॥
सर्वेषां शस्त्रसम्बन्धः, सर्वेषां मोहजृम्भितम् । तदेवं देवसन्दोहो- न देवपदवीं स्पृशेत् ॥५॥
बुद्धस्यापि न देवत्वं, मोहाच्छून्याभिधायिनः । प्रमाणसिद्धे शून्यत्वे, शून्यवादकथा वृथा ॥ ६ ॥
प्रमाणस्यैव सत्त्वेन, न प्रमाणविवर्जिता । शून्यसिद्धिः परस्यापि, न स्वपक्षस्थितिः कथम् ? ॥ ७ ॥
सर्वथा सर्वभावेषु, क्षणिकत्वे प्रतिश्रुते । फलेन सह सम्बन्धः, साधकस्य कथं भवेत् ॥८॥
वधस्य वधको हेतुः, कथं क्षणिकवादिनः । स्मृतिश्च प्रत्यभिज्ञा च, व्यवहारकृतौ कथम् ॥९॥

निपत्य ददतो व्याधूयाः. स्वकायं कृमिसङ्कुलम् । देयादेयविमूढस्य, दया बुद्धस्य कीदृशी ॥१०॥
स्वजन्मकाल एवात्म-जनन्युदरदारिणः । मांसोपदेशदातुश्च, कथं शौद्धोदनेर्दया ॥११॥
यो ज्ञानं प्रकृतेर्द्धर्म्मं, भाषते स्म निरर्थकम् । निर्गुणो निष्क्रियो मूढः, स देवः कपिलः कथम् ॥१२॥
आर्याविनायकस्कन्द-समीरणपुरस्सरः । निगद्यन्ते कथं देवाः, सर्वदोषनिकेतनम् ॥१३॥
या पशुर्गूथमश्नाति, स्वपुत्रं च वृषस्यति । शृङ्गादिभिर्घ्नती जन्तून्, सा वन्द्याऽस्तु कथं नु गौः ॥१४॥
पयःप्रदानसामर्थ्या–द्वन्द्या चेन्महिषी न किम् ? । विशेषो दृश्यते नास्यां, महिषीतो मनागपि ॥१५॥
स्थानं तीर्थर्षिदेवानां, सर्वेषामपि गौर्यदि । विक्रीयते दुह्यते च, हन्यते च कथं ततः ॥१६॥
मुसलोदूखले चुल्ली, देहली पिप्पलो जलम् । निम्बोऽर्कश्चापि यैः प्रोक्ता, देवास्तैः केऽत्र वर्जिताः ॥१७॥
कृतार्थाजठरोपस्थ–दुःस्थितैरपि दैवतैः । भवादृशान्निह्नुवते, हहा देवास्तिकाः परे ॥१८॥

गुरुः–महाव्रतधरा धीरा भैक्षमात्रोपजीविनः । सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥ ७ ॥
सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः । अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥ ८ ॥
परिग्रहारंभमग्नास्तारयेयुः कथं परान् । स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरीकर्तुमीश्वरः ॥ ९ ॥

धर्म–दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद्धर्म उच्यते । संयमादिर्दशविधः सर्वज्ञोक्तो विमुक्तये ॥ १० ॥
उ०—दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, यस्माद्धारयते ततः । धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः ॥१॥

अपौरुषेयं वचनमसंभवि भवेद्यदि । न प्रमाणं भवेद्वाचां ह्याप्ताधीना प्रमाणता ॥ ११ ॥
मिथ्या दृष्टिभिराम्नातो हिंसाद्यैः कलुषीकृतः । स धर्म इति चित्तोऽपि भवभ्रमणकारणम् ॥ १२ ॥
सरागोऽपि हि देवश्चेद् गुरुरब्रह्मचार्यपि । कृपाहीनोऽपि धर्मः स्यात्कष्टं नष्टं हहा जगत् ॥ १३ ॥

उ०—[१]रागी देवो दोसी देवो मामि सुन्नंपि देवो, मज्जे धम्मो मंसे धम्मो जीवहिंसाइ धम्मो।
रत्ता मत्ता कन्तासत्ता जे गुरू तेवि पुज्जा, हाहा कट्ठं नट्ठो लोओ अट्टमट्टं कुणंतो ॥१॥

शमसंवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्यलक्षणैः । लक्षणैः पञ्चभिः सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ॥ १४ ॥

उ०[२]पइईए कम्माणं, नाऊणं वा विवागममुहं ति। अवरद्धे वि न कुप्पइ, उवसमओ सव्वकालं पि ॥१॥
लिङ्गे लिङ्गी भवत्येव, लिङ्गिन्येवेतरत्पुनः । नियमस्य विपर्यासे, सम्बन्धौ लिङ्गलिङ्गिनोः ॥२॥
[३]नरविबुहेसरसोक्खं, दुक्खं चिय भावओ अ मन्नंतो । संवेगओ न मोक्खं, मोत्तूणं किंचि पच्छे(त्थे)इ ॥३॥
[४]नारयतिरियनरामरभवेसु निव्वेयओ वसइ दुक्खं । अकयपरलोयमग्गो, ममत्तविसवेगरहिओ य ॥४॥

---

(१) रागी देवो द्वेषी देवो सङ्गे शून्योऽपि देवः, मद्ये धर्मो मांसे धर्मो जीवहिंसायां धर्मः । रक्ता मत्ताः कान्तासक्ता ये गुरवः तेऽपि पूज्याः, हाहा कष्टं नष्टो लोको अट्टमट्टं कुर्वन् ॥

(२) प्रकृत्या कर्मणां, ज्ञात्वा वा विपाकमशुभमिति । अपराधेऽपि न कुप्यति, उपशमतः सर्वकालमपि ॥

(३) नरविबुधेश्वरसौख्यं, दुःखमेव भावतश्च मन्यमानः । संवेगतो न मोक्षं, मुक्त्वा किञ्चित् प्रेक्षते, (प्रार्थयति)॥

(४) नारकतिर्यङ्नरामरभवेषु निर्वेदतः वसति दुःखम् । अकृतपरलोकमार्गो- ममत्वविषवेगरहितश्च ॥

[1]दट्ठूण पाणिनिवहं, भीमे भवसायरम्मि दुक्खत्तं । अविसेसओणुकंपं, दुविहावि(दुहावि) सामत्थओ कुणइ ॥५॥

[2]मन्नइ तमेव सच्चं, नीसंकं जं जिणेहिं पन्नत्तं । सुहपरिणामो सम्मं, कंखाइविसुत्तिभारहिओ ॥६॥

**स्थैर्यं प्रभावना भक्तिः कौशलं जिनशासने । तीर्थसेवा च पञ्चास्य भूषणानि प्रचक्षते ॥ १५ ॥**

उ०--[3]पावयणी धम्मकही, वाई नेमित्तिओ तवस्सी य । विज्जा सिद्धो अ कई, अट्ठेव पभावगा भणिया ॥१॥

[4]जम्मं दिक्खा नाणं, तित्थयराणं महाणुभावाणं । जत्थ य किर निव्वाणं, आगाढं दंसणं होइ ॥१॥

**शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा मिथ्यादृष्टिप्रशंसनम् । तत्संस्तवश्च पञ्चापि सम्यक्त्वं दूषयन्त्यमी ॥१६॥ ]**

उ०--[5]कत्थ य मइदुब्बल्लेण, तव्विहायरियविरहओ वावि । नेयगहणत्तणेण य, नाणावरणोदएणं च ॥१॥

[6]हेऊदाहरणासंभवे अ, सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा । सव्वन्नुमयमवितहं, तहावि तं चिंतए मइमं ॥२॥

---

(१) दृष्ट्वा प्राणिनिवहं, भीमे भवसागरे दुःखार्त्तम् । अविशेषतोऽनुकम्पां, द्विविधामपि सामर्थ्यतः करोति ॥

(२) मान्यते तदेव सत्यं, निःशङ्कं यद् जिनैः प्रज्ञापितम् (प्रज्ञप्तम्) । शुभपरिणामः सम्यक् काङ्क्षादिविसूत्रिकारहितः ॥

(३) प्रवचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकः तपस्वी च । विद्यावान् सिद्धश्च कविः, अष्टैव प्रभावका भणिताः

(४) जन्म दीक्षा ज्ञानं, तीर्थकराणां महानुभावानाम् । यत्र च किल निर्वाणं, आगाढं दर्शनं भवति ॥

(५) क्व च (क्वचन) मतिदुर्बलेन, तद्विधाचार्यविरहतो वापि । ज्ञेयगहनत्वेन च, ज्ञानावरणोदयेन च ॥

(६) हेतूदाहरणासंभवे च, सति सुष्ठु यन्न बुध्येत । सर्वज्ञमतमवितथं, तथापि तच्चिन्तयति मतिमान् ॥

[१]अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा । जियरागदोसमोहा य. नन्नहा वाइणो तेणं ॥३॥

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, मध्ये भक्तं पानकं चापराह्णे ।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यसिंहने दृष्टः ॥४॥

एतत्सम्यक्त्वं यः श्रमणोपासको हृदये स्थापयति स आरामशोभावत्सुखं प्राप्नोति.' तत् श्रुत्वाऽऽनंदो भगवंतं पृच्छति, 'हे भगवन् ! का सा आरामशोभा ? तया च सम्यक्त्वप्रभावात्कथं सुखानि प्राप्तानि ?' तत्कृपां कृत्वा कथ्यतां ? इति पृष्टोऽसौ श्रीवीरजिनेंद्रः कथयति—

अस्मिन् भरतक्षेत्रे पलास इति नाम्ना ग्रामोऽस्ति, तस्मिन्नग्निशर्माख्यो विप्रो वसति, स च यज्ञादिकर्मरत ऋग्वेद-यजुर्वेदाथर्वणवेदसामवेदानां वेत्ता वर्त्तते, तस्य ज्वलनशिखाभिधा च भार्यास्ति. तत्कुक्षावुत्पन्ना विद्युतप्रभानाम्नी च पुत्री वर्त्तते, सा चातीवसुरूपा सुंदराकारानुक्रमेण वर्द्धमानाष्टवार्षिकी जाता, इतश्च तन्मातुर्मरणेन सातीव शोकातुरा बभूव, यदुक्तं—

[२]बालस्स मायमरणं । भज्जामरणं च जुव्वणारंभे ॥ थेरस्स पुत्तमरणं । तिन्निवि गुरुआइं दुक्खाइं ॥१॥

पूर्वभवे जीवेन यत् शुभाशुभं कर्म कृतं भवति तदत्र भुज्यते. सा बालाथ सूर्योदय एवोत्थिता सती गृहांगणं प्रमार्जयति, पश्चाद्इंधनशालां लिंपयति. एतत्कृत्यं कृत्वा धेनूनां चारणार्थं प्रत्यहं ग्रामाद्बहिर्गच्छति, मध्यान्हे च गा

(१) अनुपकृतपरानुग्रह-परायणा यज्जिना जगत्प्रवराः । जितरागदोष (द्वेष) मोहाश्च, नान्यथा वादिनस्तेन ॥
(२) बालस्य मातृमरणं भार्यामरणं यौवनारम्भे स्थविरस्य पुत्रमरणं त्रिण्यपि गुरुकानि दुःखानि ।

लात्वा गृहे समागत्य दुग्धं च गृहीत्वा पितरं भोजयित्वा स्वयं च भुक्त्वा पुनर्गाश्चारयित्वा संध्यायां गृहे समायाति, संध्यासत्कानि च कृत्यानि पुनः करोति, ततः खेदिता सती सा रात्रौ जनके सुप्ते सति स्वयं स्वपिति. एवं प्रत्यहं सा करोति, अन्यदा सा बाला निजजनकं भणति 'भो तात इदं गृहभारमहं क्षणमात्रं वोढुं समर्था नास्मि, अतिभारेण धौरेयोपि खिन्नो भवति, तस्माद्यूयमुत्तमकुलप्रसूतां कांचित्कन्यां परिणयत ? यथाहं सुखीभवामि, स्वेच्छया च रमामि,' एवं सुताया वचनं श्रुत्वा विप्रो हृष्टः सन्नुवाच, 'हे पुत्रिके त्वया साधूक्तं, इदं सप्तभूमेकमनेकगवाक्षैर्मंडितं गृहं रमणीं विना न शोभते. इत्युक्त्वा तेन काचिद्विप्रपुत्रिका परिणीता, परं सा महालस्ययुक्ता किञ्चिदपि गृहकार्यं न जानाति, तदा विद्युत्प्रभा स्वमनसि चिन्तयति धिग्धिग्मम पूर्वकर्माणि, एषापि नवपरिणीता मम माता पादोपरि पादं दत्त्वा रात्रौ दिवा तिष्ठति. पूर्वं ममैकं पितृसत्कमेव कार्यमभूत्, अधुना पुनर्मातृसत्कमपि समागतं. हा ! कीदृशे कष्टे पतितास्मि, मम कर्मदोषेण दिवसे भोजनसुखं नास्ति, रात्रौ च निद्रासुखमपि नास्ति, एतद्दुःखं मया किमादिनाने सहनीयं भविष्यति ?

एवं क्लेशेन सह दिनानि गमयति सती सा द्वादशवार्षिकी जाता. अथान्यदा सा बाला गवां चारणार्थं वनमध्ये गता, तत्र चैकतरुच्छायायां सुप्ता सती सुखेन निद्रां करोति गावश्च चरन्ति, इत एको महाकायः श्यामवर्णो रक्ताक्षश्चपलगतिः सर्पः शनैः शनैस्तस्याः समीपे समागत्य मनुष्यभाषया कथयामास, 'हे बाले मत्सकाशात्त्वं मा भैषीः, एकं मद्वचनं शृणु ? अस्मिन् वनखंडे मम चिरकालतो निवासोऽस्ति, पुण्यवशाच्चात्र सुखेन तिष्ठामि, परमद्य केनापि पापोदयेनात्रागता गारुडिका मम ग्रहणोपायं कुर्वन्ति, तद् ज्ञात्वात्यन्तभयभीतोऽहं नष्ट्वा तव शरणे समागतोऽस्मि, ते च पापकर्मरता मम पृष्ठलग्ना-

श्रेदत्र समायास्यन्ति, तदा मां गृहीत्वा करंडके क्षेप्स्यन्ति, तेन चाहं महाकष्टे पतिष्यामि, तस्मात्त्वं मां रक्ष रक्ष. तव च परोपकारेण महत्पुण्यं भविष्यति, पतनशटनशीलादस्माच्छरीरात्चेत्परोपकारो न क्रियते तर्हि लब्धजन्मनः किं सारं? काले यत्सूर्य उदयमधिगत्य पृथ्वीमण्डलं प्रकाशयति, चंद्रोऽपि यदुद्योतं करोति, मेघा जलधारां वर्षन्ति, समुद्रो निजमर्यादां न मुञ्चति, वृक्षाश्च फलंति, शेषनागः पृथ्वीमण्डलं शीर्षे धारयति, तत्सर्वमपि ते परोपकाराय कुर्वन्ति, यदुक्तं-

१ **विहलं जो अवलंबे। आवयपडिअं च जो समुद्धारे॥ सरणागयं च रक्खे। तेहिं तिहिं अलंकिया पुहवी॥१॥**

एवं ज्ञात्वा हे महाभागे! मां निजोत्संगे संस्थाप्य वस्त्रेण चाच्छाद्य संगोप्य रक्षय.'

अथेत्यहिवचनानि श्रुत्वा विद्युत्प्रभा मनसि चिंतयति, 'पूर्वभवे मया सुकृतं न कृतं, तेनाहं चात्र दुःखिता जाता, इदानीमपि चेत्पुण्यं न करिष्यामि तदा परभवे चाहं कथं सुखी भविष्यामीति' चिन्तयित्वा सा बालात्मानं निर्भयं विधाय तं सर्पं च निजोत्संगे संस्थाप्य सम्यग् संगोप्य स्थिता. इतस्ते गारुडिकास्तत्र समागत्य बालां भणंति, 'हे बाले इतस्त्वया कोऽपि फणी गच्छन् दृष्टो न वा?' तदा सा कथयति, 'भो पुरुषाः! अहं त्वत्र तरुच्छायायां मुखमाच्छाद्य सुप्तास्मि, ततो न कमपि जानामि.'

अथ विप्रसुताया तद्वचनं श्रुत्वा ते गारुडिकाः परस्परं ब्रुवंति, 'एषा बालिका तादृग्भयंकरसर्पदर्शनेनात्र कथं स्थातुं शक्नुयात्?' इत्युक्त्वा तत्र समंताद्विलोक्य तं सर्पमलब्धमानास्ते सर्वेऽपि गारुडिका गताः। अथ सा बाला तं सर्पप्रति जजल्प, 'हे भद्र! अथ त्वं शंकां त्यक्त्वा मदुत्संगाद्बहिर्निस्सर? तव शत्रवो गारुडिका निज-

१ विकलं य अवलम्बेत् आपतपतितं यो समुद्धरेत्। शरणागतं च रक्षेत् तै; तैरलंकृता पृथ्वी।

स्थाने जग्मुः,' इति पुनः पुनर्जल्पंती यावत्पः निजोत्संगं विलोकयति तावत्तया सर्पो न दृष्टः, ततो विस्मिता सती सा चिन्तयति 'किमिदमहं प्रत्यक्षेण पश्यामि वा स्वप्नं पश्यामि ? अथवा चित्तस्य कोऽपि सम भ्रम उत्पन्नः ?' इति यावत् सा चिन्तयति तावदश्रुतपूर्वं वचनं प्रकटितं, 'हे बाले तव सत्त्वादहं तुष्टोऽस्मि, परं वृणिष्वेति' वदन्नेको देवो हारार्द्धहारकुंडलमुकुटादिमंडितो दिव्यरूपधारी तया बालया दृष्टः, तं च दृष्ट्वा सा बाला मुग्धभावेन वदतिस्म, 'भो सुरोत्तम ! यदि त्वं तुष्टोऽसि तर्हि चरन्तीनां मद्धेनूनां मम च सूर्यातापोद्भूतां घर्मपीडां निवारय ?' इति श्रुत्वा सुरेण चिन्तितं नूनमेषा बाला मुग्धास्ति यत्कल्पतरुसमानान्मत्तो धत्तुरफलं वाञ्छति, परं भवत्वस्या एव मनोवाञ्छितं, इति विचिन्त्य देवेन तदुपरि शिघ्रं नंदनवनाभिरामं वनं निर्मितं. ततोऽसौ देवस्तां विप्रसुतां प्रत्युवाच 'हे सुते अथ यत्र त्वं व्रजिष्यसि तत्र तत्रासौ वनखण्डः सर्वर्तुकुसुमोपेतो मनोहरामृतरसादप्यधिकस्वादुफलालंकृततरुश्रेणिमंडितो गगनस्थो गमनागमनं करिष्यति. ततो यथा देवांगना नंदनवने क्रीडां कुर्वंति, तथा त्वमप्यत्र क्रीडां कुरु ? पुनर्हे पुत्रि ! कष्टसमये मां स्मरेति' कथयित्वा सुरः स्वस्थाने गतः. अथ हर्षितवदना सा विप्रपुत्री तद्वृक्षमनोहरफलानि भक्षयित्वा तृप्तिं प्राप्ता सती चिन्तयति, 'अहो ! स्तोकेनापि परोपकारेण यदीदृशं फलं जातं, तर्हि बहूपकारकरणेन यत्फलं जायते तस्य का वार्त्ता क्रियते ?' इति विस्मयं प्राप्तासौ संध्यायां धेनूर्गृहीत्वोपरिस्थितदिव्यारामयुक्ता निजगृहे समागता, तदा तस्यै मात्रोक्तं भो वत्से त्वं भोजनं कुरु ? तयोक्तं हे मातरद्य मे शरीरे पटुत्वं नास्ति, तेन च मम क्षुधा लशा नास्ति.

अथ रजन्याः पश्चिमयामे पुनरपि सा धेनूर्गृहीत्वा बहिर्गता. एवं सर्वदासौ तत्र दिव्यारामे क्रीडां करोति.

अथैकदा सा तत्र कल्पवृक्षच्छायायां सुप्तास्ति, इतस्तत्र पाटलीपुत्रनगरनिवासी जितशत्रुनामगजा सैन्यसहितः समागतः, नंदनवनसदृशं सच्छायं तद्वनं विलोक्य च तत्र तेन निवासः कृतः, राजा त्वेकत्र कल्पवृक्षच्छायायां सिंहासनं संस्थाप्योपविष्टः, तत्रस्थवृक्षपुष्पफलानि विलोकयति, गजा वृषभाश्च वृक्षेषु बद्धाः. रथाश्च वृक्षच्छायायां स्थिताः, सुभटा अपि शीतलतरुच्छायायां सुप्ताः.

अथ सा विप्रसुता सैन्यकोलाहलेन जागरिता सती निजधेनूस्तत्रादृष्ट्वा चिन्तयति, नूनं सैन्यकोलाहलेन मे गावो दूरं गता भविष्यन्ति, अतस्ता विलोक्य पश्चादानयामीति ध्यात्वा ततोऽग्रे गंतुं प्रवृत्ता, तदा तत्पृष्टे तद्वनमपि धावितं वृक्षबद्धकुंजराश्वोष्ट्रवृषभादयोऽपि धावितुं लग्नाः, तत्स्वरूपं दृष्ट्वा राजा विस्मयं प्राप्तश्चिन्तयति, अहो! अदृष्टाश्रुतपूर्वमेतदाश्चर्यं वर्त्तते, यद्गजाऽश्वोष्ट्रवृषभसहित आरामोऽयं धावति. ततोऽसौ यावत्सम्यग् विलोकयति तावत्तेन वनखण्डेन सह धावमाना सा कन्या दृष्टा, तद् दृष्ट्वा विस्मितो राजा मंत्रिणं कथयति भो मंत्रिन्! नूनमेषा बाला स्वधेनूनां बालनार्थं धावति, इति कथयित्वा मंत्री तस्या बालायाः समीपे गत्वा मधुरवाक्यैः कथयामास, 'भो बाले! त्वं पश्चाद्वलस्व, तव नष्टा धेनूर्वनादहमानयिष्यामि, यतस्त्वत्पृष्टे सर्वमपीदं वनं धावति, तेन चेमे राजादिसर्वलोका भयभीता जाताः सन्ति.' इति मंत्रिवचः श्रुत्वा सा बालाप्यनुकंपया पश्चाद्वलिता, पुनश्च तत्र समागता, वनमपि तत्रैव पुनः समागतं, मंत्रिप्रेषितपुरुषैर्गावः समानीताः, सैन्यमपि सर्वं स्वस्वस्थाने स्थिरीभूतं.

अथ मंत्री नृपं प्रति वक्ति 'हे स्वामिन्! युष्माभिर्यदिदमाश्चर्यं दृष्टं तत्सर्वमस्या बालाया एव माहात्म्यं ज्ञेयं'। अथ

तस्या बालाया रूपलावण्यतनुसुंदराकारादि पश्यन् विस्मितो राजा चिन्तयति, 'किमेषा स्वर्गात्पातालादागता वा? काऽपि देवकन्या वर्त्तते ? यद्यसौ मम पत्नी भवेत्तदा भव्यं.'

अथ मंत्र्यपि राज्ञो भावं ज्ञात्वा बालां प्रत्यब्रवीत्, 'हे भद्रे! असौ जितशत्रुराजास्ति, अत एनं स्वपतिं कृत्वा निजमनुष्यभवं सफलं कुरु ?' तत् श्रुत्वा सा कन्या लज्जयाधोमुखं विधायोवाच 'भो मंत्रिन् ! भवद्भिर्युक्तमुक्तं, परं कुलांगनानां स्वेच्छयैवैतत्कार्यं कर्त्तुं न युज्यते. अस्मिन् ग्रामेऽग्निशर्माभिधो विप्रो मम जनकोऽस्ति, तस्य युष्माभिः पृष्टव्यं.' अथ राजादेशेन मंत्री तत्र गत्वा राज्ञो निमित्तं विप्रं प्रति पुत्रीं याचते. तदा विप्रोऽपि मंत्रिवचनं श्रुत्वा वदति, 'भो मंत्रिन् ! मम प्राणा अपि स्वामिनः संति, तर्हि कन्यायाः का वार्त्ता ?' ततो मंत्री विप्रयुतस्तत्र वनखंडे समागतः, विप्रोऽपि नृपं प्रत्याशीर्वादं दत्वा तदत्तासने उपविष्टः, अथ मंत्रिणा विप्रोक्तं सर्वं राज्ञे निवेदितं, राजापि कालविलंबमसहमानो गांधर्वविवाहेन तां बालां परिणीतवान्.

अथ तस्या उपरि तन्नंदनवनोपमं वनं दृष्ट्वा हृष्टेन राज्ञा तस्या **आरामशोभेति** नाम दत्तं विप्रायाऽपि राज्ञा तस्य दारिद्र्यदुःखनिवारणाय द्वादश ग्रामा दत्ताः.

अथ राजा तां विप्रपुत्रीं गजारूढां विधाय यावत्स्वपुरं प्रति चलितस्तावत्तद्वनखण्डमपि तदुपरि च्छत्राकारं भूत्वा गगनस्थं चचाल. क्रमेण राजा निजनगरसमीपं प्राप्तवान्. पूर्वगतेन मंत्रिणा सर्वसामग्रीं प्रगुणीकृत्य सर्वमपि नगरं शृंगारितं, ततो राज्ञापि महताडंबरेण नगरमध्ये प्रवेशः कृतः, तद्विलोकनार्थं स्थाने स्थाने मिलिता लोकाः परस्परं ब्रुवन्ति नूनमेष नरेन्द्रो

धन्यः, अनेन पूर्वजन्मनि महत्सुकृतं कृतं. यदीदृशी रूपवती महिमोपेता भार्या लब्धा.' आकाशे च नंदनवनसदृग्वनं दृष्ट्वा-तीवविस्मयं प्राप्ताः संतः कथयामासुर्नूनमेवंविधा दिव्यर्द्धिः प्राच्यपुण्यैर्विना न लभ्यते, इति विविधलोकवार्त्तालापान् शृण्वन् राजा कलत्रयुतो निजमंदिरे संप्राप्तः, दिव्यप्रभावाच्च तद्वनखंडमपि मंदिरोपरि स्थितं, एवं पुण्यवशेन संसारे प्राणिनां किं किं न भवति ? अथ तया समं विषयसुखानि भुञ्जानो राजा कियंतं कालं गमयामास।

अथ तस्याग्निशर्माविप्रस्याग्निशिखाभिधनवपरिणीतया भार्ययैका पुत्री जनिता, क्रमेण च यौवनं प्राप्तां तां विलोक्य सा दुष्टाग्निशिखा चिन्तयति यद्यारामशोभा म्रियते, तथा मम सुतामारामशोभाया भगिनीत्वेन तत्त्वेन तत्सदृग्गुणान्वितां विज्ञाय राजा परिणेष्यति. अपरं चास्याः सपत्नीसुताया मारणेन पातकमपि न स्यात्, अतः केनाप्युपायेनैनां मारयामीति ध्यात्वा सा निजस्वामिनं भणति, 'भो स्वामिन् ! एकं मम वचनं शृणु. अस्माभिरारामशोभाया निमित्तं कदापि मोदकाः किं प्रेषिता न सन्ति ?' विप्रो वदति 'हे भद्रे! तस्या गृहे न कापि न्यूनता वर्त्तते, एषा पुण्यवशात्सर्वसुखानि भुंक्ते,' तत् श्रुत्वा दुष्टात्मा भट्टप्रियाऽवादीत्, 'हे स्वामिन् ! युष्माभिरेतदयुक्तमुक्तं, मातृपितृसत्कं वस्तु धनाढ्यापि पुत्री वाञ्छति,' एवं तस्या अत्याग्रहं दृष्ट्वा विप्रेण तस्यै प्रोक्तं, यद्येवं तर्हि कुरु त्वं मोदकान्. ततस्तया दुष्टया बहुद्रव्यव्ययेन विषमिश्रिताः सिंह-केसरिमोदकाः कृता. तांश्चैकस्मिन् घटे प्रक्षिप्योपरि मुद्रां दत्वा तं घटं च विप्राय समर्प्य कथयामास, 'हे स्वामिन्नेष घट-स्त्वया स्वसुतां विनाऽन्यस्य कस्यापि न देयः, तथा तस्यै त्वयैवं वक्तव्यं यदिमे मोदकास्त्वयैव भक्षणीयाः, अन्यस्य कस्यापि न देयाः, यत एते मोदका अतीवसुंदरा न सन्ति, ततो यदि चेत्कस्यापि दास्यसि तदा राज्यकुले मम हास्यं भविष्यति

यद्ग्रामवासिस्त्रीणां चातुर्यं नास्तीति' प्रेरितो विप्रस्तस्या दुष्टभावमजानन् सरलाशयो घटं गृहीत्वा पाटलीपुत्रं प्रति चचाल. क्रमेण नगरासन्नप्रदेशं प्राप्य श्रान्तः सन् वटवृक्षस्याधो घटं मस्तके संस्थाप्य सुप्तः, निद्रा च तस्य समागता.

इतो वटवास्येको यक्षश्चिन्तयति अहोऽयं विप्रः किमर्थं नगरे प्रयाति ? ज्ञानोपयोगेन सर्वं वृत्तान्तं विज्ञाय चिन्तयति, अरे ! अस्य विप्रस्य दुष्टया भार्यया विषमिश्रितमोदकान् कृत्वारामशोभाया मारणार्थमयं प्रेषितोऽस्ति, मयि समर्थे सत्यपि अस्याः को मरणदुःखं दातुं समर्थोऽस्ति ? अनया तु पूर्वभवे पुण्यान्यर्जितानि सन्तीति ध्यात्वा कुंभाद्विषमिश्रितमोदकानपहृत्य, तत्स्थानेऽमृतसदृशा महास्वादुदिव्यमोदकाः क्षिप्ताः.

इतो जागरितो विप्रस्तं कुंभं गृहीत्वा राजद्वारे समागतः, तदा प्रतिहारेण गत्वे विज्ञप्तं 'हे स्वामिन् ! आरामशोभायाःजनको द्वारे समागतोऽस्ति, चेद्भवतामादेशस्तर्हि स भवद्दर्शनायात्र समागच्छेत्.' तत् श्रुत्वा राज्ञोक्तं 'शीघ्रमेव तं समानय.' अथ विप्रस्तत्रागत्य राज्ञे आशीर्वादं दत्वा तदग्रे घटं मुमोच. राज्ञा पृष्टं 'भो भट्ट ! वर्त्तते कुशलं ?' विप्रेणोक्तं 'हे राजन् ! भवतां प्रसादात्', पुनः राज्ञा पृष्टं 'भो ब्राह्मण ! अस्मिन् कुंभे किमस्ति ?' विप्र उवाच 'स्वामिन् ! पुत्रीनिमित्तं मात्रा मोहवशान्मोदकाः प्रेषिताः संति,' संतुष्टेन राज्ञा स घट आरामशोभायै प्रेषितः. विप्रश्च वस्त्राभरणादिभिः सत्कृतः.

ततो राजारामशोभाया गृहे गत्वा राज्ञीदत्तासने उपविष्टः, राज्ञ्युवाच 'हे स्वामिन् ! यद्याज्ञा स्यात्तदाहममुं घटमुद्घाटयामि,' राज्ञोक्तं 'शिघ्रमुद्घाटय.' ततो यावद्राज्ञी घटमुद्घाटयति तावन्महासुगंधस्तत उच्छलितः, सर्वमप्यावासगृहं सुवासनया वासितं, एवंविधान् दिव्यमोदकान् दृष्ट्वा राजा दध्यौ, अहो एते मोदका नूनममृतरसनिर्मिता देवसान्निध्या जाताः

संति, ततो राज्ञा तस्यै कथितं 'हे देवि ! एभ्य एकैकं मोदकं सर्वासां निजसपत्नीनां त्वं देहि ?' तत् श्रुत्वा तयैकैको मोदकः स्वहस्तेन निजसपत्नीनां दत्तः, तान् भुक्त्वा ताः सपत्न्यश्चिन्तयन्ति 'अहो मनुष्यलोके एवंविधा मोदका दुर्लभा वर्त्तन्ते ! आरामशोभाया जनन्या कीदृग्विज्ञानं वर्त्तते ? ययैतेऽमृतरसतुल्या मोदका निष्पादिताः सन्ति.'

अथाग्निशर्मा विप्रो राजानं वक्ति 'भो स्वामिन् ! कतिचिद्दिनानि मे पुत्रीं मम गृहे प्रेषय. यथैषा निजमातुर्दर्शनं करोति. तत् श्रुत्वा हसित्वा राजोवाच 'हे भद्र ! त्वं सरलस्वभावो वर्त्तसे, नृपभार्यास्तु सूर्यमपि न पश्यंति, तर्हि तत्र प्रेषणे का वार्ता ? अथ राज्ञा विसृष्टो विप्रो गृहे समागत्य सर्वमपि वृत्तान्तं ब्राह्मण्यै कथितवान्. तत् श्रुत्वा सा दुष्टा चिन्तयति 'धिग्धिग् मम कार्यं न सिद्धं, नूनं स्तोकतरक्षेपणेन तद्विषमध्ये कापि शक्तिर्न प्रादुर्बभूव, अतोऽधुना कंचित्प्रचुरमुग्रं विषं क्षिप्त्वा मोदकांश्च कृत्वा पुनः प्रेषयामीति' ध्यात्वा प्रचुरविषमिश्रितमोदकान् घटे प्रक्षिप्य विप्राय ददौ, विप्रोऽपि पुनर्घटं लात्वाऽनुक्रमेण गच्छन् तद्वटाधः समागत्य सुप्तः, यक्षेण च पुनरपि तान् विषमोदकान् दूरीकृत्य तत्र दिव्यमोदकाः क्षिप्ताः. अथ विप्रो राजकुले गत्वा राज्ञे तं घटं दत्तवान्. एवं पुनरपि राजकुले विप्रस्य कीर्त्तिर्विस्तृता, विप्रेणापि स्वगृहे समागत्य तत्सर्वं निजभार्यायै निवेदितं. तत् श्रुत्वा दुष्टा विप्रपत्नी दध्यौ 'अरे ! किमिदं जातं ? सा कथं न म्रियते ? अधुना तु तालपुटं विषं प्रक्षिप्य मोदकान् प्रेषयामीति' ध्यात्वा तालपुटविषमिश्रितमोदकान् घटे प्रक्षिप्य विप्राय दत्वा सा कथयामास 'अधुना तु त्वया निश्चितं पुत्री अत्रानीतव्या, यदि राजा तां न प्रेषयति तदा त्वयात्मीयं ब्रह्मतेजो राज्ञे दर्शनीयं.' इति स्त्रीदत्तां शिक्षां श्रुत्वा घटं लात्वा पुनरपि विप्रश्चलितः. तथा तस्यैव वटस्याधः

सुप्तः. यक्षेणापि तान् विषमिश्रितमोदकान् दूरीकृत्य नवीना दिव्यमोदकास्तत्र क्षिप्ताः, विप्रेणापि गत्वा घटो राज्ञे दत्तः, पुनरपि राजकुले तस्य तथैव यशोवादो जातः.

अथ विप्रो भूपालं वदति हे राजन्! मम सुतां प्रेषय? यत्प्रथमप्रसूतिं पुत्री पितुर्गृहे करोति, राजावादीद् 'भो विप्र! एतन्न भूतं यन्नरपतीनां भार्या पितृगृहे प्रसवतीति.' तत् श्रुत्वा विप्र उदरोपरि क्षुरिकां धृत्वा नृपं भणति, 'यदि मम पुत्रीं न प्रेषयिष्यसि तर्हि तवाहं ब्रह्महत्यां दास्यामि.' अथैतद्विज्ञाय मंत्रिणा राजा भणितः, 'हे स्वामिन्नूनमेष विप्रो ग्रहिलोऽस्ति, सत्यं ब्रह्महत्यां दास्यति. तस्माद्राज्ञीं प्रेष्यतां?' इति मंत्रिवचः श्रुत्वा महतीं सामग्रीं विधाय राज्ञा पत्नी प्रेषिता.

अथ तया ब्राह्मण्या पूर्वमेव गृहपश्चाद्भागे कूप एकः खानित आसीत्. आरामशोभापि वनखंडयुता पितृगृहे समागत्य सुखेन तिष्ठति. अथान्यदा तत्र स्थिता सा त्रिदशोपमं पुत्रं जनयामास, कतिचिद्दिवसानंतरं सा कार्यचिन्तार्थं गृहपश्चाद्भागे गता, तदा प्रेष्यवर्गोऽपि सर्वः कुत्रचिद्विविधकार्यार्थं गतोऽभूत्. अथ सा मात्रा सहिता कूपपार्श्वे समागत्य कूपं दृष्ट्वाऽकथयत्, 'भो मातरत्र कूपः किमर्थं खानितः?' तदा सा दुष्टा विप्रपत्नी वदति 'हे पुत्रि! दूराद्यदि पय आनीयते तर्हि तत्र कोऽपि विषप्रयोगः स्यात्, यतोऽत्र ग्रामे तव बहवो द्वेषिणो वर्त्तन्ते, तस्मात्तवार्थं मयायं कूपः खानितोऽस्ति. अथ सा सरलस्वभावारामशोभा यावत्तं कूपं द्रष्टुं लग्ना, तावत्तया दुष्टया शिघ्रमेव सा कूपे क्षिप्ता, कूपमध्ये पतंत्या तयापि तृणं यक्षः स्मारितः, यक्षेणापि चपलमेव तत्रागत्य कूपे पतन्त्येव सा हस्ते धृता, ततोऽसौ यक्षस्तस्या

विमातुरुपरि कुपितः सन् कथयामास, यदेतस्या दुष्टायाः पापफलं दर्शयामि, परमारामशोभया तत्पादयोर्लगित्वा स उपशामितः, ततस्तेन नागकुमारेण तत्र पातालगृहं कृत्वा तत्रैवारामशोभा स्थापिता, इतोऽसौ वनखंडोऽपि तत्र समागतः, सापि तत्रैव सुखेन तिष्ठति.

अथ सा दुष्टा विप्रभार्या निजपुत्रीं प्रसूतवतीवेषान्वितां विधाय पल्ल्यंके स्थापयामास.

इतस्तत्र दासीवर्गोऽपि सर्वः समागतः, गतलावण्यां विवर्णीं विषमतनुनयनां कुरूपां च तां दृष्ट्वा स दासीवर्गस्तां प्रति वदति, 'हे स्वामिनि ! तव शरीरवर्णादिशोभा सर्वापि कथंगता दृश्यते ?' एकमुक्ता सती सा कृत्रिमारामशोभोवाच 'हे महाभागा नाहं जानामि, मम शरीरे कापि व्याधिरुत्पन्ना दृश्यते, तेन मे सर्वं रूपादि विनष्टं.' तत् श्रुत्वा दासीभिरेषा वार्ता तस्या जनन्या अग्रे कथिता, तदा सापि मायाविनी निजहृदयं ताडयंती विलापान् कुर्वन्ती पुत्रीपार्श्वे समागता, पुत्रीं दृष्ट्वा चैवं वदति, 'हे वत्से ! हे पुत्रि ! तवेदृश्यवस्था कथं जाता ? किं कस्यापि दृष्टिर्लग्ना ? वा कोऽपि वातरोगो जातः ? वा तव कोऽपि प्रसूतिरोगः समुत्पन्नः ? मया ये तवोपरि मनोरथाश्चिन्तितास्ते सर्वेऽपि निष्फला जाताः' ततस्तया मायाविन्या बहव उपायाः कृताः उत्तारणादिकानि कृतानि, परं सा तु तादृश्येव दृश्यते.

अथ राज्ञ्या आनयनार्थं मंत्री समागतः, तदा सा कृत्रिमारामशोभा परिवारेण सहिता तेन सार्द्धं पाटलीपुत्रं प्रति चलिता, मार्गे चेटीभिरुक्तं 'हे स्वामिनि ! आरामस्त्वया सह कथं नंति ?' सावदत्स जलपानार्थं कूपे प्रविष्टोऽस्ति, पश्चादेष्यति.

अथ क्रमेण सा कृत्रिमारामशोभा नगरसमीपे यावत्प्राप्ता तावज्जितशत्रुराज्ञा प्रवेशमहोत्सवपूर्वकं नगरमध्ये समानीता.

अथ राजा सुतं देवकुमारसदृशं दृष्ट्वा हृष्टो राज्ञीं च तथारूपां दृष्ट्वा विषादं प्राप्तः सन् राज्ञीं पृच्छति, 'हे देवि ! तव शरीरे किं जातं ?' 'सावदन् स्वामिन्? मे शरीरे कोऽपि रोग उत्पन्नोऽस्ति, तेन चेदृशी मे शरीरावस्था जाता दृश्यते,' तदा राजा विषण्णचित्तः सन् पुनः पृच्छति 'हे देवि ! तन्नंदनवनं कथं न दृश्यते ?' तदा सा कृत्रिमारामशोभाऽवदत् 'स्वामिन् पानीयं पिबन् स आरामो मया पश्चान्मुक्तोऽस्ति, अतः स्वयमेव स आगमिष्यति.' तदा राजा चिन्तयति 'किमेषारामशोभैव वा काचिदन्यास्ति ?' एवं तस्य विषये नरेन्द्रस्य मनः शङ्कितं जातं, पुनरपि राज्ञा तस्यै कथितं 'प्रिये, तद्वनखंडं समानय ?' तयोक्तं 'प्रस्तावे आनयिष्यामि.' तदा राजा चिन्तयति 'ध्रुवमेषारामशोभा नास्ति,' अन्या काचिद्वर्त्तते.

अथ पातालगृहे स्थितारामशोभा यक्षंप्रति भणति 'हे तात ! पुत्रविरहोऽतीव मां बाधते, ततस्तथा कुरु यथाहं पुत्रमुखं पश्यामि.' यक्ष उवाच 'हे पुत्रि ! मम शक्त्या त्वं पुत्रं पश्यसि, परं त्वया सूर्योदयादर्वागत्र पश्चादागन्तव्यं, यदि नायास्यसि तदाहं तव दर्शनं न दास्यामि, यदा च तव वेणीदंडान्मृतदर्वीकरः पतिष्यति तदा मम दर्शनं पुनर्न भविष्यतीति' त्वया ज्ञेयं. अथारामशोभयैतत्प्रतिपन्नं. अथ सा देवप्रभावद्यत्र राजभुवने निजपुत्रः सुप्तोऽस्ति तत्राजगाम. मृदुकराभ्यां तं गृहीत्वांके च संस्थाप्य क्रीडां कारयित्वा पुनः शय्यायां संस्थाप्य तत्र चतुर्दिक्षु निजारामफलपुष्पाणि मुक्त्वा नृपभार्या पातालगृहे समागता. प्रभाते चैतत्स्वरूपं दृष्ट्वा धात्री राज्ञे निवेदयामास, राज्ञा पृष्टा कृत्रिमारामशोभा वदति, 'हे स्वामिन् ? मया वनखंडात्पुष्प-फलान्यानीतानि संति,' राज्ञोक्तं 'यद्येवं तर्हि सांप्रतं तत्पुष्पफलान्यानय ?' तयोक्तं 'स्वामिन् ! रजन्यामानयिष्यामीति' श्रुत्वा राजा चिन्तयति 'कल्ये नूनमेतन्निश्चयं करिष्यामि,' द्वितीयदिनेऽपि तथैव राजा शिशुपार्श्वे पुष्पफलानि पश्यति. अथ तृती-

यदिने राजा पाणौ करवालं धृत्वा दीपच्छायायां स्थितः इतस्तत्रागताया आरामशोभायास्तच्चेष्टितं दृष्ट्वा स मनसि चिन्तयामास निश्चितमेषा मम भार्यारामशोभैव वर्त्तते.

अथ प्रभाते मनसि कुपितो राजा कृत्रिमारामशोभांमप्रत्युवाच, 'हे भद्रे! त्वं तद्वनं समानय. अन्यथा मम तव प्रयोजनं नास्ति.' तत् श्रुत्वा कृत्रिमारामशोभा चिन्तयति, 'अरे निष्पुण्याहमधुना किमुत्तरं ददामि ? कि च करोमि ?' अथ रजन्यामारामशोभा पुनस्तत्रागता, निजकार्यं कृत्वा च यावत्पश्चाद्वलिता तावद्राजा तां करे गृहीत्वाऽकथयत्, 'हे देवि ! त्वं मुधा मां कि विप्रतारयसि ?' तदा राज्ञ्युवाच 'हे प्रभो नाहं विप्रतारयामि, किन्त्वत्र कारणमस्ति,' राज्ञोक्तं 'हे प्रिये ! तत्कारणं मे कथय ?' राज्ञ्योक्तं 'हे नाथ ! कल्ये कथयिष्यामि, सांप्रतं मां विसर्जय ?' राज्ञोक्तं 'हे भद्रे ! अथ हस्तागतं चिन्तामणिरत्नं को विमुञ्चति ? ततस्त्वं कारणं कथय ?' तयोक्तं 'स्वामिन् ! कारणे कथिते भवतां पश्चात्तापो भविष्यति,' परं राज्ञा यदा कदाग्रहो न मुक्तस्तदा तया मूलादारभ्य सर्वोऽपि निजवृत्तान्तस्तस्मै निवेदितः इतः सूर्योदयो जातः, ततश्च तद्वेणीदण्डान्मृतकभुजगः पतितः, तद् दृष्टवारामशोभा विलापान् कर्त्तुं लग्ना, 'हा पितर्निर्भाग्याहं कथं त्वया त्यक्ता ?' इति विलापान् कुर्वन्ती सा मूर्छामासाद्य भूमौ पतिता, पानीयसेचनशीतलवातव्यजनानंतरं जातचेतनां तां नृपो वदति 'हे देवि त्वं किमर्थं दुःखं करोषि ? भवितव्यं भवत्येवेत्यादिमिष्टवचनैर्नृपेण सा संतोषिता, अथ क्रोधान्धो राजा तां कृत्रिमारामशोभां बध्वा कशाप्रहारैस्ताडयामास, तदारामशोभया नृपपादयोर्लगित्वा सा मोचिता, राज्ञा च सा गृहान्निष्कासिता. अथ राज्ञा निजसुभटानामादेशो दत्तो 'यद्विप्रपार्श्वात्तान् द्वादश ग्रामान् गृहीत्वा सर्वं धनमपि लात्वा तं

विप्रं ब्राह्मणीसहितं मम देशान्निष्कासयध्वं ?' सुभटैरपि तथैव कृतं.

अथ तयोरतिस्नेहेन विषयसुखं भुंजानयोः सुखेन कियान् कालो गतः. अन्यदा नृपपार्श्वे स्थितागमशोभेति वदति 'स्वामिन्नहं पूर्वं दुःखिता कथं संजाता ? अधुना च कथं सुखिनी जाता ? अतोऽत्र पुण्ययोगेन चेत्कोऽपि ज्ञान्येति तदा तत्पृच्छामि.'

अथान्यदोद्यानपालः प्रगे प्रमुदितः समागत्य नरनाथं विज्ञपयति 'हे स्वामिन्नंदनवनोद्याने श्रुतज्ञानी पंचशतसाधुयुतो नरविद्याधरैः पूजितः श्रीवीरभद्रसूरिः समवसृतोऽस्ति'. तत् श्रुत्वा हृष्टो राजा तं प्रीतिदानं दत्वा विसर्जयामास. ततो राजा राज्ञीयुतो वने गत्वा सूरिं त्रिःप्रदाक्षिणीकृत्य वन्दनपूर्वकं यथास्थानमुपविष्टः, सूरिरपि धर्मोपदेशं कथयामास—

१ धम्मेण सुहसंपया सुभगया नीरोगया आइया। वित्तं देहरमाउअं इह भवे जम्मो सुरम्मे कुले ॥
२ दिव्वं रूवमणुव्वजुव्वणभरो सत्ति सरीरे जणे। कित्तो होइ सुधम्मओ परभवे सग्गापवग्गा सिरो ॥१॥

इति धर्मदेशनान्ते आरामशोभा पृच्छति 'हे भगवन्! मया कीदृग कर्म कृतं ? ममोपरि चारामच्छत्राकारेण भूत्वा कथं स्थितः ?' सूरिरुवाच हे भद्रे! श्रुयतां ?

अस्मिन् भरतक्षेत्रे चंपानामपुरी विद्यते, तस्यां वैश्रमणसदृशो धनाढ्यः कुलधराभिधश्रेष्ठी बभूव, तस्य च कुलानंदाभिधा

१ धर्मेण सुखसंपदा सुभगता नीरोगता आदेयता वित्तं देहमायुष्यं इह भवे जन्म सुरम्ये कुले।
२ दिव्यं रूपमनुपमयौवनभरो शक्ति शरीरे जने कीर्तिर्भवति सुधर्मतो परभवे स्वर्गापवर्गा श्रियः।

जायाभूत्, तया च रूपलावण्ययुताः सप्त पुत्र्यो जनिताः, तासां नामानि यथा—कमलश्रीः १ कमलवती २ कमला ३ लक्ष्मीः ४ सरस्वती ५ जयमती ६ प्रियकारिणी ७ च. एताः सप्तापीभ्यपुत्रैः सह परिणायिताः सत्यः सुखानि भुञ्जन्ते. ततः परं तस्याष्टम्यप्येका पुण्यरहिता मातापित्रोश्चानिष्टा पुत्री जाता, तस्या जन्मतो मातापितरावतीवदुःखितौ जातौ, तेन च तस्या नामापि न दत्तं, क्रमेण वर्धमाना यौवनं प्राप्ता, परं श्रेष्ठी तस्या उद्वाहं न करोति, तदा स्वजनैस्तं कथितं, 'भो श्रेष्ठिन् कन्या वृद्धा जाता, तथापि तस्या उद्वाहं कथं न करोषि? अपरिणीता कन्या कुले मालिन्यं करोति.' तेनोक्तं तद्योग्यवरमीलने तदुद्वाहं करिष्यामीत्युक्त्वा स तस्या अर्थे वरं विलोकयति.

अथैकदा हट्टोपविष्टस्य श्रेष्ठिनः पार्श्वे कश्चिदेको महामलीनवस्त्रावृतशरीरो विकीर्णकेशो यूकाकुलवस्त्रकेशपाशः पथि श्रान्तो विदेशिवणिक्पुत्रः समागतः. श्रेष्ठिना पृष्टं 'भो पुरुष! त्वं कोऽसि? कुतश्च समागतः? कस्मिन् पुरे तव वासोऽस्ति?' तदा स वदति 'हे श्रेष्ठिन्! नंदिवणिक्पुत्रोऽहं, कोशलापुरवास्तव्यः, सोमानामजननीकुक्षिसमुद्भवो नंदननामा धनहीनो धनार्थी सन् चौडदेशे गतः, तत्रापि दारिद्र्यं मम पृष्ठे लग्नं. अथैको वसंतदेवाख्य एतन्नगरनिवासी वणिक् तत्र चौडदेशे व्यापारं करोति, तस्याहं तत्र सेवां करोमि, तेन च प्रेषितोऽहं तल्लेखं गृहीत्वा तस्य गृहेऽत्र समागतोऽस्मि, अतस्तस्य श्रेष्ठिनो गृहं मे दर्शय?' यथा तल्लेखं यच्छामि. तदाकर्ण्य कुलवरः श्रेष्ठी चिन्तयति 'नूनमेष मम पुत्र्या एव योग्यो वरोऽस्ति, अतोऽनेन सार्द्धं तस्याः पाणिग्रहणं विधायास्यैव सार्थे तां मुंचामि, यथा सा पश्चादपि नागच्छेत्,' इति ध्यात्वा श्रेष्ठिनोक्तं 'भो वणिक्पुत्र! तत्र लेखं दत्त्वा त्वया शीघ्रं मम गृहे आगन्तव्यमि' त्युक्त्वा तेनात्मीयपुरुषं प्रेष्य तस्य वसन्तदेवस्य गृहं

दर्शितं. सोऽपि तत्र लेखं दत्वा तूर्णं कुलधरगृहे समागतः, श्रेष्ठ्यपि तं स्नानपूर्वकं वस्त्रादि परिधाप्य भोजनं च कारयित्वा कथयामास भो नंदनवणिक् ? त्वमेतां मम पुत्रीं परिणय ? तेनोक्तमहं त्वद्यैव चौडदेशे गमिष्यामि, श्रेष्ठिनोक्तं त्वं मे पुत्री परिणीय गृहीत्वा च सुखेनाद्यैव चौडदेशे याहि ? तव जीविकानिमित्तं चाहं तत्रैव धनं प्रेषयिष्यामि ' सोऽपि श्रेष्ठिवचनमंगीकृत्य तां परिणीतवान् अथ स वणिक्पुत्रः श्रेष्ठिनमापृच्छ्य स्तोकतरसंबलयुतः कलत्रसहितश्चौडदेशंप्रति चचाल. क्रमेण चलन् सोऽवन्तीदेशासन्नं समागतः, तत्र च रात्रौ देवकुले सुप्तः सन् स चिन्तयति, भार्यया सह लघुप्रयाणैर्गच्छतो मे सम्बलं सर्वं संपूर्णं भविष्यति, ततः परं च मे भिक्षामार्गणावसर आगमिष्यति, अत एनामत्र सुखसुप्तामेव मुक्त्वा स्वदेशे गच्छामीति ध्यात्वा स सर्वं शेषसंबलं गृहीत्वा तां सुप्तां मुक्त्वा ततो निर्ययौ. अथ सूर्योदये जागरिता सा पतिं संबलं चाऽनिरीक्ष्य चिन्तयामास 'नूनं मम पतिर्मां मुक्त्वा गतः, अथाहं यदि पितुर्गृहे गच्छामि तदापि ममादरो न भविष्यति, ततो भर्तृरहिताहमधुना किं करोमि ? क्व गच्छामि ? कस्य शरणं करोमीत्यादिविविधविलापान् कृत्वा सा साहसमालंब्य निजशीलरक्षार्थं विशालायां नगर्यां प्रविश्य पुरमध्ये भ्रमाते, परं कोऽपि तां न पृच्छति—

**तिण देसडे न जाइयें। जिहां अप्पणो न कोइ ॥ सेरी सेरी हीण्डतां। वात न पूछे कोइ ॥ १ ॥**

अथ तत्र नगरे माणिभद्रनामैकः श्रेष्ठी निजापणे उपविष्टोऽस्ति, सा तदापणासन्नमागत्य तं चोत्तमनरं विज्ञाय तत्पादयोर्लगित्वा करौ संयोज्याब्रवीत्, हे तात ! दीनाहमनाथास्मि, मम शरणं च त्वमेवासि. श्रेष्ठ्यवक् हे बाले कासि त्वं ? तयोक्तं हे स्वामिन् चंपानगर्यां कुलधरनामा श्रेष्ठी वसति, तस्याहं पुत्र्यस्मि, निजपतिना सह चौडदेशे गच्छन्ती सार्थात्परि-

भ्रष्टा तव शरणे समागताऽस्मि, इति तद्वचनैरंजितोऽसौ श्रेष्ठी भणति हे पुत्री ! मम गृहे त्वं सुखेन तिष्ठ ? अथ सा-बाला तच्छ्रेष्ठिगृहकार्याणि कुर्वन्ती तत्र सुखेन स्थिता । श्रेष्ठिना च निजपुरुषान् प्रेष्य तस्सार्थस्य गवेषणा कारिता । परं कुत्रापि सार्थस्य वार्ता न श्रुता ।

अथ तेन श्रेष्ठिना कुलधरश्रेष्ठिपार्श्वे निजभृत्यः प्रेषितः, तेन च तत्र गत्वा तस्मै पृष्टं ' हे श्रेष्ठिन् ! तव कति पुत्र्यः सपरिणीताः कति च कुमार्यः सन्ति ? तत्स्वरूपं कथय'. अथ कुलधरेणोक्तं 'ममाष्टौ पुत्र्यः सन्ति, तासु सप्त त्वस्मिन्नेव चंपानगरे परिणायिताः संति, एका च मे पुत्री वणिक्पुत्रेण सह परिणायिता तत्पतिना सह चौडदेशे गतास्ति', इति श्रुत्वा तेन भृत्येन पश्चादागत्य तत्सर्वं माणिभद्राय निवेदितं.

अथ तां कुलधरसुतां विज्ञाय माणिभद्रस्तस्या बह्वादरं करोति, तस्याश्च विनयेन सर्वमपि तत्कुटुम्बं रञ्जितं, एवं तस्या-स्तत्र सुखेन दिनानि यान्तिस्म.

अथ तत्र माणिभद्रश्रेष्ठिनैकमुच्चैस्तरतोरणध्वजालंकृतं जिनभवनं कारितं वर्त्तते, तत्र सा कुलधरपुत्री प्रत्यहं जिनपूजां करोति, साध्वीसंगमाच्च सा क्रमेण जीवाजीवादिनवतत्त्वविज्ञा सुलसासदृशी शुद्धश्राविका जाता वहुधनमिलनात्तया जिन-बिम्बशीर्षोपरि स्वर्णरत्नखचितं छत्रत्रयं कारितं, विविधतपांसि च कृत्वा सुभावेन तदुद्यापनानि विहितानि, चतुर्विधसंघस्य वात्सल्यं च कृतं.

अथान्यदा सा माणिभद्रश्रेष्ठिनं चिन्तातुरं दृष्ट्वा प्रोवाच ' हे तात ! अद्य तव का चिन्ता वर्त्तते ?' तेनोक्तं 'हे वत्से राज्ञा पूर्वं देवपूजनकृते ममैकः पुष्पफलाढ्यतरुघनघटालंकृतो वनखंडो दत्त आसीत्, तस्माच्च पुष्पादि समानीय प्रत्यहमहं देव-

पूजां करोमि. स चारामोऽद्य सहसाऽशुष्यत्, तस्य नवपल्लवकरणार्थं मया विविधोपायाः कृताः, परं स नवपल्लवो न जातः.

अथ न जानामि राजा मम किं करिष्यतीति मे मानसं चिन्तातुरं वर्त्तते.' तत् श्रुत्वा तयोक्तं 'हे तात! त्वं खेदं मा कुरु अथ मम शीलप्रभावाद्यावदसौ वनखंडो नवीनो न भविष्यति तावन्मया चतुर्विधोऽप्याहारोद्यतस्त्यक्तोऽस्ति.' तत् श्रुत्वा श्रेष्ठिनोक्तं 'हे वत्से त्वमेवंविधामुग्रां प्रतिज्ञां मा कुरु?' सावदत् 'हे तात! मया या प्रतिज्ञा कृता सान्यथा नैव भवेत्.' इत्युक्त्वा सा जिनमन्दिरे गत्वार्हन्तं नमस्कृत्यैकाग्रमानसा कायोत्सर्गे स्थिता, तृतीयदिने रजन्यां शासनदेवी प्रकटीभूय तां प्रत्युवाच, 'हे वत्से! मिथ्यादृष्टिदेवेनैषा वाटिका विनाशितास्ति, अथ स देवस्तव शीलप्रभावात्पलायितोऽस्ति, अतः प्रभाते वनखण्डोऽसौ तथैव नवपल्लवो भविष्यति.'

अथ प्रभाते पुष्पफलादिभिर्नवपल्लवं वनखण्डं दृष्ट्वा प्रमोदमेदुरचित्तः श्रेष्ठी गृहमागत्य तां प्रत्युवाच, 'हे पुत्रि! तव शील-प्रभावान्मम मनोरथा अद्य संपूर्णा जाताः, अतस्त्वं पारणं कुरु.'

अथ तत्र मिलितः श्रावकश्राविकासंघः परस्परं कथयामास, 'अहो! कीदृगस्याः शीलमाहात्म्यमस्ति? येन शुष्कमपि वनं पुनर्नवीनं जातं. नूनमियं सुकुताढ्या पुण्यात्मा शुभलक्षणा शीलसुरभीकृतात्मा ज्ञाततत्त्वा सुश्राविका वर्त्तते, अस्या नाम्नापि पातकं याति, धन्योऽसौ माणिभद्रः श्रेष्ठी, यस्य गृहे चिन्तामणिसदृशैषा वसति,' इति तस्याः स्तुतिं कुर्वन् सर्वोऽपि संघस्तस्य श्रेष्ठिनो गृहे समागतः तया कुलधरपुत्र्यापि साधूनां प्रतिलाभ्य संघं च भोजयित्वा पश्चात्पारणं कृतं, जिनधर्मस्य च महान् महिमा बभूव.

अथैकदा सा पुलधरपुत्री पश्चाद्गृहन्यां जातस्निता सती चिन्तयति, 'अस्मिन् लोके त एव धन्या ये विषयसुखं भुक्त्वा पश्चाच्चारित्रं गृह्णन्ति, अहं पुनरधन्या या ऐहिकैकाममोगवञ्चिताद्यावधि दुःखभाजनमेव जाता. यद्यपि प्राप्तजैनधर्माप्यहं दीक्षां

पालयितुमसमर्था, ततो गृहस्थैव धर्मं करिष्यामीति विचिन्त्य षष्टाष्टमदशमद्वादशपक्षक्षपणमासक्षपणादि कुर्वन्ती क्रमेण सा क्षीणदेहा जाता, अन्ते चानशनं विधाय शुभध्यानेन कालं कृत्वा सौधर्मदेवलोके सुरत्वेनोत्पन्ना. ततश्च्युत्वा त्वं विप्रस्य विद्युत्प्रभाभिधा सुता जाता.

स माणिभद्रश्रेष्ठी च धर्मं कृत्वा तस्मिन्नेव सौधर्मे देवो जातः, ततश्च्युत्वा श्रावककुले मनुष्यो जातः, तत्रापि धर्मं कृत्वा नागकुमारे सुरो जातः, अवधिज्ञानेन च त्वां ज्ञात्वा मोहेन तव वात्सल्यं कुरुते. कुलधरश्रेष्ठिगृहे त्वया पूर्वमज्ञानेन यत्पापं कृतं तत्कर्मविपाकात्पूर्वं त्वं दुःखिनी जाता, माणिभद्रश्रेष्ठिगृहे च त्वया पश्चाद्धर्मः कृतः, तस्य प्रभावाच्च त्वं सुखिनी जाता, तीर्थंकरस्य पूजावनं यत्त्वया नवीनं विहितं तत्प्रभावात्सुरदत्तो वनखण्डस्तव पृष्ठे लग्नो भ्रमति, यच्च छत्रत्रयं त्वया जिनस्योपरि धारितं तत्प्रभावाच्त्वमपि छायायां तिष्ठसि. जिनपूजायाः प्रभावाच्च त्वच्छरीरात्सर्वेऽपि रोगा गताः, क्रमेण त्वं मोक्षसुखमपि प्राप्स्यसि.

इति श्रुत्वा सा राज्ञी क्षणेन मूर्छां प्राप्य धरित्र्यां पतिता, चन्दनसेकैः सिक्ता शीतलपवनैश्च व्यंजिता सती प्राप्तचैतन्यांजलि विधाय सूरिं विज्ञपयति, 'हे मुने ! भवद्भिर्यो मे पूर्वभव उक्तस्तं सर्वमहमधुना प्राप्तजातिस्मरणा स्मरामि. अथाहं संसारादुद्विग्नास्मि, अतोऽहमात्मानं नृपपार्श्वान्मोचयित्वा भवत्पार्श्वे दीक्षां गृहिष्यामि.' तत् श्रुत्वा राज्ञोक्तं 'हे भद्रे एवंविधां संसारासारतां विधाय गृहवासे कस्तिष्ठेत ? यदि त्वं प्रव्रज्यां गृह्णासि तदाहमपि प्रव्रजित एव भविष्यामि.' इत्युक्त्वा राजा सूरिंप्रति विज्ञपयामास, 'हे मुनींद्र ! अथ यावदहं गृहे गत्वारामशोभायास्तनयं मलयसुन्दरं च राज्ये संस्थाप्य पुनरायामि

तावन्मयि कृपां विधाय भवद्भिरत्रैव स्थातव्यं.' इत्युक्त्वा सूरिं नत्वा गृहे गत्वोत्सवेन मलयसुन्दरकुमारं निजपट्टे स्थापयित्वा दीनानाथानां च दानं दत्वा सप्तक्षेत्रेषु धनमुप्त्वोत्सवपूर्वकं गुरुसमीपे समागत्य राज्ञीयुतो राजा दिक्षां गृहीतवान्. क्रमेण स राजर्षिः सिद्धान्तपठनतो गीतार्थीभूतो निजयोग्यतामाविष्कुर्वन् गुरुभिरात्मीयपदे स्थापित आचार्यपदं प्राप्तवान्, आरामशोभापि गीतार्थीभूता प्रवर्त्तिनीपदमलंचकार. क्रमेण स राजर्षिरारामशोभापि च भव्यजीवान् प्रतिबोध्यान्तेऽनशनं विधाय कालं कृत्वा सुरालये देवौ जातौ. ततश्च्युत्वा नरसुखानि भुंक्त्वा सिद्धिसुखान्यपि तौ प्राप्स्यतः,

अतो भो भव्या आरामशोभैव सम्यक्त्वं पालनीयं, सम्यक्त्वे यत्नकरणतः स्तोककालेनापि मुक्तिसुखप्राप्तिः स्यात्. इत्यारामशोभायाः कथा समाप्ता ॥

## आरामशोभा कथा सम्पूर्णा.

'एवं जिनमुखादारामशोभायाः कथां श्रुत्वानंदो गाथापतिर्विज्ञपयति हे भगवन् ! पंचमहाव्रतानां भारमुद्वोढुमहमसमर्थोऽस्मि, तेन हे प्रभो पञ्चाणुव्रतानि सप्त च शिक्षाव्रतानि सम्यक्त्व सहितानि मम दीयतां, एवं भवन्मुखात्सम्यक्त्वयुतानि द्वादशव्रतानि प्रतिपद्याहं स्वकीयं जन्म सफलीकरिष्ये, किंच हे स्वामिन्नद्यप्रभृति त्वमेव मम देवो वीतरागः, पंचमहाव्रतयुतो ब्रह्मचारी मे गुरुः, जिनप्रणीतश्च मे धर्मो भवतु, एवमानंदश्रावकेण सम्यक्त्वयुतानि यथा द्वादशव्रतानि गृहीतानि, तत्संबंधी सिद्धांते त्वालापकोऽयं–

"अहन्नं भंते तुम्हाणं समीवे मिच्छत्तं पडिक्कमामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि, नो मे कप्पइ अज्जप्पभिइ अन्नउत्थिए वा, अन्नउत्थिअदेवयाणि वा, अन्नउत्थिअपडिग्गहिआणि वा, अरिहंतचेइआणि

वंदित्तए वा नमंसित्तए वा, पुव्विं अणालित्तेणं आलवित्तए वा, संलवित्तए वा, तेसिं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, दाउं वा, अणुप्पयाउं वा, नवरं तत्तत्थ रायाभियोगेणं, गणाभियोगेणं, बलाभियोगेणं देवयाभियोगेणं गुरुनिग्गहेण, वित्तिकंतारेणं, कप्पइ मे समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं, असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं, पीढफलगसिज्जासंथारएणं, उस्सहभेसज्जेणं पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए."

अथ श्रीवीरः कथयामास भो आनंदश्रेष्ठिन्! सम्यक्त्वस्यैते पंचातिचाराः सन्ति, ते त्वया कदापि न स्पर्शयितव्याः. तानाह—देवविषये शंका १ आकांक्षा परमताभिलाषः २ धर्मफलविषये सन्देहः ३ मुनीनां विचिकित्सा ४ पाखण्डिनां च प्रशंसा ५. एतानि पंच दूषणानि ज्ञातव्यानि, तानि च न समाचरितव्यानि.

किंच हे महाभाग! अथ त्वं प्रथमं व्रतं शृणु. ये मुनिवराः सन्ति ते सर्वथैव त्रसस्थावरजीवानां हिंसां न कुर्वन्ति, षड्जीवनिकायानां च रक्षां कुर्वन्ति. श्राद्धानां च देशेन स्थावरजीवानां पालनं सिद्धान्ते भणितं, यत उक्तं—

१ जीवासहुम्ममथूला। संकप्पारंभउ अदुविगप्पा॥ सावराह निरवराहा। साविक्खा चेव निरविक्खा॥१॥

विरतिं स्थूलहिंसादेर्द्विविधत्रिविधादिना। अहिंसादीनि पञ्चाणु-व्रतानि जगदुर्जिनाः ॥१८॥

पङ्गुकुष्ठिकुणित्वादि, दृष्ट्वाहिंसाफलं सुधीः। निरागस्त्रसजन्तूनां, हिंसां सङ्कल्पतस्त्यजेत् ॥१९॥

१ जीवा सूक्ष्माः स्थूलाः सकल्पारम्भतो च द्विविकल्पाः सापराधनिरपराधाः सापेक्षाश्चैव निरपेक्षाः।

आ०—येषामेकान्तिको भेदः, सम्मतो देहदेहिनोः । तेषां देहविनाशेऽपि, न हिंसा देहिनो भवेत् ॥१॥
अभेदैकान्तवादेऽपि, स्वोक्ते देहदेहिनोः । देहनाशे देहिनाशात् परलोकोऽस्तु कस्य वै ॥२॥
भिन्नाभिन्नतया तस्मा-ज्जीवे देहात्प्रतिश्रुते । देहनाशे भवेत्पीडा, या तां हिंसां प्रचक्षते ॥३॥
दुःखोत्पत्तिर्मनःक्लेश-स्तत्पर्यायस्य च क्षयः । यस्यां स्यात्सा प्रयत्नेन, हिंसा हेया विपश्चिता ॥४॥
प्राणी प्रमादतः कुर्या-द्यत्प्राणव्यपरोपणम् । सा हिंसा जगदे प्राज्ञै-र्बीजं संसारभूरुहः ॥५॥
शरीरी म्रियतां मा वा, ध्रुवं हिंसा प्रमादिनः । सा प्राणव्यपरोपेऽपि, प्रमादरहितस्य न ॥६॥
जीवस्य हिंसा न भवे-न्नित्यस्यापरिणामिनः । क्षणिकस्य स्वयं नाशात्, कथं हिंसोपपद्यताम् ॥७॥
नित्यानित्ये ततो जीवे, परिणामिनि युज्यते । हिंसा कायवियोगेन, पीडातः पापकारणम् ॥८॥
केचिद्वदन्ति हन्तव्याः, प्राणिनः प्राणिघातिनः । हिंस्रस्यैकस्य घाते स्या-द्रक्षणं भूयसां किल ॥९॥
तदयुक्तमशेषाणां, हिंस्रत्वात्प्राणिनामिह । हन्तव्यता स्यात्तल्लाभ-मिच्छोर्मूलक्षतिः स्फुटा ॥१०॥
अहिंसा सम्भवो धर्मः, स हिंसातः कथं भवेत् । न तोयजानि पद्मानि, जायन्ते जातवेदसः ॥११॥
पापहेतुर्वधः पापं, कथं छेत्तुमलं भवेत् । मृत्युहेतुः कालकूटं, जीविताय न जायते ॥१२॥
संसारमोचकास्त्वाहुर्दुःखिनां वध इष्यताम् । विनाशे दुःखिनां दुःख-विनाशो जायते किल ॥१३॥
तदप्यसाम्प्रतं ते हि, हता नरकगामिनः । अनन्तेषु नियोज्यन्ते, दुःखेषु स्वल्पदुःखकाः ॥१४॥

किं च सौख्यवता घाते, धर्म्मः स्यात्पापवारणात् । इत्थं विचार्य हेयानि, वचनानि कुतीर्थिनाम् ॥१५॥
चार्वाकाः प्राहुरात्मैव, तावन्नास्ति कथञ्चन । तं विना कस्य सा हिंसा, कस्य हिंसाफलं भवेत् ॥१६॥
भूतेभ्य एव चैतन्यं पिष्टादिभ्यो यथा मदः । भूतसंहतिनाशे च, पञ्चत्वमिति कथ्यते ॥१७॥
आत्माऽभावे च तन्मूलः, परलोको न युज्यते । अभावे परलोकस्य, पुण्यापुण्यकथा वृथा ॥१८॥
तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवञ्चना । इति विप्रतिपत्तिभ्यः, परेभ्यः परिभाष्यते ॥१९॥
स्वसंवेदनतः सिद्धः, स्वदेहे जीव इष्यताम् । अहं दुःखी सुखी वाह-मिति प्रत्ययययोगतः ॥२०॥
घटं वेद्यहमित्यत्र, त्रितयं प्रतिभासते । कर्म्म क्रिया च, कर्त्ता च, तत्कर्त्ता किं निषिध्यते ॥२१॥
शरीरमेव चेत्कर्त्तृ, न कर्त्तृ तदचेतनम् । भूतचैतन्ययोगाच्चेच्चेतनं तदसङ्गतम् ॥२२॥
मया दृष्टं श्रुतं स्पृष्टं, घ्रातमास्वादितं स्मृतम् । इत्येककर्तृकाभावात्, भूतचिद्वादिनः कथम् ॥२३॥
स्वसंवेदनतः सिद्धे, स्वदेहे चेतनात्मनि । परदेहेऽपि तत्सिद्धि–रनुमानेन साध्यते ॥२४॥
बुद्धिपूर्वां क्रियां दृष्ट्वा, स्वदेहेऽन्यत्र तद्गतिः । प्रमाणबलतः सिद्धा, केन नाम निवार्यते ॥२५॥
तत्परलोकिनः सिद्धौ, परलोको न दुर्घटः । तथा च पुण्यपापादि, सर्वमेवोपपद्यते ॥२६॥
तपांसि यातनाश्चित्रा, इत्याद्युन्मत्तभाषितम् । सचेतनस्य तत्कस्य, नोपहासाय जायते ॥२७॥
निर्बाधोऽस्ति ततो जीवः, स्थित्युत्पादव्ययात्मकः । ज्ञाता द्रष्टा गुणी भोक्ता, कर्त्ता कायप्रमाणकः ॥२८॥

तदेवमात्मनः सिद्धौ, हिंसा किं नोपपद्यते । तदस्याःपरिहारेणाहिंसाव्रतमुदीरितम् ॥२९॥

**आत्मवत्सर्वभूतेषु, सुखदुःखे प्रियाप्रिये । चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां, हिंसामन्यस्य नाचरेत् ॥२०॥**

उ०—श्रूयतां धर्म्मसर्वस्वं, श्रुत्वाचैवावधार्यताम् । आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ॥१॥

**निरर्थिकां, न कुर्वीत, जीवेषु स्थावरेष्वपि । हिंसामहिंसाधर्मज्ञः, काङ्क्षन्मोक्षमुपासकः ॥२१॥**

**प्राणी प्राणितलोभेन, यो राज्यमपि मुञ्चति । तद्वधोत्थमघं सर्वो-र्वीदानेऽपि न शाम्यति ॥२२॥**

उ०—मार्यमाणस्य हेमाद्रिं राज्यं वाथ प्रयच्छतु । तदनिष्टं परित्यज्य, जीवो जीवितुमिच्छति ॥१॥

**वने निरपराधानां, वायुतोयतृणाशिनाम् । निघ्नन् मृगाणां मांसार्थी, विशिष्येत कथं शुनः ? ॥२३॥**

**दीर्यमाणः कुशेनापि, यः स्वाङ्गे हन्त दूयते । निर्मन्तून् स कथं जन्तू-नन्तयेन्निशितायुधैः ॥२४॥**

उ०—रसातलं यातु यदत्र पौरुषं, क्व नीतिरेषाऽशरणोह्यदोषवान् । निहन्यते यद्बलिनातिदुर्बलो, हहा महाकष्टमराजकं जगत् ॥१॥

**निर्मातुं क्रूरकर्म्माणः, क्षणिकामात्मनो धृतिम् । समापयन्ति सकलं, जन्मान्यस्य शरीरिणः ॥२५॥**

उ०—योऽश्नाति यस्य तन्मांस-मुभयोः पश्यतान्तरम् । एकस्य क्षणिका तृप्तिः, प्राणैरन्यो वियुज्यते ॥१॥

**म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि, देही भवति दुःखितः । मार्यमाणः प्रहरणै-र्दारुणैः स कथं भवेत् ? ॥२६॥**

**श्रूयते प्राणिघातेन, रौद्रध्यानपरायणौ । सुभूमो ब्रह्मदत्तश्च, सप्तमं नरकं गतौ ॥ २७ ॥**

**कुणिर्वरं वरं पङ्गु-रशरीरी वरं पुमान् । अपि सम्पूर्णसर्वाङ्गो, न तु हिंसापरायणः ॥ २८ ॥**

हिंसा विघ्नाय जायेत, विघ्नशान्त्यै कृताऽपि हि । कुलाचारधियाऽप्येषा, कृता कुलविनाशनी ॥२९॥
अपि वंशक्रमायातां, यस्तु हिंसां परित्यजेत् । स श्रेष्ठः सुलस इव, कालसौकरिकात्मजः ॥३०॥
दमो देवगुरूपास्ति-र्दानमध्ययनं तपः । सर्वमप्येतदफलं, हिंसां चेन्न परित्यजेत् ॥ ३१ ॥
विश्वस्तो मुग्धधीर्लोकः, पात्यते नरकावनौ । अहो नृशंसैर्लोभान्धै-र्हिंसाशास्त्रोपदेशकैः ॥३२॥
उ०—एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेक-स्तद्वद्भिरेव सह संवसतिर्द्वितीयम् ।
एतद्द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्ध-स्तस्यापमार्गचलने खलु कोऽपराधः ? ॥१॥
यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः, स्वयमेव स्वयंभुवा । यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य, तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥३३॥
औषध्यः पशवो वृक्षा-स्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा । यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः, प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितिं पुनः ॥३४॥
मधुपर्के च यज्ञे च, पितृदैवतकर्मणि । अत्रैव पशवो हिंस्या-नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ३५ ॥
एष्वर्थेषु पशून् हिंसन्, वेदतत्त्वार्थविद्द्विजः । आत्मनं च पशूंश्चैव, गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ३६ ॥
ये चक्रुः क्रूरकर्माणः, शास्त्रं हिंसोपदेशकम् । क्व ते यास्यन्ति नरके, नास्तिकेभ्योऽपि नास्तिकाः ॥३७॥
वरं वराकश्चार्वाको, योऽसौ प्रकटनास्तिकः । वेदोक्तितापसच्छद्म-च्छन्नं रक्षो न जैमिनिः ॥३८॥
उ०—नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो- नाभ्यर्थितस्त्वं मया, सन्तुष्टस्तृक्षणक्षणेन सततं, साधो न युक्तं तव ।
स्वर्गे यान्ति यदि त्वया विनिहता, यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो- यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः, पुत्रैस्तथा बान्धवैः ॥१॥

[1]सव्वे वि जीवा इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं । तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णम् ॥२॥

देवोपहारव्याजेन, यज्ञव्याजेन येऽथवा । घ्नन्ति जन्तून् गतघृणा-घोरां ते यान्ति दुर्गतिम् ॥३९॥

शमशीलदयामूलं, हित्वा धर्मं जगद्धितम् । अहो हिंसाऽपि धर्माय, जगदे मन्दबुद्धिभिः ॥४०॥

हविर्यच्चिररात्राय, यच्चानन्त्याय कल्पते । पितृभ्यो विधिवद्दत्तं, तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ४१ ॥

तिलैर्व्रीहियवैर्माषै-रद्भिर्मूलफलेन वा । दत्तेन मासं प्रीयन्ते, विधिवत्पितरो नृणाम् ॥ ४२ ॥

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन, त्रीन् मासान् हारिणेन तु । औरभ्रेणाथ चतुरः, शाकुनेनेह पञ्च तु ॥४३॥

षण्मासांश्छागमांसेन, पार्षतेनेह सप्त वै । अष्टावेणस्य मांसेन, रौरवेण नवैव तु ॥ ४४ ॥

दशमासांस्तु तृप्यन्ति, वराहमहिषामिषैः । शशकूर्मयोर्मांसेन, मासानेकादशैव तु ॥ ४५ ॥

संवत्सरं तु गव्येन, पयसा पायसेन तु । वार्ध्रीणसस्यमांसेन, तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥ ४६ ॥

उ०—त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणं, श्वेतं वृद्धप्रजापतिम् । वार्ध्रीणसं तु तं प्राहु-र्याज्ञिकाः पितृकर्मसु ॥१॥

इति स्मृत्यनुसारेण, पितॄणां तर्पणाय या । मूढैर्विधीयते हिंसा, साऽपि दुर्गतिहेतवे ॥ ४७ ॥

उ०—मृतानामपि जन्तूनां, यदि तृप्तिर्भवेदिह । निर्वाणस्य प्रदीपस्य, स्नेहः संवर्ध्धयेच्छिखाम् ॥१॥

यो भूतेष्वभयं दद्याद् भूतेभ्यस्तस्य नो भयम्। यादृग्वितीर्यते दानं, तादृगासाद्यते फलम् ॥ ४८ ॥

(१) सर्वे जीवा अपि इच्छन्ति. जीवितुं न मर्तुम् । तस्मात् प्राणिवधं घोरं निर्ग्रन्था वर्जयंति ॥१॥

कोदण्डदण्डचक्रासि-शूलशक्तिधराः सुराः । हिंसका अपि हा कष्टं, पूज्यन्ते देवताधिया ॥ ४९ ॥
मातेव सर्वभूताना-महिंसा हितकारिणी । अहिंसैव हि संसार-मरावमृतसारणिः ॥ ५० ॥
अहिंसा दुःखदावाग्नि-प्रावृषेण्यघनावली । भवभ्रमिरुगार्त्तीना-महिंसा परमौषधी ॥ ५१ ॥
दीर्घमायुः परं रूप-मारोग्यं श्लाघनीयता । अहिंसायाः फलं सर्वं, किमन्यत्कामदैव सा ॥ ५२ ॥

आ०—हेमाद्रिः पर्वतानां, हरिस्मृतभुजां, चक्रवर्ती नराणां, शीतांशुर्ज्योतिषां स्वस्तरुरवनिरुहां, चण्डरोचिर्ग्रहाणाम् ।
सिन्धुस्तोयाशयानां, जिनपतिरसुरासुरमर्त्याधिपानां, यद्वद्व्रतानाम्-अधिपतिपदवीं यात्यहिंसा किमन्यत् ॥१॥

इति श्रावकभङ्गेन ये भव्याः स्तोकामपि जीवदयां पालयन्ति ते हरिबलवदतिप्रभूतां लक्ष्मीं लभन्ते, इति श्रुत्वाऽऽ नन्दः कथयामास 'हे भगवन्! स हरिबलः कः? तेन जीवदया च कथं पालिता? ऋद्धिश्च पुनः कथं प्राप्ता? श्रीवीरजिनेन्द्रोऽवादीत् भो श्रेष्ठिन्! सावधानीभूय हरिबलस्य चरित्रं यथाभूतं शृणु.

अस्मिन्नेव भरतक्षेत्रे काञ्चनपुराभिधं पुरमस्ति, तत्र च वसंतसेनो राजा राज्यं करोति, तस्य वसन्तसेनाख्या राज्ञी वर्त्तते, तयोर्वसन्तश्रीः पुत्री बभूव. तत्रैव कांचनपुरे हरिबलनामैको मात्स्यिको वसति, तस्य प्रचण्डाभिधा पत्नी वर्त्तते. सातीव्ररोषणा कलहप्रिया कूपगल्ला प्रलम्बदशना श्यामांगी ऊष्टूजिह्वा प्रियं प्रति च कठोरभाषिणी वर्त्तते, तेन हेतुना हरिबलेन स्वप्नेऽपि पत्नीसंबन्धिसुखं न प्राप्तं. उक्तं च—

कुग्रामवासः कुनरेन्द्रसेवा । कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या ॥
कन्याबहुत्वं च दरिद्रता च । षड् जीवलोके नरका भवंति ॥ १ ॥

स हरिबलो मीननिष्कासनार्थं प्रत्यहं नद्यां गच्छति मीनांश्च विक्रीयाजीविकां करोति, अथैकदा स यावन्नदीसमीपे समागतस्तावदेकं साधुं तरुच्छायायामुपविष्टं ददर्श, तत्रागत्य साधुं नमस्कृत्याग्रे उपविष्टः, तदा मुनिनोक्तं भो भद्र ! त्वं किमपि धर्मस्य स्वरूपं जानासि ? तेनोक्तं स्वामिन्नहमेतन्मात्रं जानामि यत्कुलाचारादपरः कोऽपि धर्मो नास्ति, यतो यः कुलाचारः स एव धर्मः. मुनिरवादीत् भो धीवर ! एतन्मूढानां पामराणामेव वचनं वर्त्तते, यदि कुधर्मोऽपि चेद्धर्मो भवेत्तदा धर्मस्य नामापि नष्टं. किंच यदि ते कुलधर्म एव प्रमाणं तदा कुलक्रमादागतं दारिद्र्यदुःखं सुपुत्रैर्न दूरीक्रियते. अतो जीवदयैव धर्मो ज्ञेयः यत. —

**[1]भवजलहिए तरणी। दुहमहपव्वयविभेअणे असणी॥ मणवंच्छिअकरणी। जीवदयाविक्क जयजणणी॥२॥**

ततो भो धीवर ! चेत्त्वं सुखं वांछसि तर्हि निजचित्ते जीवदयां स्थापय. तत् श्रुत्वा धीवरोऽवादीत् 'हे भगवन् ! भवद्भिर्यो दयाधर्मः कथितः स तथ्य एव, नान्यथा, परमस्मादृशां धीवरकुलोत्पन्नानां जीवदयाधर्मः कुतः प्राप्यते ? यतो दरिद्रिणां गृहे चक्रिभोजनं न भवेत्. मया तु दिवारात्रौ जीववध एव क्रियते. मुनिरुवाच ' भो धीवर ! यदि त्वं सर्वथा जीवदयां पालयितुमसमर्थस्तदा **प्रथमजाले यो मीनः पतेत् स त्वया न मारणीयः**'. हरिबलेनापि हर्षितस्तद्व्रतं प्रतिपन्नं. ततोऽसौ मुनिं नत्वात्मीयकृत्यकरणाय ययौ, स्वीकृतं व्रतं भव्यरीत्या पालयति स्वकुलाचारं च करोति.

अथन्यदा स धीवरो जालं गृहीत्वा नद्यां समाययौ, नद्यां च जालं क्षिप्तं, तत्रैको वृद्धमीनो पतितः, हरिबलेन निजनिय-

१ भवजलधौ तरणी, दुःखमहापर्वतविभेदने अशनिः मनवांछितकरणी जीवदया एक जगजननी ॥

मपालनार्थं किमपि चिह्नं कृत्वा स पश्चाज्जले मुक्तः, पुनरपि तेन जालं क्षिप्तं, तदा स एव मीनस्तत्र समागतः, एवं संध्यां यावत्स एव मीनः समापतितो मुक्तश्च, तथापि तस्य मनसि विषादो न जातः, एवं संकटे पतितेनापि तेनात्मीयं व्रतं न त्यक्तं. संध्यासमये च स चिन्तयति नूनमेतद्भव्यं जातं यन्मया निजं व्रतं सम्यग् पालितं. इतः कोऽपि त्रिदशः प्रकटीभूय तं कथयामास 'भो ! हरिबल मां त्वमुदध्यधिष्ठायकं देवं जानीहि ? अवधिज्ञानेन तव नियमं ज्ञात्वा ते परीक्षार्थं मत्स्यरूपं च कृत्वा मया त्वं संध्यावधि परीक्षितः, परं त्वया नियमभंगो न विहितः, अतस्त्वं धन्योऽसि, कृतार्थोऽसि, तव जीवितं च सफलं जातं, यदीदृशेऽपि संकटे त्वया निजनियमो न विराधितः. संसारे केऽपि व्रतमेव न गृह्णंति, केचिच्च गृहीत्वा न निर्वहन्ति. परं गृहीत्वा ये निर्वहन्ति त एव सत्पुरुषास्त्वत्सदृशा ज्ञेयाः, अतस्त्वं वरं वृणु. यतो लोके देवानां दर्शनं मोघं न भवति. उक्तं च—

**अमोघा वासरे विद्यु—दमोघं निशि गर्जितं ॥ सज्जल्पनममोघं च, अमोघं देवदर्शनं ॥ १ ॥**

तत् श्रुत्वा धीवरो हृष्टः सन्नुवाच, 'हे देव! यदि त्वं तुष्टोऽसि तदेमां ममापदं दूरीकुरु ? एवमस्त्वित्युक्त्वा सुरोऽदृश्यो बभूव. अथ मत्स्याऽलाभात्स्वभार्याया भीतो धीवरो रात्रौ देवकुले स्थिता मनसि चिन्तयति ' यदि मयैकजीवरक्षातोऽपीदृग् फलं प्राप्तं तर्हि सर्वजीवानां ये रक्षां कुर्वन्ति तेषां सर्वसुखप्राप्तौ कः संदेहः ? अथ कथमप्येषा ममापद् याति तर्हि विषवल्लीसमानामेतां हिंसां त्यजामीति' चिंतयन् स्थितः.

इतस्तन्नगरनृपसुता वसंतश्रीर्नगरशोभां पश्यन्ती गवाक्षे स्थिता सती हरिबलनामानमेकं कंदर्पाकारं श्रेष्ठिपुत्रं पथि यान्तं पश्यतिस्म. तं दृष्ट्वा मदनबाणविह्वलीभूता निजदास्या निजपार्श्वे तं समाहूय सन्मानपुरस्सरं स्नेहेन मधुरवचनैरिदमवा-

दीत्. 'हे सत्पुरुष ! अद्यप्रभृति मम प्राणास्त्वदायत्ता एव वर्त्तते, अतो भो हरिबल ! इत आवां देशांतरे गत्वा विवाहं विधाय भोगान् भुंजावहे', तेनापि कामवशेन राजपुत्र्यास्तद्वचनमंगीकृतं.

अथ यत्र देवकुले हरिबलमात्स्यिकः सुप्तोऽस्ति तदेव स्थानं दैवयोगात्तया तस्य संकेतितं, कथितं च 'त्वयाऽद्यरात्रौ तत्र स्थेयं. अहमपि मम स्वर्णरत्नादि गृहीत्वा रथारूढा तत्रैव रात्रौ समागमिष्यामीति' निगद्य तया स विसृष्टः. अथ स श्रेष्ठिपुत्रो रजन्यां तत्र गंतुकामो वस्त्रादि लात्वा यावद्गृहान्निस्सरति तावत्कर्मानुसारतस्तस्यैवं मतिरुत्पन्ना 'को जानात्यग्रे किं भविष्यति ? अविमृश्य कार्ये कृते जीवितव्यनाशो भवेत्, चेत्कदाचिद्राजेदं जानीयात्तदा सकुटुंबं मां स हन्यात्. नूनमेषा राजपुत्री विषवल्लीतुल्यास्ति, अनया सह मे प्रयोजनं नास्ति, कः पुमान् जानन्नग्निशिखां लंघयेदिति' ध्यात्वा स पश्चादागत्य निजस्थाने सुप्तः. अथ राजसुता मणिकनकरूप्यरत्नादिभी रथं भृत्वा रात्रौ संकेतस्थाने समागत्यावादीत् 'किमत्र देवकुले हरिबल आगतोऽस्ति ?'

अथ तत्र स्थितेन हरिबलेनैताममृततुल्यां वाणीं श्रुत्वा प्रमोदतो हुंकारः कृतः. तदा राजपुत्र्योक्तं 'तर्हि भो हरिबल ! त्वं तूर्णं रथे समागच्छ ? देशांतरगतयोरावयोर्मनोरथाः सफला भविष्यंति.' तत् श्रुत्वा हरिबलेन चिंन्तितं 'मत्तुल्यनामा कोऽप्यन्यो नरोऽनया संकेतितो ज्ञायते, तं नरं चेयमामंत्रयति. नूनं मम पुण्यैरेवैषा कामिनी समानीतास्ति, अतोऽनया सह गच्छामि, अग्रे तु यद्भाव्यं तद्भविष्यतीति' ध्यात्वा स रथे चटितस्तुरगौ प्रेरयामास. मार्गे गच्छन्ती सा बाला तस्य पीयूषसदृशैर्वचनैरालापयति परं स हरिबलो मौनं विधाय हुंकारमात्रमेव भणति. तदा सा राजपुत्री चिन्तयति नूनमस्य मातापित्रोर्विरह एव बाधते,

तेन च हुंकारं विनान्यत्किंचिदुत्तरं स न ददातीति विचिन्त्य सा बालापि मौनमेवालंब्य स्थिता. प्रभाते च जाते तमन्यं नरं दृष्ट्वैषा हाहाकारं कुर्वन्ती मूर्छया पतिता, धात्र्या च शीतलपवनैः सावधानीकृतातिकरुणं रुदन्ती पुनः पुनः सैवमवादीत्.

निदाघे दाहार्त्तिप्रचुरतरतृष्णातरलितः सरः पूर्णं दृष्ट्वा त्वरितमुपयातः करिवरः ।
तथा पंके मग्नस्तटनिकटवर्त्तिन्यपि यथा । न नीरं नो तीरं द्वयमपि विनष्टं विधिवशात् ॥ १ ॥

ये मनोरथा मया चिन्तितास्ते सर्वेऽपि विनष्टाः, हा ! हा ! अथाहं किं करोमि ? कस्याग्रे पूत्कारं कुर्वे ? हे देव ! त्वयाहमेवं कथं विडंबिता ? ' एवमार्त्तध्यानाभिभूता निजपूर्वकर्मनटिता पुनरपि सा चिन्तयति—

[1]सायर नहि तुज दोसो। दोसो अम्हाण पुव्वकम्माणं ॥ रयणेहिं भरिऊ अछे। सालूरो हत्थ मे लग्गो ॥१॥

अथाहं मुधैव दैवमुपालंभे, पूर्वभवे जीवेन यत् शुभाशुभं कर्म कृतं भवेत्तदेव सर्वं नूनमुदयमायाति, किंच मम कर्मणायं पुरुष आनीतोऽस्ति तर्हि मुधात्मानमार्त्तध्यानेन कथं क्लेशयामीति' ध्यात्वा सा बाला तं नरं विलोकयन्ती स्थिता.

इतोंबरे एवंविधा देववाणी प्रादुर्बभूव, 'हे भद्रे ! यदि सुखसौभाग्यं त्वं वांछसि तर्हि एनमेव नरं भजत्वं ? असौ पुमान् जंगमकल्पवृक्षोऽस्ति'. इति देववाण्या तमुत्तमनरं विज्ञाय सा स्नेहेन मधुरवचनैस्तमालापयति 'हे पुरुषोत्तम मां तृड्ड बाधते, ततः शीतलजलं समानय ? इति श्रुत्वा स धीवरो हृष्टः सन् पयोभाजनं गृहीत्वाऽट्व्यां गत्वेतस्ततो विलोक्य जलं गृहीत्वा शीघ्रमाययौ. जलपानतः स्वस्थीभूता राजपुत्री चिन्तयति 'अहो ध्रुवमयं साहसिकः पुरुषो वर्त्तते,' इति ध्यात्वा तयोक्तं हे

१ सागर ! न हि तव दोषोऽस्माकं पूर्वकर्मणां रत्नैर्भरितोऽस्ति, सालूरः हस्ते मम लग्नः ॥

'सत्पुरुष ! अधुना शुभलग्नं विद्यते, अतो मां परिणय ?' ततो हरिबलेन सा गांधर्वविवाहेन परिणीता,

अथ तावग्रे चलन्तौ ग्रामानुग्रामं लंघयन्तौ कस्मिंश्चिन्नगरे गतौ, ततो राजपुत्र्या वचनेन तेन हरिबलेन शुभलक्षणोपेताश्चत्वारस्तुरगाः क्रीताः. क्रमेण तौ नंदनवनतुल्यारामालंकृते बहुकूपतटाकादिमंडिते तोरणपताकाद्युपेतजिनमंदिरविराजितेऽतिमनोहरे विलासपुराख्यनगरे जग्मतुः. तत्र चैकं सप्तभौमं प्रासादं भाटकेन गृहीत्वा तौ तस्थतुः, तत्र हरिबलो राजसुताया सह भोगान् भुञ्जानः सुखेन कालं गमयांचकार.

अथान्यदा हरिबलश्चिन्तयति 'कुत्राहमतिनिन्दनीयकुलोत्पन्नः ? क्व चैषा राजपुत्री ? नूनं पुण्येनैवायं योगः संजातोऽस्ति, ततो लक्ष्म्याः फलं गृहणामीति' ध्यात्वा स हरिबलो दीनानाथदुःखितानां निरंतरं दानं ददाति, तेन च तस्य नगरमध्ये प्रसिद्धिर्जाता, अथवा दानात्कस्य प्रसिद्धिर्न जायते ? यतः—

**पात्रे धर्मनिबंधनं तदितरे प्रोद्यद्दयाख्यापकं। मित्रे प्रीतिविवर्द्धनं रिपुजने वैरापहारक्षमं ॥**
**भृत्ये भक्तिभरावहं नरपतौ सन्मानसंपादकं। भट्टादौ च यशस्करं वितरणं न क्वाप्यहो निष्फलं ॥**

अथ तन्नगरराज्ञा मदनवेगेन तस्य प्रसिद्धिं श्रुत्वा भृत्यान् संप्रेष्य स आकारितः, हरिबलोऽपि तत्र समागतः, राज्ञा बह्वादरपूर्वकमासने निवेशितः कुशलवार्त्ता च पृष्टा, परस्परमतीव प्रीतिर्जाता, ततः प्रत्यहं हरिबलो राजद्वारे समेति. राजापि तं स्नेहेनालापयति.

अन्यदा राज्ञा परमप्रीत्या स भार्यायुतो भोजनार्थं स्वगृहे निमंत्रितः, हरिबलोऽपि भार्योपेतो राजगृहे समागत्य

भोजनमंडपे उपविष्टो राज्ञा च स्वयं परिवेषितः, वसंतश्रीरूपं दृष्ट्वा राजा मनसि चिन्तयति 'किमेषा स्वर्गादवतीर्णाऽथवा पातालादागता किन्नरी वा विद्याधरी वा कामस्य पत्नी दृश्यते ? ईदृगरूपं मया कुत्रापि न दृष्टं', एवं कामाग्निना दग्धो राजा दध्यौ 'यद्येषा स्त्री मम न मिलति तदा मम जीवितं राज्यं च वृथा, परं हरिबले जीवति सति सा न लप्स्यते, अतः केनाप्युपायेनैनं मारयामीति' स हृदि विचारितवान्. अथ हरिबलोऽपि भोजनं कृत्वा पत्नीयुतो गृहे समागतः, राज्ञापि स्वचिन्तितं कार्यं मंत्रिणे निवेदितं, मंत्री तु तद्दुष्टविचाराद्राजानं न निवारयामास, तेन च राजाधिकाधिकं मदनज्वालया जज्वाल. अन्यदा राजा सभायां स्थितो मंत्रिणं प्रत्याह–'भो सभासदः श्रूयन्तां ? अधुनाहं मम पुत्र्या उद्वाहं कर्तुकामोऽस्मि. मम च लंकाधिपतिर्विभीषणेन सह महती मैत्री वर्त्तते, ततो विवाहोत्सवे विभीषणं निमंत्रयितुं भवतां मध्यात्को लंकां गमिष्यति ? तत् श्रुत्वा सर्वेऽपि सभासदो तूष्णींस्थिताः, ततो राजा हरिबलस्य मुखं पश्यति, तदा दुष्टात्मा मंत्री वदति 'हे राजन् ! हरिबलसमानो विषमकार्यकर्ता भवद्राज्येऽन्यः कोऽपि न दृश्यते, यद्यपि सर्वेऽपि भवन्मंत्रिणो भवत्प्रसादेन सुखं भुञ्जन्ते, परं विषमकार्यमपि ये कुर्वन्ति ते तु स्तोका एव. अत एष आदेशो हरिबलस्यैव दीयतां, गजानां भारं गजा एव वहंति' इति मंत्रीवचः श्रुत्वा कपटी राजा बभाण 'भो हरिबल ! इदं कार्यं त्वां विनान्य कोऽपि कर्त्तुं समर्थो नास्ति. तत इदं कार्यं त्वमेव कुरु ?' दाक्षिण्येन हरिबलेनापि नृपवचनमंगीकृतं. यत उत्तमपुरुषाणां दाक्षिण्यमेव प्रधानं.

अथ हरिबलो गृहे समागत्य सर्वं वृत्तांतं वसंतश्रियै कथयामास, तत् श्रुत्वा राजपुत्री विषादं प्राप्ता सती कथयामास 'हे स्वामिन् ! नूनं तदा भोजनसमयवीक्षितमद्रूपमोहितेन राज्ञा भवतां मारणार्थमेवायमनर्थः प्रारब्धोऽस्ति. एतत्साहसं

भवतामंगीकर्त्तुं न युज्यते, यतोऽविमृश्यकृतं कार्यं स्वविनाशायैव भवति. उक्तं च—

सहसा विदधीत न क्रिया-मविवेकः परमापदां पदं।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं। गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥ १ ॥

अतोऽद्यापि यूयं राज्ञे निवेदयध्वं यदेतत्कार्यं मया कर्तुं न शक्यते'. तद् श्रुत्वा हरिबलेनोक्तं 'हे मुग्धे! त्वं किमयुक्तं वदसि? सत्पुरुषा हि प्रतिपन्नं प्राणांतेऽपि न त्यजंति. उक्तं च—

[1]छिज्जउ सीसं अह होउ। बंधणं चयउ सव्वहा लच्छी। पडिवन्नपालणे पुण, सप्पुरिसा न पच्छिमा होइ ॥१॥

अतो हे प्रिये! अहं नूनं तत्र गमिष्यामि, यद्भाव्यं तद्भविष्यति. न्यायप्रवृत्तानां विषममपि कार्यं समं भवति. परं कामांधो राजा त्वां हरिष्यतीत्येकैव चिन्ता मम मनसि वर्त्तते,' तद् श्रुत्वा तयोक्तं-'हे स्वामिन्! तद्विषये भवद्भिर्मनागपि न भेतव्यं. भवतां मार्गे कल्याणमस्तु, सर्वेऽपि पंथानो निर्विघ्ना भवंतु. भवज्जीवितं च भवद्भिः प्रयत्नतो रक्षणीयं यतः—

जीवन् भद्राण्यवाप्नोति, जीवन् पुण्यं करोति च। मृतस्य देहनाशेन, धर्माद्युपरमस्तथा ॥ १ ॥

इति भार्यावचनं श्रुत्वा हरिबलो हृष्टः सन् प्रियामापृच्छ्य दक्षिणदिशि चलितः, ग्रामनगराण्युल्लंघयंश्च जलधितटे प्राप्तः, यत उद्यमवतां जनानां किमपि दूरं नास्ति. तत्र चतुर्दिक्षूच्छलत्कल्लोलमालाकुलितं भयंकराकारं समुद्रं दृष्ट्वोद्विग्नः सन् मनसि चिन्तयति 'प्रियया हं निर्विघ्नोऽपि भवितव्यतायोगेनाहमत्र प्राप्तः. अधैवं जलधिं कथं लंघयामि? कथं च लंकायां गमिष्यामि?'

१ छिद्यतु शीर्षं अथवा भवतु बन्धनं त्यजतु सर्वथा लक्ष्मी, प्रतिपन्नपालने पुनः सत्पुरुषा न पश्चिमा भवन्ति ॥

पुनस्तेन चिन्तितं 'अथ चिन्तयालं, जलधिमध्ये प्रविशाम्येव, पश्चाद्यद्भावि तद्भवतु, उद्यमहीनः कार्यकरणे आलस्यं न विधेयं,' इति विचार्य शीघ्रमसौ जलधौ झंपां दत्तवान्.

अथ येन देवेन पूर्वं वरो दत्त आसीत्, स एव देवस्तत्क्षणं प्रकटीभूय तमवादीत्, 'भो हरिबल! सांप्रतं तवाहं कया रीत्या साहाय्यं करोमि?' तद् श्रुत्वा हरिबलश्चिंतयामास 'अहो! मम पुण्यपरिपाकः! ममासौ देवो विस्मृतः परं मत्संकटे स स्वयमेव प्रकटीभूतः,' इति विचिंत्य स देवं प्रत्युवाच 'हे प्रभो! मम लंकायां कार्यमस्ति, ततस्तत्र मां नय?' तद् श्रुत्वा मकररूपधारी देवस्तं निजपृष्टे निवेश्य क्षणेन लंकासमीपे नीतवान्. ततस्तेनोक्तं 'भो हरिबल! अत्रैकः सर्वर्तुपुष्पफलोपेतो वनखंडो वर्त्तते, तत्र त्वं स्वेच्छया क्रीडां कुरु?' तद् श्रुत्वा हरिबलस्तत्र वनखंडे प्राविशत्, तत्र च तेनैको विमानतुल्यः कनकप्रासादो दृष्टः, कौतुकेन च तत्र प्रविष्टो मनुष्यं विना स्वर्गोत्तमसुकाफलादि दृष्टवान्. ततः क्रमेण सप्तभूम्युपरि गतस्तत्रैकां मृतकन्यां रूपलावण्योपेतां ददर्श तां च दृष्ट्वा चिंते स चिन्तयति अहो अत्र शून्यमंदिरे कथमेषा बाला मृता पतिता दृश्यते? इतस्ततो विलोकयता तेन तत्रैकं तुंबमृतसंजीवनं दृष्टं, तद् गृहीत्वा तत्रस्थरसेन दयया तेन सा बाला सिक्ता, तत्क्षणं नवयौवनमनोहरदेहा सा बालोत्थिता सती हरिबलं प्रत्याह:' भोः सत्पुरुष! मया ज्ञातं यत्तवोपकारकरणेन नूनं त्वं पुरुषोत्तमोऽसि. तथापि कोऽसि त्वं? 'किमर्थं चात्रागतस्तत्कथ्यतां?' तेनोक्तं 'विशालानगरी मदनवेगनृपस्याहं हरिबलनामा सेवकोऽस्मि, तस्य मित्रलंकानगर्याधिपतिर्विभीषणस्य निमंत्रणार्थं चाहमत्रागतोऽस्मि. अथ त्वमपि सर्वं यथार्थं वृत्तान्तं कथय?'

तदा सा बाला रोमांचिता सत्युवाच, 'लंकापतेरेकः पुष्पचूडनामा प्रकृत्या कटुको मालिकोऽस्ति, तस्य कुसुमश्रीनामाहं

पुत्र्यस्मि. एकदा कोऽपि सामुद्रिकशास्त्रवेत्ता विप्रो मम जनकपार्श्वे समागतः, मज्जनकेन च तं प्रत्युक्तं 'भो विप्र ! मम पुत्र्या हस्तरेखां त्वं विलोकय ? तेनापि मम हस्तं विलोक्य कथितं भो पुष्पाजीविन् ! तव पुत्र्या हस्तरेखासु अतीवशुभलक्षणानि पतितानि संति, अतस्तव पुत्रीं यः परिणेष्यति स नूनं राजा भविष्यति. यदुक्तं—

भृंगारासनवाजिकुंजररथश्रीवत्सयूपैः शुभै—र्मालाचामरकुंडलांकुशयवैः शैलध्वजैस्तोमरैः ॥
मत्स्यस्वस्तिकवेदिकाव्यजनकशंखातपत्रांबुजैः। पादे पाणितले नरा नृपतयो राज्यो भवंति स्त्रियः ॥ १ ॥
यद्भाले स्यात् त्रिशूलं सा, स्वामिन्यखिलयोषितां। हसंत्याः स्वस्तिको यस्या, भाले दृश्येत सापि च ॥२॥

इति श्रुत्वा मम पिता राज्यलोभाकुलो मूढो मत्पाणिग्रहणार्थमभिलाषं चकार, धिग् धिग् लोभाकुलं नरं. इति तद्भावं विज्ञाय मम मातृभ्रातृप्रभृतिस्वजनवर्गेण निषिद्धोऽपि मे जनकस्तद्विचारान्न न्यवर्त्तत. तदा स सर्वैर्बहिर्निष्कासितस्त्वरितं मां गृहीत्वा पापात्माऽत्र वने समागतः, विद्यया चावासं कृत्वा स्थितः, यदा कस्मैचित्प्रयोजनाय स बहिर्गच्छति तदा विद्यया मां मृतावस्थां करोति. पुनरागतश्च तुंबरसेन पुनर्जीवितां करोति. एवं भो सज्जन ! मरणं वांछन्त्यहमत्र दुःखाकुला तिष्ठामि. अतो हे सत्पुरुष ! कृपां विधाय त्वं मां परिणीयास्माद् दुःखसागरान्निस्तारय ?' तत् श्रुत्वा हरिबलश्चिंतयति ' अहो ! जीवदयारूपकल्पलतायाः फलमीदृगेव, यद्विद्याधरसुतापि हीनकुलं मां परिणयितुमिच्छति,' इति ध्यात्वासौ तां परिणीतवान्. ततस्तेन हरिबलं प्रत्युक्तं ' हे स्वामिन्नधुना चेन्मम जनकोऽत्र समेष्यति तदा स कमप्यनर्थं करिष्यति, अत इतः स्थानादावामन्यत्र गच्छावः.' तत् श्रुत्वा हरिबल उवाच 'हे प्रिये महता कष्टेन यत्कार्यार्थमहमत्रागतोऽस्मि तत्कार्यं कृत्वा पश्चा-

द्गम्यते तदा वरं.' तयोक्तं 'हे स्वामिन्! एवं खेचरेंद्रा यत्र तत्र न गच्छंति, अतस्ते राज्ञः प्रत्ययार्थं किंचिदभिज्ञानमहमानयिष्यामी'त्युक्त्वा सा बाला बिभीषणभुवने गत्वोपायेन तस्य चंद्रहासखड्गं गृहीत्वानीय हरिबलहस्ते समर्पयामास. ततो भार्यासहितः प्रमुदितोऽसौ सारं धनं गृहीत्वा समुद्रतटे समायातः, तदा मत्स्यरूपेण देवेन तौ स्वपृष्टे समारोप्य विशालानगरीसमीपे समानीतौ. तत्र हरिबलो भार्यायुतो दिवसे वनखंडे स्थितः, रात्रौ च कुसुमश्रियमापृच्छ्य स्वगृहे समागत्य प्रच्छन्नं निजगृहस्वरूपं पश्यति.

अथ कामाग्निना विह्वलीभूतो मदनवेगराजा एकाक्येव वसंतश्रीपार्श्वे दुष्टबुद्धया समागतः, महासती वसंतश्रीरपि तस्य दुष्टाभिप्रायं विज्ञाय बाह्यतस्तस्यासनादिभक्तिं चकार. हृष्टो राजा तां प्रत्यवदत्, हे शशिवदने! त्वं रूपेण रतितुल्यासि, अहं च मदनसमानोऽस्मि, अत आवयोः संयोगमिलने ब्रह्मणः प्रयासः सफलो भविष्यति.' तत् श्रुत्वा वसंतश्रीर्विषण्णा सत्यचिन्तयत् 'अरे दैव! अयं राजा, अहं चात्रैकाकिनी शरणरहिता किं करोमि? कथं च मम शीलं रक्षामि? शीलं विना हि स्त्रीजन्म वृथैव भवेत्. उक्तं च—

**[1]अणंताओ पावरासीओ। जया उदयमागया ॥ तया इत्थीत्तणं पत्तं। सम्मं जाणाहि गोयमा ॥१॥**

यद्यपि रुष्टो राजा चेन्मम प्राणान् हरेदथवा तुष्टः संपदं दद्यात्तथापि मे शीलं नाहं खंडयिष्यामी' ति ध्यात्वा हर्षितवदना वसंतश्रीर्नृपमुवाच 'हे स्वामिन्नद्य भवद्भिर्महाप्रसादः कृतो यन्मे गृहे यूयं समागताः, परं भवत्प्रार्थना योग्या नास्ति,

१ अनन्ताः पापराशयः यदा उदयमागताः तदा स्त्रीत्वं प्राप्तं सम्यग् जानीहि गौतम!॥

यत उत्तमकुलप्रसूतानां स्त्रीणां जीवति भर्त्तरि परपुरुषेण सह वार्तालापोऽपि न युक्तस्तर्हि शीलखंडने का वार्ता ?'

तदा राजा हसन् प्राह 'हे भद्रे ! मरणार्थमेव तव भर्त्ता मया विषमसंकटे क्षिप्तोऽस्ति, चेत्कदापि जीवन्नागमिष्यति तदाप्युपायेनाहं तं मारयिष्यामि. अतः सर्वमपि विचारं त्यक्त्वा त्वं मां भजस्व ?' तत् श्रुत्वा वसंतश्रीश्चिन्तयति धिगस्तु कामातुराणां. उक्तं च—

१ कुवियस्स आउरस्स य, वसणासत्तस्स कामाउरस्स । मत्तस्स मरंतस्स य, सब्भावा पायडा हुंति ॥१॥

अथात्र कालक्षेपकरणं वरमिति विमृश्यौत्सुक्यं निवार्य साहसमालंब्य तयोक्तं 'स्वामिन् ! तावती शीघ्रता कथं क्रियते ? कार्यं त्वधुना हस्तगतमेव वर्त्तते, ततो यावन्मम भर्तुः शुद्धिर्ज्ञायेत् तावद्यूयमौत्सुक्यं निवारयत ?' तत् श्रुत्वा राजा चिन्तयति सांप्रतमेषा मम वशेऽस्ति, ततश्चेच्चङ्मर्तागमिष्यति तर्ह्यनमुपायेन मारयिष्यामीति ध्यात्वा प्रमुदितो राजा स्वगृहे ययौ.

अथ वसंतश्रीः सखीं प्रति कथयति, 'हे भद्रे ! यदि भर्त्ता नागमिष्यति तदाहं मम शीलं कथं रक्षयिष्यामि ? यदि च स कुशलेनात्रागमिष्यति तथाप्यसौ द्वेषी राजा तस्यामंगलं करिष्यति, हा ! हा ! अधुना मम मरणं समागतं'.

अथ हरिबलस्तत्सर्वं श्रुत्वा चिन्तयति 'नूनं धन्यैषा राजपुत्री पुण्यात्मा यया युक्त्या निजशीलं रक्षितं.' ततो हरिबलः प्रकटीभूय वसंतश्रीसमीपे समागतः, वसंतश्रीरप्यतीव हृष्टा सती स्वभर्तुः प्रतिपत्तिं चकार. प्रस्तावे तया पृष्टो हरिबलः स्वकीयं वृत्तांतमकथयत्, तत् श्रुत्वा वसंतश्रीरुवाच 'हे स्वामिन् ! मम भगिनी वनखंडे कथं मुक्ता ? तस्या मिलनार्थं मेऽतीवोत्कंठा

१ कूपितस्य आतुरस्य च व्यसनासक्तस्य कामातुरस्य च मत्तस्य मृत्युग्रस्तस्य सद्भावाः प्रगटाः भवन्ति ॥

जातास्ति.' इत्युक्त्वा सा निजसपत्नीसन्मुखं गता, कुसुमश्रीरपि वर्षनश्रियमागच्छंतीं दृष्ट्वा तत्सन्मुखं गत्वा तत्पादयोरपतत्.

१ अइकलुसेवि सपत्ति–त्तणे सिणेहो मिहो समुप्पण्णो ॥ तह जह जणेहिं णायं। सच्चं भइणित्तणं तासिं ॥१॥

अथ ते द्वे अपि भगिन्यौ स्थोपविष्टे गृहं समागते.

अथ हरिबलप्रेषितेनैकेन पुरुषेण राज्ञोऽग्रे समागत्योक्तं 'हे स्वामिन् ! भवद्भिर्लंकायां विभीषणसमीपे प्रेषितो हरिबलो विभीषणपुत्रीं तत्र परिणीय तया युतोऽस्मदुपवने भवत्प्रसादात् कुशलेनागतोऽस्ति. तत् श्रुत्वा खिन्नचित्तो राजा चिन्तयति धिग्धिग् मम मनोरथा निष्फलीभूताः. मम दुर्दैववशादयं तु प्रत्युत लंकायां गत्वा विभीषणपुत्रीमपि परिणीय समागतः.' इति विषण्णो राजा बाद्यतो महोत्सवपूर्वकं हरिबलं नगरे समानीतवान्.

अथ प्रणामानंतरं सत्कारपूर्वकं राजा हरिबलमपृच्छत्. 'भो हरिबल ! त्वं लंकायां कथं गतः, कथं च पुनरागतः ?' हरिबलो वक्ति 'स्वामिन् भवदादेशेनाहमितश्चलितः कतिचिद्दिवसैर्जलधितीरं प्राप्तः, दृष्ट्वा दुरुत्तरं च जलधिं यावदहमुद्विग्नः स्थितस्तावदेको राक्षसो मया तत्रागच्छन् दृष्टः, तं नमस्कृत्य मया लंकागमनोपायः पृष्टः, तेनोक्तं 'भो सत्पुरुष ! यः पुमान् काष्टभक्षणं करोति स एव लंकायां गच्छति.' तत् श्रुत्वा मया काष्टभक्षणं कृतं, राक्षसेन ममरक्षां गृहीत्वा विभीषणाग्रे मुक्ता, ततो मम सत्त्वेन तुष्टो विभीषणो निजशक्त्या तत्क्षणमेव मां जीवितं विधाय मम निजपुत्र्या कुसुमश्रिया सह विवाहं कृतवान्, दिव्यानि वस्त्राभरणानि च तेन मह्यं दत्तानि' ततो मया कथितं 'स्वामिन्! विलासपुरस्वामिनो निजपुत्रीविवाहे

१ अतिकलुषे सपत्नीत्वे स्नेहो मिथः समुत्पन्नः । तथा यथा जनैः ज्ञातं सत्यं भगिनीत्वं तयोः ॥

भवतां निमंत्रणार्थमहं प्रेषितोऽस्मि, भवतां च तत्रागमनेन स मे राजा श्लाघनीयो भविष्यति.' इति मया विज्ञप्तो बिभीषण उवाच ' भो पुरुष ! त्वं याहि ? अहं तु स्वयमेव विवाहोपर्यागमिष्यामि.' इत्युक्त्वा भवदभिज्ञानार्थं स्वचंद्रहासखड्गस्तेन मम करे समर्पितः, ततस्तेन स्वविद्याबलेनाहमत्रानीय मुक्तः, इत्युक्त्वा हरिबलेन स खड्गो नृपहस्ते मुक्तः. तादृक्-न्याखड्गाभिज्ञानादिना राज्ञा तत्सर्वं सत्यं ज्ञातं, चिन्तितं च मम वचनेनासौ भस्मसाज्जातः, अतोऽसौ मया माननीयः, ततो राजा गाढस्वरेणावददहो महाप्राज्ञः सौभाग्यवान् स्वामिकृत्यकरणे दक्षोऽसौ हरिबलोऽद्यतो मम परममित्रं, इति प्रशस्य सत्कारपूर्वकं तं गृहे प्रेषयामास.

अथ राजा कामतप्तोऽपि तस्य लोकोत्तरं चरित्रं दृष्ट्वा मंदरागो जातः.

अथैकदा भार्याभ्यां निवारितोऽपि हरिबलो राजानं भोजनार्थं निजगृहे निमंत्रयामास. भोजनसमये च राजा हरिबल-गृहे समागतः, वसंतश्रीकुसुमश्रीभ्यां च निजनवनववेषं विधाय राजानं परिवेष्य निजचातुरी दर्शिता, तद्दर्शनेन पुनरपि पापात्मा राजा कंदर्पपीडितश्चिंतयति एतावत्यः स्त्रियोऽनेन कुतः प्राप्ताः ? ईदृग्भार्या मम गृहेऽपि न संति.

अथ भोजनानंतरं राजा स्वावासे समागत्य मंत्रिणं कथयामास ' भो मंत्रिन् ! हरिबलस्य गृहे कति भार्याः संति ? दुष्टमंत्रिणोक्तं स्वामिंस्तस्य गृहे द्वे एव भार्ये स्तः, परं ताभ्यां नवनववेषं विधाय भवद्भ्यः परिवेषितं.' तत् श्रुत्वा मदन-पीडितो राजा मंत्रिणं जगाद ' भो मंत्रिन् ! त्वं निजबुद्धया हरिबलस्य मारणोपायं विचिंतय ?' तत् श्रुत्वा स दुरात्मा मंत्री वदति ' हे स्वामिन्नग्निप्रविष्टः कदापि कोऽपि न जीवति, तेनासौ यमनिमंत्रणमिषेणाग्नौ क्षिप्यते, राजावदत् ' हे

मंत्रिन्नेतत्त्वया साधूक्तं, तव मतिर्भव्या वर्त्तते.'

अथान्यदा राजा हरिबलमाकार्यावदत् 'हे सत्पुरुष! असाध्यकार्यविषयेऽपि तव शक्तिरस्ति. अतस्त्वमग्नौ प्रविश्य सपरिवारं यमं मत्कृते निमंत्रयस्व ? किं च भो मित्र! एतन्मम कार्यं कर्तुं त्वमेव समर्थोऽसि.' तत् श्रुत्वा स चिन्तयति नूनमयं तस्य कुमंत्रिण एव प्रपंचोऽस्ति, पूर्वमपि राज्ञाऽस्यैव दुष्टस्य प्रपञ्चेनाहं जलधौ क्षिप्त आसीत्.' उक्तं च—

**उपकृतिरेव खलानां, दोषस्य महीयसो भवति हेतुः। अनुकूलाचरणेन हि, कुप्यंति व्याधयोऽत्यर्थं ॥१॥**

इति विमृश्य हरिबलेन राज्ञोक्तं तत्सर्वमंगीकृतं, गृहे च समागत्य भार्याभ्यां निवेदितं. ताभ्यामुक्तं 'हे नाथ आवाभ्यां तु यूयं पूर्वमेव निवारिताः, परं युष्माभिस्तन्न स्वीकृतं,' हरिबलेनोक्तं 'भवतीभ्यां कापि चिन्ता न करणीया, सर्वमपि भव्यं भविष्यति'.

अथ राज्ञा नगराद्बहिश्चिता कारिता. सा च ज्वलदग्निना जाज्वल्यमाना बभूव, राजा मंत्री चापि तत्समीपे समागतौ.

अथ हरिबलेन स्मृतमात्रागताय जलधिदेवाय स सर्वोऽपि वृत्तान्तः कथितः, तेनोक्तं 'भो हरिबल! त्वं तु निजगृहे एव सुखेन तिष्ठ ? रूपं विधायाहं तत्र प्रविश्यामी' त्युक्त्वा हरिबलरूपं कृत्वा स देवश्चितासमीपे समाययौ, सर्वलोकेषु पश्यत्सु स हरिबलरूपो देवश्चितायां झंपां दत्वा देवमायया भस्मीभूतः, ततः सर्वेऽपि लोका हाहारवं कुर्वन्ति, परं तौ द्वौ राजामंत्रिणौ हर्षितौ जातौ. 'अरे लक्ष्मीललनालुब्धेन राज्ञा हरिबलोऽग्नौ क्षिप्त इति लोका नृपमंत्रिणौ निन्दयामासुः.

अथ राजा कामाग्निना तप्तगात्रः सन् हरिबलगृहे समागतः, पत्नीभ्यां हरिबलायोक्तं 'हे स्वामिन्! यूयं प्रच्छन्नीभूया-

स्माकं कौशलं पश्यत ?' हरिबलेन तथाकृते ताभ्यां नृपस्य सन्मानपूर्वकं स्वागतं कृतं, तदत्तासनोपविष्टो राजा ताभ्यामुक्तो 'हे स्वामिन्नद्यात्र भवतामागमनं कुतो जातं ?' राजा ग्रहिलवद्वास्यं कुर्वन्नुवाच 'किं भवतीभ्यां न ज्ञातं ? भवदानयनार्थमेवाहं समागतोऽस्मि.' ताभ्यामुक्तं 'स्वामिन् भवतामेतन्न युज्यते, यतो राजा सेवकजनस्य जनक उच्यते. उक्तं च—

१परइत्थो देवित्थी। सरिसावि हवेउ सुपरिहरणिज्जा॥ पुंरसाण सेवगित्थी। सुआवि दूरं विसेसेणं ॥१॥

ततो हे महाराजा! अस्मद्गृहात्वं दूरं याहि ? प्राणांतेऽपि आवां स्वशीलं नैव खण्डयिष्यावः, उक्तं च—

वरं शृगोत्तुंगाद्गुरुशिखरिणः क्वापि विषमे। पतित्वायं कायः कठिनदृषद्दंतैर्विदलितः ॥
वरं न्यस्तो हस्तः फणिपतिमुखे तीक्ष्णदशने। वरं वह्नौ पातस्तदपि न कृतः शीलविलयः ॥१॥

कल्याणमिच्छता पुंसा सर्वदा न्यायमार्गे एवं वर्तनीयं, अन्यायश्च दूरे परिहरणीयः, नीत्या च सर्वसंपदो भवन्ति,

इत्यादियुक्तिभिः प्रतिबोधितोऽपि राजा न प्रतिबुद्धः, कामग्रहगृहीतः सन् भोगप्रार्थनामेव चकार. प्रतिषिद्धोऽपि यदा न स्वस्थीभूतस्तदा कुसुमश्रिया स विद्यया दृढबंधनैर्बद्धो लगुडप्रहारैश्च कुट्टितस्तेन चिरपोषिता अपि दंतास्तस्य मुखात्पतिताः, एवं पीडितो राजा दुःखेनाक्रंदं चकार. तदा कुसुमश्रियोक्तं 'अरे दुष्ट! त्वया पापफलं दृष्टं न वा ? त्वयेदकृत्यं पुनर्न कर्त्तव्यमिति' कथयित्वा करुणया बंधनान्मुक्तः, ततोऽसौ बहुतरं शोचयन् लज्जया चाधोमुखं विधाय स्वावासे प्राप्तः,

अथ हरिबलो निजस्त्रीकौशलं दृष्ट्वातीवविस्मितस्ताभ्यां कथयामास, 'भो प्रिये! भवतोभ्यामेतद्भव्यं कृतं. मूर्खो

१ परस्त्री देवस्त्री सदृशापि भवति सुपरिहरणीयाः पुरुषाणां सेवकस्त्री सुताऽपि दूरं विशेषेण।

हि मुखभञ्जनं विना स्थाने नायाति, किञ्चास्य कुमार्गप्रेरको हि स दुष्टो मन्त्येवास्ति, यदधुना स दुर्जनो मूलादेवोन्मूलनीयः,' इति निजभार्यया सममामंत्र्य देवं च सार्थं गृहीत्वा प्रभाते राजसभायामाययौ. हरिबलं दृष्ट्वातीव विस्मितो राजाचिन्तयदहो साक्षात्प्रत्यक्षं रक्षीभूतोऽसौ हरिबलः पुनरत्र कथमागतः ?' इति विह्वलीभूतो राजा हरिबलमपृच्छद् 'भोः साहसिकशिरोमणे ! त्वमत्र कथमागतः ? असौ च तव पार्श्वे समुपविष्टः सुरः कोऽस्ति ?' हरिबलेनोक्तं 'स्वामिन् शृणु ? अहं युष्मत्प्रत्यक्षमेव भस्मीभूतः, ततो यमकिङ्करैर्मम रक्षा गृहीत्वा यमपार्श्वे मुक्ता, यमेन चाहं स्वशक्त्या संजीवितः. तत्प्रभावाच्च मम शरीरेऽतीवकांतिः प्रादुर्भूता, तत्र गतेन च मया या शोभा ऋद्धिश्च विलोकिता तस्या वर्णनं सहस्रजिह्वाभिरपि कथयितुं समर्थो न भवामि, तत्र संयमिनीनाम नगरी वर्त्तते, धर्मराजा च तस्यां राज्यं करोति, पुण्यवंतो लोकास्तत्र वसन्ति, शक्रादयः सर्वे देवास्तस्य राज्ञः सेवां कुर्वन्ति, किं बहुना ! सकलमपि त्रिभुवनं तस्य सेवायां वर्त्तते. अयं मत्पार्श्वस्थितश्च प्रियवदननामा तस्य यमस्य प्रतिहारोऽस्ति, तुष्टः सन्नसौ कल्पवृक्षसमोऽस्ति, रुष्टश्च लोकानां कालतुल्योऽस्ति. अथ मया प्रियेवचनैर्यदा यमराजो भक्तकृते निमंत्रितस्तदा स तुष्टः सन्नित्युवाच 'भो पुरुष ! नूनं तत्राहमागमिष्यामि परमेकवारं तवावनीनाथो मन्त्र्यादियुतो यदि समागच्छेत्तदा वरं, यथा तन्मंत्रिप्रभृतीनां भक्तिं कृत्वातीवरूपवतीं कन्यां दिव्याभरणानि च दत्वा पश्चादहमागमिष्यामि. अतस्त्वं शिघ्रं याहि, राजानं सर्वमंत्रिवर्गं च शिघ्रं प्रेषय ?' इति कथयित्वा तेनाहं विसृष्टः, भवतामाकारणार्थं मम च मार्ग-दर्शनार्थमसौ प्रतीहारस्तेन मया सार्द्धं प्रेषितोऽस्ति." ततो यद्धरिबलेनोक्तं तत्सर्वं देवेनापि तथैवोक्तं. तत् श्रुत्वा राजादयः सर्वेऽपि लोकास्तत्सर्वं सत्यमेव मेनिरे.

युक्तियुक्तस्य कूटस्यां—तं ब्रह्मापि न गच्छति ॥ कोलिको विष्णुरूपेण, भजते राजकन्यकां ॥१॥

अथ राजा हरिबलं कथयति 'भो महाभाग ! यमपुरीगमने ममोत्साहो वर्त्तते, ततो बहिर्गत्वा विशालां चितां कुरु ? यथा मम मित्रमिलनाय शिघं गच्छामि.' ततो हरिबलेन तथा कृते राजा सकलपुरीजनसमक्षं यावदग्नौ प्रविशति तावद्धरिबलेन चिन्तितं 'अरे ! मुधा मयैतत्किमारब्धं ? निरपराधिपंचेंद्रियवधात्प्राणी नरके पतति', इति विचिन्त्य हरिबलो नृपं प्रत्युवाच 'हे राजन् त्वमौत्सुक्यं मा कुरु ? यदि तव फलाभिलाषश्चेत्तदा मम कथितं कुरु ? यस्तवाधिकमान्यः पुरुषो भवेत्सोऽग्रे व्रजतु, पश्चाद्युष्माभिर्गन्तव्यं.' तत् श्रुत्वा स कुमंत्री चिन्तयति नूनं पूर्वगमनतो ममेष्टलाभो भविष्यति, उक्तं च

दाने पाने शयने व्याख्याने, भोजने सभास्थाने । क्रयविक्रयेऽतिथित्वे, राजकुले पूर्णफलमाद्ये ॥१॥
शून्येऽरण्ये भवने, ग्रामे तोये च संग्रामे । आरोहेऽप्यवरोहे, पाश्चात्यस्य भवेल्लाभः ॥२॥

इति ध्यात्वा मंत्रिणोक्तं 'स्वामिन् यदि भवदीयाज्ञा चेत्तर्हि अहमेवाग्रे यामि.' राज्ञोक्तं 'सुखेन त्वं गच्छ ?' तव पृष्टेऽहमपि समागमिष्यामि.' ततोऽसौ मंत्री उत्सुकीभूय ज्वलज्ज्वलने प्रविष्टस्तत्क्षणमेव भस्मीभूतश्च, ततो राजापि यावत्तत्पृष्टे चितायां पतति, तावद्धरिबलेन करुणया स हस्ते धृतः, उक्तं च 'हे राजन् ! इदं राज्यसुखं मुधा मा हारय ? अग्नौ पतितो न कोऽपि जीवति, न चैतत्सर्वं सत्यं, मयेदं सर्वं त्वत्प्रबोधाय कूटं मण्डितमस्ति. इयं सर्वापि तव विडम्बना तेन कुमंत्रिणैव कारिता, तेनैव त्वं संकटे पातितः कुट्टापितो दशनविहीनश्च कारितः उक्तं च—

१मा जीवेउ स पुरिसो। जो कुमइं देइ विससंताणं । जो परवंचणनिउणो, परधणमहिलारओ जो अ ॥१॥

१ मा जीवतु स पुरुषः य कुमतिं ददाति विश्रस्तानां यः परवञ्चननिपुणः परधनमहिलारतो यश्च ॥१॥

ततोऽसौ तव कुमंत्री च मयोपायं कृत्वाग्नौ क्षिप्तोऽस्ति, यतो व्याधिर्विषद्रुमो दुष्टात्मा पुमांश्च येन केनापि प्रकारेण शिघ्रं छेद्यः, त्वं च मम नाथोऽसि तेन त्वां कथमग्नौ क्षेपयामि ? चेत्त्वामहमग्नौ प्रविशन्तं न निवारयामि तदाहं स्वामिद्रोही स्यां,' तत् श्रुत्वा राजा चिन्तयति 'हा दुष्टं कृतं मया, अनेन मम सर्वं चरित्रं ज्ञातं.' इति ध्यात्वा राजा लज्जया यावदधोमुखीभूतस्तावद्धरिबल उवाच 'हे स्वामिन् ! त्वं चिंतां मा कुरु ? अहं तव सेवकोऽस्मि, त्वं च मम नाथोऽसि,' इत्यादिमिष्टवचनैः स राजानं संतोषयामास.

राजापि हृष्टः सन् हरिबलं पृच्छति 'भो महाभाग ! तवेदृशी शक्तिः कथं जाता,' तदा हरिबलेन सर्वापि जलधिदेववार्त्ता तस्मै निवेदिता. नृपतिरपि तद्वार्त्तां श्रुत्वा विस्मितः सन् चिन्तयति, 'अरे मयाम्य बहवोऽपराधाः कृताः, परमनेन महात्मनाहं मरणादपि रक्षितः, अहो एष मम महोपकारी वर्त्तते', एवं हरिबलस्य प्रशंसां कुर्वन् सर्वलोकयुतो राजा निजगृहे समागतः, हरिबलस्य परोपकारतां स्मरन् तस्मै निजपुत्रीं दत्वा हर्षेणाऽसौ तत्पाणिग्रहणमहोत्सवं चकार, करमोचनावसरे च स्वकीयं सर्वं राज्यं हरिबलाय वितीर्य स्वयं वैराग्यवासितमानसः संसारासारतां विज्ञाय सुगुरुसमीपे दीक्षां जग्राह. ततोऽसौ राजर्षिः शुद्धचारित्रपालनेन सकलकर्मक्षयं कृत्वा केवलज्ञानं प्राप्य भव्यजीवान् प्रतिबोध्य सिद्धिं गतः.

इतो हरिबलो राजा न्यायेन राज्यं पालयति,

अथ कांचनपुरराज्ञा निजपुत्र्याः शुद्ध्यर्थं सर्वत्र स्वपुरुषाः प्रेषिताः, तैर्हरिबलस्य वृत्तान्तं ज्ञात्वा तत्स्वरूपं राज्ञे निवेदितं ततो राज्ञा ज्ञातं यन्मम पुत्री येन हरिबलेन परिणीता स महादाता शूरवीरश्च श्रूयते. यतः—

वार्ता च कौतुकवती विशदा च विद्या लोकोत्तरः परिमलश्च कुरंगनाभेः ॥
तैलस्य बिंदुरिव वारिणि दुर्निवार—मेतत्त्रयं प्रसरतीति किमत्र चित्रं ॥ १ ॥

इति ज्ञात्वा राज्ञा हरिबलाकारणार्थं निजप्रधानपुरुषाः प्रेषिताः ते च हरिबलसमीपे समागत्य तं विज्ञपयामासुः 'हे स्वामिन्! वसंतश्रीपिता भवतामाह्वयति. तत् श्रुत्वा हरिबलश्चतुर्विधसैन्यं संमेल्य भार्यात्रययुतस्ततश्चलितः क्रमेण कांचनपुरे प्राप्तः, राज्ञा च महोत्सवेन तस्य नगरप्रवेशः कारितः, ततो राज्ञा हरिबलस्य प्रशंसां विधाय निजपुत्री सन्मानिता सत्कारिता च.

अथ हरिबलं योग्यं विज्ञाय तस्मै निजं राज्यं दत्वा राजा स्वयं दीक्षां गृहीत्वा दुष्करतपो विधाय केवलज्ञानमुत्पाद्य मुक्तिं ययौ.

अथ हरिबलः सुखेन राज्यद्वयं पालयामास, प्रथमास्त्रयो भार्यास्तस्य पट्टराज्ञयो बभूवुः, अन्या अपि तस्य बहव्यो राज्ञयोऽभवन्, एवं स भार्याभिः सह विविधसुखानि भुङ्क्ते.

अथान्यदा वनपालेनागत्य तस्मै निवेदितं 'स्वामिन्! भवतां धर्माचार्या उपवने समागताः सन्ति,' तत् श्रुत्वा राजातीवहृष्टो वनपालाय बहुदानं दत्वा तं व्यसर्जयत्, ततोऽसौ महताडंबरेण तत्र गत्वा गुरुं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वन्दनपूर्वकं विज्ञपयामास, 'हे स्वामिन् हीनकुलोत्पन्नेनापि मया भवत्प्रसादादेवैषा ऋद्धिः प्राप्ताऽस्ति, अतः कृपां विधाय पुनरपि मां यूयं धर्ममादिशत, येनाहं परभवेऽपि सुखी भवामि.'

गुरुणोक्तं 'भो हरिबल ! त्वं धन्योऽसि यत्तव मतिर्धर्मविषये वर्त्तते. उक्तंच—

'केचिद्भोजनभङ्गनिर्भरधियः केचित्पुरंध्रोपराः, केचिन्माल्यविलेपनैकरसिकाः केचिच्च गोतोत्सुकाः। केचिद् द्यूतकथामृगव्यमदिरानृत्यादिबद्धादराः; केचिद्वाजिगजोक्षयानरसिका धन्याः सुधर्मे रताः ॥ १ ॥

भो भद्र ! धर्मस्य द्वौ भेदौ स्तः, एको यतिधर्मः पंचमहाव्रतरूपः, द्वितीयश्च श्रावकधर्मो द्वादशव्रतात्मको वर्त्तते. ततस्तयोर्मध्ये यद्विषये तव सामर्थ्यं भवेत्तद्गृहाण ? '

हरिबलेनोक्तं 'हे भगवन् ! सर्वविरतिरूपं यतिधर्मं पालयितुं नाहं समर्थः, तेन श्रावकधर्मो मम दीयतां, गुरुणापि द्वादशव्रतरूपो गृहिधर्मो हरिबलाय दत्तः,

एवं गृहस्थधर्मं प्रतिपद्य हरिबलो गुरुपादयोर्वन्दनं विधाय गृहमागतः सम्यक्प्रकारेण तद्धर्मं करोति. ततस्तेन स्वदेशेऽमारिपटहो वादितः, मारीति शब्दं मुखादपि कोऽपि न वदति. स्वकीयदेशात्तेन सप्ताऽपि व्यसनानि निवारितानि, एवं तेन लोकानां बहव उपकाराः कृताः—

[1]मेहाण जलं चंदाण—चंदणं तरुवराण फलनिवहा॥ सप्पुरिसाण च वित्तं सामन्नं सयललोअस्स ॥१॥

किञ्च तेन स्वदेशे ग्रामनगराणि जिनमंदिरमंडितानि विहितानि,

एवं पुण्यकार्याणि कुर्वंतस्तस्योद्यानेऽन्यदा गुरवः समागताः, राजा हृष्टः सन् तेषां वंदनार्थं तत्र गतः, गुरुं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य

१ मेघानां जलं चन्द्राणां चन्दनं तरुवराणां फलनिवहाः सत्पुरुषाणां च वित्तं सामान्यं सकललोकस्य.

वंदित्वा चाग्रे उपविष्टः, गुरुणापि च धर्मोपदेशो दत्तः, हरिबलोऽपि धर्मं श्रुत्वा संसारासारतां विज्ञाय भार्यायुतो दीक्षामासाद. ततः सम्यग्रीत्या दीक्षां प्रतिपाल्य केवलज्ञानमुत्पाद्य हरिबलराजर्षिर्मुक्तिं ययौ,

एवं हरिबलकथानकं श्रुत्वा भो भव्या जीवदयाविषये आदरं कृत्वा प्रथमव्रतं पालनीयं.

**॥ इति श्रीप्राणातिपातविरमणव्रतोपरि हरिबलकथा समाप्ता ॥**

---

इति श्रीजिनवरमुखात् श्रुत्वा हृष्ट आनंदगृहपतिः श्रावकभंगेन प्रथमाणुव्रतं प्रत्यपद्यत. तथाहि—निरपराधिजीवानां मारणे मम नियमोऽस्तु, त्रसादिजीवानां सापराधानां निर्दयतया मारणेऽपि मम नियमः, एकेंद्रियादिजीवानां च यतना, इति प्रथमव्रतं स भावेन गृह्णातिस्म. प्रभुणोक्तं 'भो आनंद! श्रमणोपासकेन पुनः प्रथमव्रतस्य पंचातिचारा न समाचरितव्याः, तद्यथा—

**वह १ बंध २ छविच्छे ए ३। अइभारे ४ भत्तपाणवुच्छए ५॥ पढमवयस्सइयारे।, पडिक्कमे देसियं सव्वं ॥१॥**

व्याख्या—वधो निर्दयतया कशादिभिस्ताडनं प्रथमः १, बंधो रज्ज्वादिभिर्निरपेक्षतया दृढबंधनं २ छविच्छेदः, छविः शरीरं तस्य छेदः शस्त्रेण कर्णादिकर्त्तनं वृषणच्छेदनादि च ३ अतिभारो गवादीनां स्कंधे पृष्ठे च सामर्थ्यातिरिक्तभारारोपणं ४ भक्तपानव्यवच्छेदा वृषभादिनां वेलाप्राप्तावपि अन्नजलघासनिवारणा ५ इति प्रथमव्रतस्य पञ्चातिचारा ज्ञेयाः.

अथ द्वितीयाणुव्रतमाह—

मन्मनत्वं काहलत्वं, मूकत्वं मुखरोगिताम् । वीक्ष्याऽसत्यफलं कन्या-लीकाद्यसत्यमुत्सृजेत् ॥ ५३॥

उ०—मूका जडाश्च विकला वाग्हीना वाग्जुगुप्सिताः । पूतिगन्धमुखाश्चैव जायन्तेऽनृतभाषिणः ॥१॥

कन्यागौभूम्यलीकानि, न्यासापहरणं तथा । कूटसाक्ष्यं च पञ्चेति, स्थूलासत्यान्यकीर्त्तयन् ॥५४॥

सर्वलोकविरुद्धं यद्यद्विश्वसितघातकम् । यद्विपक्षश्च पुण्यस्य, न वदेत्तदसूनृतम् ॥५५॥

असत्यतो लघीयस्त्व-मसत्याद्वचनीयता । अधोगतिरसत्याच्च, तदसत्यं परित्यजेत् ॥५६॥

असत्यवचनं प्राज्ञः, प्रमादेनापि नो वदेत् । श्रेयांसि येन भज्यन्ते, वात्ययेव महाद्रुमाः ॥५७॥

असत्यवचनाद्वैर-विषादाप्रत्ययादयः । प्रादुःषन्ति न के दोषाः, कुपथ्याद्व्याधयो यथा ॥५८॥

निगोदेष्वथ तिर्यक्षु, तथा नरकवासिषु । उत्पद्यन्ते मृषावाद-प्रसादेन शरीरिणः ॥५९॥

ब्रूयाद्धियोपरोधाद्वा, नासत्यं कालिकार्यवत् । यस्तु ब्रूते स नरकं, प्रयाति वसुराजवद् ॥६०॥

न सत्यमपि भाषेत, परपीडाकरं वचः । लोकेऽपि श्रूयते यस्मात्, कौशिको नरकं गतः ॥६१॥

अल्पादपि मृषावादा-द्रौरवादिषु संभवः । अन्यथा वदतां जैनीं, वाचं त्वदृह का गतिः ॥६२॥

ज्ञानचारित्रयोर्मूलं, सत्यमेव वदन्ति ये । धात्री पवित्रीक्रियते, तेषां चरणरेणुभिः ॥६३॥

अलीकं ये न भाषन्ते, सत्यव्रतमहाधनाः । नापराध्नुमलं तेभ्यो- भूतप्रेतोरगादयः ॥६४॥

आ०—अहिंसापयसः पालि-भूतान्यन्यव्रतानि यत् । सत्यभङ्गात्पालिभङ्गे-ऽनर्गलं विप्लवेत तत् ॥१॥

सत्यमेव वदेत्प्राज्ञः सर्वभूतोपकारकम् । यद्वा तिष्ठेत् समालम्ब्य, मौनं सर्वार्थसाधकम् ॥२॥
पृष्टेनापि न वक्तव्यं, वचो वैरस्य कारणम् । मर्माविल्कर्कशं शङ्का-स्पदं हिंस्रमसूयकम् ॥३॥
धर्मध्वंसे क्रियालोपे, स्वसिद्धान्तार्थविप्लवे । अपृष्टेनापि शक्तेन, वक्तव्यं तन्निषेधितुम् ॥४॥
चार्वाकैः कौलिकैर्विप्रैः , सौगतैः पाञ्चरात्रिकैः । असत्येनैव विक्रम्य, जगदेतद्विडंबितम् ॥५॥
अहो पुरजलस्रोतः-सोदरं तन्मुखोदरम् । निस्सरन्ति यतो वाचः, पङ्ककुलजलोपमाः ॥६॥
दावानलेन ज्वलता, परिप्लुष्टोऽपि पादपः । सान्द्रीभवति लोकोऽयं, नतु दुर्वचनाग्निना ॥७॥
चन्दनं चन्द्रिका चन्द्र-मणयो मौक्तिकस्रजः । आह्लादयन्ति न तथा वाक् सूनृता नृणाम् ॥८॥
शिखी मुण्डी जटी नग्नश्चीवरी यस्तपस्व्यपि । सोऽपि मिथ्या यदि ब्रुते, निन्द्यः स्यादन्त्यजादपि ॥९॥
एकत्रासत्यजं पापं, पापं निःशेषमन्यतः । द्वयोस्तुलाविधृतयोराद्यामेवातिरिच्यते ॥१०॥
पारदारिकदस्यूना-मस्ति काचित्प्रतिक्रिया । असत्यवादिनः पुंसः, प्रतीकारो न विद्यते ॥११॥
कुर्वन्ति देवा अपि पक्षपातं, नरेश्वराः शासनमुद्वहन्ति । शीतीभवन्ति ज्वलनादयो यत्-तत् सत्यवाचां फलमामनन्ति ॥१२॥

द्वितीयव्रते ये नरा हंसराजावत्सत्यं वदन्ति ते त्रिभुवनेऽपि प्रशंसनीया भवन्ति प्राणान्तेऽपि येऽसत्यं न वदन्ति तेषां देवाः प्रशंसां कुर्वन्ति. तत् श्रुत्वानंदेन पृष्टं 'हे भगवन् ! कः स हंसराजा ? कथं च स व्रतं पालयित्वा सुखी जातः ? श्रीजिनवरेंद्रोऽवादीत्.

"अत्रैव भरतक्षेत्रे राजपुरनामनगरमस्ति. तत्र हंसराजा राज्यं करोति, न्यायेन च प्रजां पालयति, स राजा जिनधर्मनवतत्ववेत्ता परमश्रावकोऽस्ति, प्रायो मृषावादं च न जल्पति.

अथ रत्नशृंग इति नामैकः पर्वतो वर्त्तते, तत्र श्रीआदिनाथस्यैकं चैत्यमस्ति, चैत्रीपूर्णिमादिने च तत्र यात्रा भवति, तेन तत्र बहवो लोका मिलन्ति.

अथ हंसराजाऽपि मैत्रिवर्गस्य राज्यभारं समर्प्य स्तोकपरिवारेण तत्रादिनाथस्य यात्रार्थं चचाल. प्रमोदयुतोऽसौ स्थाने स्थाने जिनधर्मं प्रभावयन्नग्रे चचाल. अर्द्धमार्गे यावद्गतस्तावदेको दूतः समागत्य राजानं विज्ञपयति " हे प्रभो! यात्रार्थं चलितान् युष्मान् विज्ञायार्जुनराजाकस्माद्भवन्नगरे सैन्ययुतः पतितः, सर्वेऽपि युष्माकं सुभटास्तेन मारिताः. भांडागारकोष्ठागाराश्वहस्तिरथादिकं सर्वं तेन स्वायत्तीकृतं, भयभीतान् नगरलोकान् विश्वासमुत्पाद्य तत्र निजाज्ञा प्रावर्तिता, स्वयं च सिंहासनोपविष्टः सन् राज्यं करोति. अतो युष्माकं सुमतिमंत्रिणाहं तन्निवेदनार्थं प्रच्छन्नतया भवदग्रे प्रेषितोऽस्मि, अथ भवतां यद्रुच्यते तत्कुरुत ?" तत् श्रुत्वा सुभटा राजनं कथयामासुः "हे स्वामिन्! पश्चाद्गम्यते, भवदग्रे स्थातुं कोऽपि समर्थो नास्ति, अतस्ततः शत्रुं निरवास्य पश्चाद्यात्रायै गमनं वरं." तत् श्रुत्वाऽकंपितहृदयो राजा प्रोवाच–'भो सुभटाः! पूर्वकर्मवशादेव प्राणिनां संपदो विपदश्च भवन्ति, अधुना जिनयात्रां त्यक्त्वा को मूढो राज्यार्थं पश्चाद्वलति ? राज्यर्द्धयस्तु जीवेन संसारे भ्रमणं कुर्वता बहुवारान् प्राप्ताः सन्ति, परं जिनयात्रा दुर्लभा. अतो भो सुभटा जिनयात्रां कृत्वैवाहं पश्चाद्वलिष्यामि नान्यथा" इत्युक्त्वा राजा यात्रार्थं चचाल.

अथ चमूलोकस्तु निजकुटुंबपरिणामदर्शनाद्यर्थं पश्चाद्वलितः. यथा यथा सेवकजनाः पश्चाद्वलन्ति तथा तथा राजा तु हृष्टः सन्नग्रे प्रयाति एवं सर्वे जनाः पश्चाद्वलिताः, एकेन छत्रधरेणैव युतो राजा महाटव्यां प्रवासं कृतवान्.

अथ राज्ञा चिंतितमस्यामटव्यां बहवोऽनार्या भिल्ला वसन्ति, ततो मे वस्त्राभरणादि दृष्ट्वा ते लोभान्धा नूनं मां हनिष्यन्तीति ध्यात्वा स्वाभरणाद्युत्तार्य छत्रधरस्य समर्प्य स्वयमेकाकयेव यात्रार्थं चचाल,

इत एको मृगस्तस्य पार्श्वत उत्प्लुत्य वृक्षघटायां प्रविष्टस्तेन दृष्टः, तत्पृष्टे चैकः किराती धनुर्धरः समागतः स राजानं पृच्छति " हे पुरुष ! इतो य एको मृगः पलायितः स कुत्र गतस्तत्कथय ?" तत् श्रुत्वा राजा चिन्तयति " यद्यहं सत्यं कथयिष्यामि तदा मृगस्य वधो भविष्यति, यदि चालीकं वक्ष्ये तदा मे व्रतभंगो भविष्यति, अतो बुद्धियुक्त्यैवैनं विप्रतारयामि " इति विचिन्त्य स उवाच " भो किरात ! अहं मार्गभ्रष्टोऽत्रागतोऽस्मि." तत् श्रुत्वा व्याधेनोक्तम् " अहम् एवं पृच्छामि यन्मृगः कुत्र गतः ? "राज्ञोक्तम् ' अहं हंसराजोऽस्मि ' भिल्लेनोक्तम्, 'अहं तव नाम न पृच्छामि, किंतु मृगः कुत्र गत इत्येव पृच्छामि.'

राजोवाच " मम गृह राजपुरे वर्त्तते." रुष्टेन भिल्लेनोक्तं "रे मूढ ! यदहं पृच्छामि तस्यैवोत्तरं वद ? अन्यदन्यत् किं कथयसि ?" राज्ञोक्तं 'मे क्षत्रियकुलं वर्त्तते.' व्याधेनोक्तं ' किं त्वं बधिरोऽसि ?' भूपो वदति ' यं मार्गं त्वं कथयिष्यसि तन्मार्गेऽहं गमिष्यामि.' भिल्लो वदति ' रे बधिर ! त्वं मम दृष्टिपथाद् दूरीभव ?' इति कथयित्वा स व्याधो यथास्थानं गतः राजापि शनैः शनैरग्रेऽगच्छत्.

इतोऽग्रे तेनैको मुनिरागच्छन् दृष्टः, तं स प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृतवान्, "अद्य मे सफलं जन्म, अद्य मे सफला क्रिया यद्भवतां दर्शनं जातं." इत्यादि स्तुतिं कृत्वा राजा यावदग्रे याति तावत्कोपरक्तनेत्रौ द्वौ पुलिन्दौ तत्समीपमुपागतौ. तौ राजानं कथयामासतुः "हे पुरुष! अस्मिन् वनखंडे सूरनामैकः पल्लीपतिर्वसति, सोऽद्य चौरीकरणबुद्धया दस्युभिः सहितः पल्लीतो यावन्निर्गतस्तावत्प्रथमत एवैको मुण्डः सन्मुखं मिलितः, पल्लीपतिनोक्तमस्य मुण्डस्य दर्शनतो ममाऽमंगलं जातं, ततः कुपितेन तेन तन्मुण्डस्य मारणार्थमावां प्रेषितौ स्वः, अतः स पाखण्डीतः कुत्र गतोऽस्माकं दर्शय?"

तत् श्रुत्वाथ राजा चिन्तयति "चेत्सत्यं वक्ष्ये तदैतौ दुष्टात्मानौ मुनिं हनिष्यतः, यदि चासत्यं वक्ष्ये तदा मे व्रतलोपो भविष्यति. तदेतावपि निजबुध्या विप्रतारयामि" इति ध्यात्वा तेनोक्तं "भो भवद्भ्यां किं कथ्यते? मया सम्यक् श्रुतं नास्ति." ताभ्यां प्रोक्तं 'भो शृणु? स मुण्डस्तवाग्रे भूत्वा क्व गतोऽस्माकं दर्शय? यथा तं मारयावः.' ताभ्यामित्युक्ते राजा वदति 'भो ये पश्यन्ति ते न जल्पन्ति, ये च जल्पन्ति ते न पश्यन्ति' ताभ्यामुक्तं 'भो त्वमेवं पृच्छथसे यत्स मुंडः कुत्र गतः' पुनरपि राजा पूर्वोक्तमेव वदति.

तत् श्रुत्वा रुष्टाभ्यां ताभ्यां कथितं "नूनं त्वं ग्रथिल एव दृश्यसे, अतो रे मूर्ख! त्वमितो दूरं याहि? ते मुखं मा दर्शय?" ततः प्रमुदितचित्तो राजाग्रे चचाल, मार्गे च गच्छतस्तस्य सन्ध्यासमयो जातः, तदैव वृक्षस्याधः पर्णसंस्तारकं कृत्वा स उपविष्टः प्रतिक्रमणं करोति.

अथ तस्यैव वृक्षस्य निकटे एको निकुञ्जो वर्त्तते, तत्र स्थिताः केचिच्चौराः परस्परं वार्त्तां कुर्वन्ति, यदद्यदिनात्तृतीय-

दिनेऽत्र संघः समागमिष्यति, तं बहुधनस्वर्णयुतं संघं लुंटयित्वा चिरकालागतदारिद्र्याय जलांजलिं दास्यामः. इति श्रुत्वा राजा चिन्तयति, "एते चौरा नूनमत्रस्थाः संघस्यानर्थं करिष्यन्ति. संघमध्यस्थसाधुसाध्वीनामपि दुःखं प्रापयिष्यन्ति, अथाहमत्रैकाकी कथं संघस्य रक्षां करोमि?" एवं राजा यावच्चिन्तातुरस्तिष्ठति तावत्केचित्सुभटा हस्तेषु दीपिका धृत्वा तत्रागत्य राजानं दृष्ट्वा परस्परं वदन्ति 'नूनमयमपि चौरो दृश्यते,' कैश्चिदुक्तं 'नास्त्ययं चौरः, असौ तु कोऽपि महात्मा दृश्यते,' ततस्ते सुभटास्तं पृच्छन्ति " भो सत्पुरुष! त्वया केचिच्चौरा दृष्टाः श्रुता वा? ते हि संघस्य लुण्टितुकामाः श्रूयन्ते, अतस्तच्चौरवृत्तांतमस्माकं कथय? इतः स्थानाद्दशयोजनैः श्रीपुराख्यं नगरं वर्त्तते, तत्र च रिपुमर्दनाख्यो राजास्ति, तेन राज्ञा संघस्य कल्याणार्थं तेषां चौराणां मारणार्थं वयं प्रेषिताः स्मः, ततो चेच्चं जानासि तदास्माकं दर्शय? येन तान्मारयित्वा वयं पुण्यभाजो भवामः." तत् श्रुत्वा हंसराजा चिन्तयति–चेदहं सत्यं कथयिष्यामि, तदा चौरमारणपापं मे लगिष्यति, यदि चासत्यं वक्ष्ये तदैते चौरा अत्र संघं लुण्टयिष्यन्तीति ध्यात्वा स निजबुद्ध्या कथयामास, "भो सुभटाश्चौराणां दृष्टादृष्टपृच्छायामत्रैव विलंबकरणेन युष्माकं न कापि सिद्धिर्भविष्यति, यूयं तु तत्रैव संघमध्ये गत्वा संघस्य रक्षामेव कुरुत? यतस्ते चौरा अपि तत्रैवागमिष्यन्ति." तत् श्रुत्वा ते सुभटा अपि संघस्य सन्मुखमेव गताः.

अथ ते चौरा निकुंजाद्विनिस्सृत्य हंसनृपं नमस्कृत्य वदन्ति " भो सत्पुरुष! निकुंजे उपविष्टा वयं भवता तु ज्ञाता एवास्मः, परं सुभटानामग्रे तदस्मद्वृत्तान्तस्याऽकथनतस्त्वमस्माकं प्राणदाता जातोऽसि, अतो धन्यस्त्वं कृतपुण्यस्त्वं, यदीदृशी तव हृदये दया वर्त्तते. अतः परं त्वमस्माकं जनकतुल्योऽसि " इति तस्य स्तुतिं विधाय ते चौराः स्वस्थानं जग्मुः.

अथ प्रगे हंसराजाप्यग्रे चलितः, पश्चात्केऽप्यश्ववाराः समागत्य हंसराजानं वदन्ति, " भो पुरुष ! अस्माकमर्जुनाख्यो नृपो वर्त्तते, तेन चागत्य राजपुरी नगरी गृहीता, तत्रत्य हंसराजा तु ततो नष्टोऽस्ति, अर्जुनराज्ञा च तस्य वधार्थं वयं प्रेषिताः स्मः, ततस्त्वया चेत्स हंसराजा दृष्टो भवेत्तर्ह्यस्माकं तं त्वं दर्शय ? यथा तं मारयामः," तत् श्रुत्वा हंसराजा चिन्तयति "अहो जीवितमात्रस्यार्थे को मृषा वदेत् ? मम जीवितं सुखेन यातु, परमहं मृषा नैव कथयिष्यामि."

इति विचिन्त्य तेन सुभटेभ्यः प्रोक्तं " भो सुभटाः अहमेव हंसराजास्मि, यथा भवतामिच्छा तथा क्रियतां ?" इति कथयित्वा स नवकारमस्मरत्. इतो गगने देवदुंदुभिर्वादिता, सुरक्षिप्ता पुष्पवृष्टिस्तस्योपरि पतिता, तथेदृशी गगनवाणी जाता 'यदयं सत्यवादी हंसराजा जयतु जयतु ?' इति वदन्नेकः सम्यग्दृष्टिर्यक्षस्तत्र प्रादुर्भूय नरनाथं कथयामास " हे राजन् ! तव सत्यवचनादहं तुष्टोऽस्मि, तव रिपुवर्गो मया सर्वोऽपि त्रासितोऽस्ति, यद्दिने च तत्र यात्रा भवति तद्दिनं चाद्यैव वर्त्तते, ततस्त्वमस्मिन् विमाने समारोह ? येन तत्रावां जिननमनार्थं यावः," तत् श्रुत्वा हृष्टो राजा विमानमारुह्य तत्क्षणमेव तत्र चैत्ये समागतः, ततोऽसौ स्नानं कृत्वा पुष्पाणि गृहीत्वा सुरभिवारिणा जिनबिम्बप्रक्षालनमकरोत्, ततश्च घनसारमृगनाभिधुसृणयक्षकर्दमादिभिर्जिनपूजां विधाय गीतनृत्यवादित्रादिभिर्जिनयात्रामहोत्सवमकार्षीत्.

ततो यक्षेण तत्क्षणमेव स राजा राजपुरे आनीय मुक्तस्तद्वैरिनृपश्च बद्धः. ततो हंसराजा यक्षं विज्ञप्य तं वैरिनृपं मोचयामास. अथ यक्षेण निजसेवकानां चतुर्णां देवानामादिष्टं यद्देवसंबंधिभोगैरसौ नित्यमेव पोषणीयः, अस्य विघ्नाश्च निवार्याः, इत्युक्त्वा यक्षो हंसनृपमापृच्छ्य स्वस्थाने गतः ॥ **इति सत्योपरि हंसनृपकथा समाप्ता** ॥

एवं सत्यप्रभावान्मनुष्यभवेऽपि हंसनृपेण देवसंबंधिभोगाः संप्राप्ता. परलोकेऽपि च तेन देवगतिः प्राप्ता. अतो भो भव्या इति हंसनृपस्य चरित्रं श्रुत्वा चिन्तामणिरत्नसदृशे द्वितीयव्रते नित्यमादरो विधेयः, यदि शक्यते तदा सर्वथालीकं न वक्तव्यं. अथ यदि सर्वथा तत्पालयितुं न शक्यते तर्हि यतना कार्या, तथा च यदि सर्वथा नियमं कर्तुं न शक्यते तदा सुश्रावकेणेमे पंचालीकानि तु सर्वथा वर्जनीयानि, तद्यथा—कन्यालीकं १ गवालीकं २ भूम्यलीकं ३ न्यासापहारः ४ कूटसाक्षिकं च ५. स्थूलमृषावादविरतेन च श्रावकेणेमे तत्पंचातीचारा न समाचरणीयाः, तद्यथा—

**[1]सहसा १ रहस्स २ दारे ३। मोसूवएसे य ४ कूडलेहे य ५॥ बीयवयस्स इयारे। पडिक्कमे देसियं सव्वं॥१॥**

एते पंचातीचाराः श्रावकेण कायेन न स्पर्शयितव्याः. तत् श्रुत्वानंदश्रावकेण द्वितीयं व्रतं गृहीतं.

## ॥ अथ तृतीयं व्रतम् ॥

**[ दोर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमङ्गच्छेदं दरिद्रताम्। अदत्तात्फलं ज्ञात्वा, स्थूलस्तेयं विवर्जयेत् ॥६५॥**
**पतितं विस्मृतं नष्टं, स्थापितमाहितम्। अदत्तं नाददीत स्वं, परकीयं क्वचित्सुधीः ॥६६॥**
**अयं लोकः परलोको-धर्मौ धैर्यं धृतिर्मतिः। मुष्णता परकीयं स्वं, मुषितं सर्वमप्यदः ॥६७॥**
**एकस्यैकं क्षणं दुःखं, मार्यमाणस्य जायते। सपुत्रपौत्रस्य पुन-र्यावज्जीवं हृते धने ॥६८॥**
**चौर्यपापद्रुमस्येह, वधबन्धादिकं फलम्। जायते परलोके तु, फलं नरकवेदना ॥६९॥**

---

१ सहसा-रहस्य-दारा-मृषोपदेश-कूटलेखे च द्वितीयव्रतस्यातिचारान् प्रतिक्रमे दैवसिकं सर्वम् ॥

दिवसे वा रजन्यां वा, स्वप्ने च जागरेऽपि वा । सशल्य इव चौर्येण, नैति स्वास्थ्यं नरः क्वचित् ॥७०॥
मित्रपुत्रकलत्राणि, भ्रातरः पितरोऽपि वा । संसजन्ति क्षणमपि, न म्लेच्छैरिव तस्करैः ॥७१॥

उ०—ब्रह्महत्या सुरापाणं, स्तेयं गुर्वङ्गनागमः । महान्ति पातकान्याहु–स्तत्संसर्गश्च पञ्चमम् ॥ १ ॥
चौरश्चौरापको मन्त्री, भेदज्ञः काणकक्रयी । स्थानदो भक्तदश्चैव, चौरः सप्तविधः स्मृतः ॥ २ ॥

संबन्ध्यपि निगृह्येत, चौर्यान्मण्डिकवन्नृपैः । चौरोऽपि त्यक्तचौर्य्यः स्यात्, स्वर्गभाग्रौहिणेयवत् ॥७२॥
दूरे परस्य सर्वस्व–मपहर्तुमुपक्रमः । उपाददीत नादत्तं, तृणमात्रमपि क्वचित् ॥७३॥
परार्थग्रहणे येषां, नियमः शुद्धचेतसाम् । अभ्यायान्ति श्रियस्तेषां, स्वयमेव स्वयंवराः ॥७४॥
अनर्थाः दूरतो यान्ति, साधुवादः प्रवर्त्तते । स्वर्गसौख्यानि ढौकन्ते, स्फुटमस्तेयचारिणाम् ॥७५॥

आ०—वरं वह्निशिखा पीता सर्पास्यं चुम्बितं वरम् । वरं हलाहलं लीढं, परस्वहरणं न तु ॥ १ ॥
प्रायः परस्वलुब्धस्य, निःशूका बुद्धिरेधते । हन्तुं भ्रातॄन् पितॄन् दारान्, सुहृदस्तनयान् गुरून् ॥२॥
परस्वं तस्करो गृह्णन्, वधबन्धादि नेक्षते । पयःपायीव लगुडं, बिडाल उपरिस्थितम् ॥३॥
व्याधधीवरमार्जारा–दिभ्यश्चौरोऽतिरिच्यते । निगृह्यते नृपतिभि–र्यदसौ नेतरे पुनः ॥४॥
स्वर्णादिकेऽप्यन्यधने पुरःस्थे, सदा मनीषा दधतीव येषाम् । सन्तोषपीयूषरसेन तृप्ता–स्ते द्यां लभन्ते गृहमेधिनोऽपि ॥५॥]

अथ स्वामी तृतीयं व्रतमानंदस्याग्रे प्ररूपयति—यत्पतितं, यद्विस्मृतं, यद्भूमौ क्षिप्तं, यच्च नष्टं वस्तु तददत्तमुत्तमाः

पुण्यवन्तो ये नराः कदापि न गृह्णन्ति तेषामिह लोके यशःकीर्ती भवतः, परलोकेऽपि च सवसुखानि भवन्ति. यश्च चौर्येण परद्रव्यं गृह्णाति, तस्येहापि शूलारोपणच्छेदनभेदनादीनि दुःखानि भवन्ति, परभवेऽपि चातीव तीव्राणि नरकदुःखानि भवन्ति येषां च परद्रव्यग्रहणे नियमोऽस्ति ते धन्याः सर्वसंपदां भाजनं भवन्ति, लक्ष्मीपुंजवच्च सुखिनो भवन्ति.

तत् श्रुत्वानंदो प्रभुं विज्ञपयति 'हे स्वामिन्! को लक्ष्मीपुंजः? कथं च तेन तृतीयं व्रतं पालितं? कथं च लक्ष्मीः प्राप्ता?' स्वाम्युवाच 'भो आनंद! त्वं सावधानमनसा जगत्याश्चर्यभूतमस्य चरित्रं शृणु?'

"अस्मिन् भरतक्षेत्रे हस्तिनापुराख्यं नगरं सर्वनगरश्रेष्टं वर्त्तते, तस्मिन्नगरे सुधर्माभिध एको वणिग्वसति, स च महादरिद्रो वर्त्तते, तस्यगृहे सर्वथा लक्ष्मी नास्ति परं स जैनधर्मी जीवादिथवतत्त्ववेत्ता वर्त्तते कपर्द्दिका विक्रीय चाजीविकां करोति. एवं क्रयविक्रयं कुर्वन् स दुःखेन स्वनिर्वाहं करोति. तस्य धन्नाभिधा भार्या वर्त्तते,सा चैकदा सुखेन सुप्ता निशायां स्वप्ने हारकुंडलादिविराजमानां रत्नस्वर्णमयकमले स्थितां पद्मद्रहवासिनीं श्रीदेवीं दृष्ट्वा प्रबुद्धा सती तत्स्वरूपं भर्त्तारं कथयामास, श्रेष्टयपि तत् श्रुत्वा हर्षेण वदति 'हे प्रिये! तव श्रीमान् गुणवान् श्रेयोऽन्वितो दुःखहर्त्ता कीर्त्तिकारको जिनवरपदभक्तश्च पुत्रो भविष्यति.'

इति पत्युक्तं श्रुत्वा सा धन्ना जिनगुणगानं कुर्वन्ती तां रजनीं निर्वाहयामास. अथ तस्तिन्नेव दिने तस्य सुधर्मवणिजः क्रयविक्रयं कुर्वतो बहुलाभो जातः. अथानुक्रमेण गर्भोऽपि वर्द्धितः, तद् दृष्ट्वा सुधर्मेण चिन्तितं 'मम गृहे लक्ष्मीरतीव स्तोका वर्त्तते, अतो निर्द्धनत्वादस्य पुत्रस्य जन्मोत्सवमहं कथं विधास्ये?' इति चिन्तया आर्त्तध्यानगतो यावत्पादांगुष्ठेन पृथ्वीं

खनति तावत् स तत्र मणिकनकभृतमेकं कलशं दृष्ट्वातिहृष्टः सन् चिन्तयति 'नूनमयमस्य गर्भस्यैव प्रभावः.' अथ स तन्मणिकनकादि विक्रीयैकं सप्तभूमिमंडितमावासं कारयामास, बहवो दासीदासाश्च तेन गृहे रक्षिताः. एवं तत्कलशान्निष्कास्यमानं तद्द्रव्यं कूपजलवत्कदाचिदपि क्षीणं न जातं. अथ तृतीयमासे गर्भानुभावतो धन्नाया यानि यानि सुदोहदानि समुत्पन्नानि तानि तानि सुधर्मः पूरयामास.

ततः पूर्णेषु मासेषु शुभलग्ने शुभवासरे सा पुत्ररत्नं जनयामास. तदा दानगीतवादित्रादिभिस्तेन तथा पुत्रजन्ममहोत्सवः कृतो यथा लोकानामपि विस्मयो जातः. तृतीयदिने तस्य चंद्रसूर्ययोर्दर्शनं कारितं, षष्ठे दिने च रात्रिजागरणं कृतं. तत एकादशे दिनेऽशुचिं दूरीकृत्य द्वादशे दिने ज्ञातिगोत्रियाणां भोजनपूर्वकं तत्समक्षं तस्य पुत्रस्य लक्ष्मीपुंज इति नाम दत्तं. अथ क्रमेण स लक्ष्मीपुंजो वृद्धिं प्राप्नुवन्नष्टवार्षिको जातस्तदा महतां धनाढ्यानां व्यवहारिणामष्टाभिः कन्याभिः सह तस्य तत्पित्रा विवाहो विहितः. ताभिः कन्याभिः सह स सप्तभौमे प्रासादे भोगविलासान् करोति. लोके यद्यत्प्रीतिकरं यद्यच्च सुखकरं तत्सर्वं तेन लक्ष्मीपुंजेन निषेवितं भुक्तं च.

एवं भार्याभिर्विनिर्मितगीतगानादि शृण्वन् सोऽनुत्तरसुरवन्निजकालं गमयति स्म. अथान्यदा भार्यासमापे सुप्तः सन् लक्ष्मीपुंजश्चिन्तयति "अहो ! इमा एतावत्यो भोगश्रियो ममाचिन्तिताः कुतः समायाताः ?" इत एको दिव्यरूपधारी दिव्यांबरभूषणभूषितः पुमान् आगत्यांजलिं विधाय लक्ष्मीपुंजं वदति, 'हे महाभाग ! लक्ष्मीधराख्यमेकं नगरमस्ति, तत्र गुणधराभिधश्चैकः श्रेष्ठी वसति, स च धनाढ्यः सरलपरिणामो वर्त्तते, अन्यदा स वनखंडे गतस्तत्रैकं मुनिं प्रशांतात्मानमपश्यत्. तस्याग्रे उपविष्टा-

स्तदानेके विद्याधरास्तत्र धर्मं शृण्वन्ति. गुणधरोऽपि तं मुनिं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य नत्वा चाग्रे उपविष्टः, मुनिनोक्तं 'भो भव्यलोका इह चौर्यैकरणतो लोकानां मरणादिदुःखं भवति, परभवे च नरकसंबंधिदुःखानि भवन्ति, अतो भव्यसत्त्वैः कदापि चौर्यं न कर्त्तव्यं. तत् श्रुत्वा पुण्यात्मना गुणधरश्रेष्ठिना गुरुसाक्षेऽदत्तादाननियमो गृहीतः, ततोऽसौ श्रेष्ठी गुरुं नमस्कृत्य स्वगृहे समागतः.

अथैकदा स श्रेष्ठी धनवाञ्छया सार्थं विधाय क्रयाणकभृतानि पंचशतशकटानि गृहीत्वा देशान्तरं प्रति चचाल. सार्थो महाटव्यां प्राविशत्, गुणधरश्रेष्ठी तु राजभयात्तुरगारूढः कयाचित्पाददंडिकया प्रचलितुं लग्नः, इतस्तेन मार्गे एका रत्नमाला पतिता दृष्टा, परं व्रतभंगभयेन स तां न जग्राह.

अथ सार्थमनुष्याणां दूरतः शब्दं श्रुत्वा स शीघ्रतरं स्वाश्वं प्रेरयामास, इतोऽग्रे पथि तुरगखुरखरघाततो विदीर्णायां पृथ्व्यां निधानं प्रकटीभूतं, तदपि व्रतभंगभयात्तेन न गृहीतं. अथातिप्रेरणतस्तस्य तुरगो मार्गे एव मृतः, तद् दृष्ट्वा पापभीरुः श्रेष्ठी चिन्तयति 'नूनमयमश्वो मयाऽतिप्रेरणान्मारितः,' ततोऽसावुच्चैःस्वरेणावदत् 'यः कोऽप्यमुमश्वं जीवापयति तस्याहं मम सर्वं धनं यच्छामि' इति कथयित्वा स पादचारेणाग्रे चचाल.

ततोऽसौ तृड्बाधया बाधितो जलगवेषणार्थंमटव्यां भ्रमति, इत एकस्मिन् वृक्षे तच्छाखायां जलभृतां प्रलम्बमानां दृतिं दृष्ट्वा तत्रागत्य दृष्टः सन्नुत्वाच, 'भो एषा जलभृता दृतिः कस्य विद्यते ?' एवं गाढस्वरेण यावत्स वदति तावद् वृक्षशाखायां पंजरस्थ एकः शुको मनुष्यभाषयोवाच, 'भो सत्पुरुष ! एषा दृतिरेकस्य वैद्यस्यास्ति, स च

वैद्य औषध्यानयनार्थं दूरे घनवननिकुञ्जे गतोऽस्ति, को जानाति स कदात्रागमिष्यति ? तस्माद्धो भद्र ! चेत्त्वमतीव तृषातुरस्तर्हि सुखेनास्या दृतेर्जलं पिब ? अहमपि तत्कस्यापि नैव कथयिष्यामि," इति शुकोक्तं श्रुत्वा गुणधरश्रेष्ठी कराभ्यां श्रवणयुगलं पिधाय शुकं प्रत्युवाच 'भो शुकराज ! चेत्तृषा मम प्राणा अपि यास्यन्ति, तथाप्यहमदत्तं नैव गृहिष्यामि. यतोऽदत्तग्रहणे महत्पापं वर्त्तते,' इत्युक्त्वा यावत्स स्थितस्तावन्न पञ्जरं, न शुकं, न चापि दृतिं स पश्यति.

इत एको नरः प्रकटीभूय तमुवाच " भो पुरुषोत्तम ! वैताढ्ये विपुलाख्या नगरी वर्त्तते, तत्राहं सूरनामा विद्याधरो वसामि, मम जनकेन च प्रव्रज्या गृहीतास्ति, स च भवतां नगरेऽस्ति, तस्य नमनार्थमहं तत्र पूर्वं समागत आसीत्, तस्मिन्नवसरे भो सत्पुरुष ! त्वया तन्मुनिपार्श्वेऽदत्तग्रहणनियमो गृहीतोऽभूत्.

तदा मया चिंतितम्, 'असावेतद्व्रतं कथं पालयिष्यति ? अयं तु सर्वदा दूरदेशे याति, क्रयविक्रयं करोति. एवंव्यापारकरणे परद्रव्यग्रहणनियमोऽस्य दुष्पाल्य एव, तदस्याहं परीक्षां कुर्वे इति विचिंत्यादृश्यतया मयैतत्सर्वं कृतं, त्वत्परीक्षायै रत्नमालानिधानादि मया दर्शितं, परं त्वच्चित्तं लोभाभिभूतं न बभूव. अश्वोऽपि ते मृतः, पादाभ्यां चलन् भृशं तृषातुरस्त्वं शुकेन प्रेरितोऽपि प्राणसंदेहसमयेऽपि केवलं निजनियमपालनार्थं लब्धमपि पानीयमदत्तं विज्ञाय नापिबः." इत्युक्त्वा तेन सूरविद्याधरेण निजसेवका येऽदृश्यीभूय तत्र स्थिता आसंस्ते आकारिताः, तैः सेवकैरानीतं निधानरत्नमालाश्वादि अन्यदपि च बहुद्रव्यं विद्याधरेण तस्य सार्थपतेरग्रे ढौकितं, ततोऽसौ विद्याधरस्तद्धनयुतं गुणधरं तत्सार्थमध्ये समानीतवान्.

अथ गुणधरो विद्याधरं प्रति जगाद 'भो विद्याधर ! किमर्थमेतद् द्रव्यं त्वयानीतं ?' विद्याधर उवाच 'भो महाभाग !

मे पिता मां प्रतिबोध्य कथयामास 'यच्चं परद्रव्यग्रहणे नियमं कुरु ? परं मया व्यसनवशेन चौरी न त्यक्ता, अधुना तु मया त्वत्स्वरूपं दृष्ट्वा स्वयमेव चौर्यं त्यक्तं, इति हेतोश्च त्वं मे गुरुरसि, तेन चानेन द्रव्येणाहं तव पूजां करोमि, अतस्त्वं गृहाण ?' तत् श्रुत्वा गुणधरश्रेष्ठ्युवाच ' हे भद्र ! यस्यैतद् द्रव्यं भवेत्तस्यैव त्वया पश्चाद्देयं,' तदा विद्याधरोऽवादीद् , ' एतद्द्रव्यं तु मदीयमेव वर्त्तते, अन्यस्य कस्यापि नास्ति, तस्मादेतत्त्वं गृहाण ?'

तदा सार्थपतिस्तु प्रत्युतात्मीयमपि सर्वं द्रव्यं तदग्रे मुक्त्वा विद्याधरं प्रति जगाद ' भो सत्पुरुष ! त्वया मम घोटको जीवापितोऽस्ति, मया तूच्चैस्तरेण प्रतिपन्नमस्ति यद्यः कोऽपि ममाश्वं जीवापयिष्यति तस्याहं मम सर्वं धनं दास्यामीति त्वं मम धनमंगीकुरु ?' विद्याधरेणोक्तं ' भो सत्पुरुष ! त्वमस्माकं पूज्योऽसि, ततो भवदीयं द्रव्यमहं नैव ग्रहिष्यामि.' तदा विद्याधरोऽवक् ' भो श्रेष्ठिन् ! एवं यदि मदीयं धनं त्वं न गृहणासि, त्वदीयं चाहं न गृहणामि, तर्हि अस्या श्रियः कः स्वामी भविष्यति ?' श्रेष्ठिनोक्तं ' भो विद्याधर ! अस्याः श्रियो धर्म एव स्वामी, अतस्तां धर्मार्थे नियुंज्यावां स्वजन्म सफलं करिष्यावः.' ततस्तौ द्वावपि सप्तक्षेत्रेषु सर्वं धनं वपतः स्म.

अथ निजायुःसंपूर्त्तौ स श्रेष्ठी धर्मध्यानेन मृत्वा त्वं लक्ष्मीपुंजो जातः, स विद्याधरोऽपि च दानं दत्वा शुभभावेन मृत्वाहं व्यंतराधिपतिर्जातः, तव पुण्यप्रभावात्पूर्वभवस्नेहेन गर्भकालादारभ्य तवावसरोचितां सर्वां सामग्रीमहं पूरयामि. इति व्यंतराधिपोक्तं वृत्तांतं श्रुत्वा लक्ष्मीपुंजस्य जातिस्मरणज्ञानमुत्पन्नं. ततः पूर्वभवं दृष्ट्वा प्रमोदतस्तस्य वैराग्यमुत्पन्नं, तेन सर्वस्वं संत्यज्य स दीक्षां जग्राह, शुभभावेन प्रतिपाल्य चाच्युतकल्पे देवो जातः, ततश्च्युत्वा मनुष्यभवं प्राप्य दीक्षां गृहीत्वा

शिवपदं प्राप्स्यति.

॥ इति तृतीयव्रतोपरि लक्ष्मीपुंजस्य कथा समाप्ता ॥

भो भव्यलोका इति लक्ष्मीपुंजस्य दृष्टांतं श्रुत्वाऽदत्तादानग्रहणे विरतिं कुरुत ? तत् श्रुत्वानंदोऽदत्तादानग्रहणनियमं करोति, तदालापको यथा—

[1]थूलगं अदत्तादाणं समणोवासगो पच्चक्खाइ, से अदत्तादाणे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा-सच्चित्तादिन्नादाणे अच्चित्तादिन्नादाणे, थूलगअदत्तादाणे वेरमणस्स समणोवासएणं पंचअईआरा जाणियव्वा, न फासिअव्वा । एतदतीचारान् गाथाबंधेनाह —

[2]तेनाहड १ तक्करपओग २ लोअविरूद्धगमण अईआरे ३ ॥ कूडतुलकूडमाणं ४ । तप्पडिरूवं ५ विवज्जेसु ॥१॥

## ॥ अथ चतुर्थ व्रतम् ॥

[ षण्ढत्वमिन्द्रियच्छेदं, वीक्ष्याब्रह्मफलं सुधीः । भवेत् स्वदारसन्तुष्टो-ऽन्यदारान् वा विवर्जयेत् ॥७६॥

१ स्थूलं अदत्तादानं श्रमणोपासको प्रत्याख्याति स अदत्तादानः द्विविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा सचित्तादत्तादानं अचित्तादत्तादानं स्थूलादत्तादानविरमणस्य श्रमणोपासकेन पञ्चातिचारा ज्ञातव्यानस्पर्शयितव्या.

२ स्तेनाहृत् तस्करप्रयोग-लोकविरुद्धगमनातिचारान् कूडतूलकूडमानं तत्प्रतिरूपं विवर्जयत.

रम्यमापातमात्रे यत्, परिणामेऽतिदारुणम् । किंपाकफलसंकाशं, तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥७७॥
कम्पः स्वेदः श्रमो मूर्च्छा, भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षयः । राजयक्ष्मादिरोगाश्च, भवेयुर्मैथुनोत्थिताः ॥७८॥
योनियन्त्रसमुत्पन्नाः, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः । पीड्यमाना विपद्यन्ते, यत्र तन्मैथुनं त्यजेत् ॥७९॥
रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा-मृदुमध्याधिशक्तयः । जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं, जनयन्ति तथाविधाम् ॥८०॥
स्त्रीसंयोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति । स हुताशं घृताहुत्या, विध्यापयितुमिच्छति ॥८१॥

उ०—न जातु कामः कामाना-मुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥१॥

वरं ज्वलदयस्तम्भ-परिरम्भो विधीयते । न पुनर्नरकद्वार-रामाजघनसेवनम् ॥८२॥
सतामपि हि वामभ्रू-र्ददाना हृदये पदम् । अभिरामं गुणग्रामं, निर्वासयति निश्चितम् ॥८३॥
वञ्चकत्वं नृशंसत्वं, चञ्चलत्वं कुशीलता । इति नैसर्गिका दोषा-यासां तासु रमेत कः ॥८४॥
प्राप्तुं पारमपारस्य, पारावारस्य पार्यते । स्त्रीणां प्रकृतिवक्राणां, दुश्चरित्रस्य नो पुनः ॥८५॥
नितम्बिन्यः पतिं पुत्रं, पितरं भ्रातरं क्षणात् । आरोपयन्त्यकार्येऽपि, दुर्वृत्ताः प्राणसंशये ॥८६॥
भवस्य बीजं नरक-द्वारमार्गस्य दीपिका । शुचां कन्दः कलेर्मूलं, दुःखानां खानिरङ्गना ॥८७॥
मनस्यन्यद्वचस्यन्य-त्क्रियायामन्यदेव हि । यासां साधारणस्त्रीणां, ताः कथं सुखहेतवः ॥८८॥

उ०—अन्यस्मै दत्तसङ्केता याचतेऽन्यं स्तुते परम् । अन्यश्चित्ते परः पार्श्वे, गणिकानामहो नरः ॥१॥

मांसमिश्रं सुरामिश्र-मनेकविटचुम्बितम् । को वेश्यावदनं चुम्बे-दुच्छिष्टमेव भोजनम् ॥८०॥
अपि प्रदत्तसर्वस्वात्, कामुकात् क्षीणसम्पदः । वासोऽप्याच्छेत्तुमिच्छन्ति, गच्छतः पण्ययोषितः ॥९०॥
उ०—उपचरिताऽप्यतिमात्रं, प्रकटवधूः क्षीणसम्पदः पुंसः । पातयति दृशं व्रजतः, स्पृहया परिधानमात्रेऽपि ॥ १ ॥
न देवान्न गुरून्नापि, सुहृदो न च बान्धवान् । असत्सङ्गरतिर्नित्यं, वेश्यावश्यो हि मन्यते ॥९१॥
कुष्ठिनोऽपि स्मरसमान्, पश्यन्तीं धनकाङ्क्षया। तन्वन्तीं कृत्रिमस्नेहं, निःस्नेहां गणिकां त्यजेत् ॥९२॥
नासत्त्या सेवनीया हि, स्वदारा अप्युपासकैः । आकरः सर्वपापानां, किं पुनः परयोषितः ॥९३॥
स्वपतिं या परित्यज्य, निस्त्रपोपपतिं भजेत् । तस्यां क्षणिकचित्तायां, विश्रम्भः कोऽन्ययोषिति ॥९४॥
भीरोराकुलचित्तस्य, दुःस्थितस्य परस्त्रियाम् । रतिर्न युज्यते कर्तु-मुपशूनं पशोरिव ॥९५॥
प्राणसंदेहजननं, परमं वैरकारणम् । लोकद्वयविरुद्धं च, परस्त्रीगमनं त्यजेत् ॥९६॥
सर्वस्वहरणं बन्धं, शरीरावयवच्छिदाम् । मृतश्च नरकं घोरं, लभते पारदारिकः ॥९७॥
स्वदाररक्षणे यत्नं, विदधानो निरन्तरम् । जानन्नपि जनो दुःखं, परदारान् कथं व्रजेत् ? ॥९८॥
विक्रमाक्रान्तविश्वोऽपि, परस्त्रीषु रिरंसया । कृत्वा कुलक्षयं प्राप, नरकं दशकन्धरः ॥९९॥
लावण्यपुण्यावयवां, पदं सौन्दर्यसम्पदः । कलाकलापकुशला-मपि जह्यात्परस्त्रियम् ॥१००॥
अकलंकमनोवृत्तेः, परस्त्रीसन्निधावपि । सुदर्शनस्य किं ब्रुमः, सुदर्शनसमुन्नतेः ? ॥१०१॥

ऐश्वर्यराजराजोऽपि, रूपमीनध्वजोऽपि च। सीतया रावण इव, त्याज्यो नार्या नरः परः ॥१०२॥
नपुंसकत्वं तिर्यक्त्वं, दौर्भाग्यं च भवे भवे। भवेन्नराणां स्त्रीणां चाऽन्यकान्तासक्तचेतसाम् ॥१०३॥
प्राणभूतं चरित्रस्य, परब्रह्मैककारणम्। समाचरन् ब्रह्मचर्यं, पूजितैरपि पूज्यते ॥१०४॥
चिरायुषः सुसंस्थाना-दृढसंहनना नराः। तेजस्विनो महावीर्या-भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः ॥१०५॥

आ—पश्यन्ति कृष्णकुटिलां, कबरीमेव योषिताम्। तदभिष्वङ्गजन्मानं, न दुष्कर्मपरम्पराम् ॥ १ ॥
सीमन्तिनीनां सीमन्तः, पूर्णः सिन्दूररेणुना। पन्थाः सीमन्तकारव्यस्य, नरकस्येति लक्ष्यताम् ॥ २ ॥
भ्रूवल्लरीं वर्णिनीनां, वर्णयन्ति न जानते। मोक्षाध्वनि प्रस्थितानां, पुरोगामुरगीमिमाम् ॥ ३ ॥
भङ्गुरात्रयनापाङ्गा-नङ्गनानां निरीक्षते। हतबुद्धिर्न तु निजं, भङ्गुरं हन्त जीवितम् ॥ ४ ॥
नासावंशं प्रशंसन्ति. स्त्रीणां सरलमुन्नतम्। निजवंशं न पश्यन्ति, भ्रश्यन्तमनुरागिणः ॥ ५ ॥
स्त्रीणां कपोले संक्रान्त-मात्मानं वीक्ष्य हृष्यति। संसारसरसीपङ्के, मज्जन्तं वेत्ति नो जडः ॥ ६ ॥
पिबन्ति रतिसर्वस्व-बुध्या बिम्बाधरं स्त्रियाः। न बुध्यन्ते यत्कृतान्तः, पिबत्यायुर्दिवानिशम् ॥ ७ ॥
योषितां दशनान् कुन्द-सोदरान् बहु मन्वते। स्वदन्तभङ्गं नेक्षन्ते, तरसा जरसा कृतम् ॥ ८ ॥
स्मरदोलाधिया कर्ण-पाशान् पश्यति योषिताम्। कण्ठोपकण्ठलुठितान्, कालपाशांस्तु नात्मनः ॥ ९ ॥
योषितां प्रोषितमति-र्मुखं पश्यत्यनुक्षणम्। क्षणोऽपि हन्त नास्त्यस्य, कृतान्तमुखवीक्षणे ॥ १० ॥

नरः स्मरपराधीनः, स्त्रीकण्ठमवलम्बते । नात्मनो वेत्त्यसूनद्य, श्वो वा कण्ठावलम्बिनः ॥ ११ ॥
स्त्रीणां भुजलतावन्धं, बन्धुरं बुध्यते कुधीः । न कर्मबन्धनैर्बध्ध-मात्मानमनुशोचति ॥ १२ ॥
धत्ते स्त्रीपाणिभिः स्पृष्टो- हृष्टो रोमाञ्चकण्टकान् । स्मारयन्ति न किं तेऽस्य, कूटशाल्मलिकण्टकान् ॥ १३ ॥
कुचकुम्भौ समालिङ्ग्य, स्त्रियाः शेते सुखं जडः । विस्मृता नूनमेतस्य, कुम्भीपाकोद्भवा व्यथा ॥ १४ ॥
मध्यमध्यासते मुग्धा-मुग्धाक्षीणां क्षणे क्षणे । एतन्मध्यं भवाम्भोधे-रिति नैते विविञ्चते ॥ १५ ॥
धिगङ्गनानां त्रिवली–तरङ्गैर्ह्रियते जनः । त्रिवलीच्छद्मना ह्येत-न्ननु वैतरणीत्रयम् ॥ १६ ॥
स्मरार्त्तं मज्जति मनः, पुंसां स्त्रीनाभिवापिषु । प्रमादेनापि किं नेदं, साम्याम्भसि मुदास्पदे ॥ १७ ॥
स्मरारोहणनिःश्रेणीं, स्त्रीणां रोमलतां विदुः । नराः संसारकारायां, न पुनर्लोहशृङ्खलाम् ॥ १८ ॥
जघन्या जघनं स्त्रीणां, भजन्ति विपुलं मुदा । संसारसिन्धोः पुलिन-मिति नूनं न जानते ॥ १९ ॥
भजते करभोरूणा-मूरूनल्पमतिर्नरः । अनूरुक्रियमाणं तैः, सद्गतौ स्वं न बुध्यते ॥ २० ॥
स्त्रीणां पादैर्हन्यमान-मात्मनं बहु मन्यते । हताशो न तु जानाति, क्षेप्यमाणमधोगतौ ॥ २१ ॥
दर्शनात् स्पर्शनाच्छ्लेषाद्- या हन्ति शमजीवितम् । हेयोग्रविषनागीव, वनिता सा विवेकिभिः ॥ २२ ॥
इन्दुलेखेव कुटिला, सन्ध्येव क्षणरागिणी । निम्नगेव निम्नगति-र्वर्जनीया नितम्बिनी ॥ २३ ॥
न प्रतिष्ठां न सौजन्यं, न दानं न च गौरवम् । न च स्वान्यहितं वामाः, पश्यन्ति मदनान्धलाः ॥ २४ ॥

निरङ्कुशा नरे नारी, तत्करोत्यसमञ्जसम् । यत्क्रुध्याः सिंहशार्दूल-व्याला अपि न कुर्वते ॥ २५ ॥
दूरतस्ताः परित्याज्याः, प्रादुर्भावितदुर्मदाः । विश्वोपतापकरिण्यः, करिण्य इव योषितः ॥ २६ ॥
स कोऽपि स्मर्यतां मन्त्रः, स देवः कोऽप्युपास्यताम् । न येन स्त्रीपिशाचीयं, ग्रसते शीलजीवितम् ॥ २७ ॥
शास्त्रेषु श्रूयते यच्च, यच्च लोकेषु गीयते । संवादयन्ति दुःशीलं. तन्नार्यः कामविह्वलाः ॥ २८ ॥
संपिण्ड्येवाहिदंष्ट्राग्नि-यमजिह्वाविषाङ्कुरान् । जगज्जिघांसुना नार्य्यः, कृताः क्रुरेण वेधसा ॥ २९ ॥
यदि स्थिरा भवेद्विद्यु-त्तिष्ठन्ति यदि वायवः । दैवात्तथापि नारीणां, न स्थेम्ना स्थीयते मनः ॥ ३० ॥
यद्विना मन्त्रतन्त्राद्यै-र्वञ्च्यन्ते चतुरा अपि । ईन्द्रजालमिदं हन्त, नारीभिः शिक्षितं कुतः ॥ ३१ ॥
अपूर्वा वामनेत्राणां, मृषावादेषु वैदुषी । प्रत्यक्षाण्यप्यकृत्यानि, यदपह्नुवते क्षणात् ॥ ३२ ॥
पीतोन्मत्तो यथा लोष्टं, सुवर्णं मन्यते जनः । तथा स्त्रीसङ्गजं दुःखं, सुखं मोहान्धमानसः ॥ ३३ ॥
जटी मुण्डी शिखी मौनी, नग्नो वल्की तपस्व्यथ । ब्रह्माऽप्यब्रह्मशीलश्चेत्तदा मह्यं न रोचते ॥ ३४ ॥
कण्डूयन् कच्छूरः कच्छूं, यथा दुःखं सुखीयति । दुर्वारमन्मथावेश-विवशो मैथुनं तथा ॥ ३५ ॥
नार्य्यो दासैरुपमीयन्ते, काञ्चनप्रतिमादिभिः । आलिङ्ग्यालिङ्ग्य तान्येव, किमु कामी न तृप्यति ॥ ३६ ॥
यदेवाङ्गं कुत्सनीयं, गोपनीयं च योषिताम् । तत्रैव हि जनो रज्येत्, केनान्येन विरज्यताम् ॥ ३७ ॥
मोहादहह नारीणा-मङ्गैर्मांसास्थिनिर्मितैः । चन्द्रेन्दिवरकुन्दादि, सदृक्षीकृत्य दूषितम् ॥ ३८ ॥

नारीं नितम्बजघनस्तनभूरिभारा-मारोपयन्त्युरसि मूढधियो रताय ।
संसारवारिनिधिमध्यनिमज्जनाय, जानन्ति तां न हि शिलां निजकण्ठबध्नाम् ॥ ३९ ॥
भवोदन्वद्वेलां, मदनमृगयुव्याधहरिणीं, मदावस्थाहालां, विषयमृगतृष्णामरुभुवम् ।
महामोहध्वान्तो-च्चयबहुलपक्षान्तरजनीम्, विपत्खानिं नारीं, परिहरत हे श्राध्धसुधियः ॥ ४० ॥ ]

अथानंद आनंदयुतो जिनवरं विज्ञपयति 'हे करुणासागर! चतुर्थं व्रतमथ ममाग्रे कथ्यतां?' श्री जिनोऽवादीत् 'भो श्रेष्ठिन्! साधूनां सर्वस्त्रीवर्जनं भवति, श्राद्धानां चात्मीयां भार्यां विना परस्त्रीवर्जनं भवति. श्राद्धः सदा परस्त्रीवर्जनं करोति, श्राद्धी च सर्वदा त्रिविधेन परकांतवर्जनं करोतीति. एवंविधाः पुरुषाः स्त्रियश्च त्रिभुवनेऽपि पूजनीया भवन्ति. याः स्त्रियश्च मनोवचनकायैः परकांतं वर्जयन्ति ता मइरावतीव सर्वसंपदां भाजनं भवन्ति. तद्यथा—

क्षितिप्रतिष्ठितनगरे रिपुमर्दनो राजा वसति, यस्य प्रतापदिनकरः क्षपायामप्युद्योतं करोति, तस्य राज्ञः सौभाग्यवती निर्मलशीलालंकृता सकलगुणधारिणी मदनरेखाभिधा पट्टराज्यस्ति. सा जिनमतप्रवीणा जीवाजीवादिनवतत्त्ववेत्त्री वर्त्तते, पूर्वकृतपुण्यानुयोगतो मानुष्यसुखानि भुञ्जानयोस्तयोर्मइरावत्यभिधा पुत्री जाता. सातीव रूपवती शशिकलावद्वृद्धिं प्राप्नुवन्ती क्रमेण स्त्रीसंबंधिचतुःषष्टिकलाकलापकलिता बभूव. निजजननीसकाशात्प्राप्तधर्मकला जिनमतप्रवीणा सम्यक्त्वधारिणी कर्मवादैकतत्परा क्रमेण सा जगज्जनमोहनीयं यौवनं प्राप्ता.

अथैकदा तज्जननी तां मइरावतीं पुत्रिकां संस्नाप्य वस्त्राभरणादिभिर्विभूषितां विधाय सभास्थितस्य नृपस्य पार्श्वे

मुमोच, तदा सापि निजपितुः पादान्नमस्कृत्य यावत् स्थिता तावत्पित्रा सा स्नेहेन निजोत्संगे स्थापिता.

अथ तां तथाविधां पुत्रीं सभास्थितांश्च महाडंबरोपेतान् लोकान् वीक्ष्य गर्वगिरिशृङ्गारूढो राजा मंत्र्यादीन् प्रतीदमवादीत्, 'भो अमात्यादयो लोका यादृशी ऋद्धिर्मम वर्त्तते, यादृशी च ममैषा शोभायुता सभा वर्त्तते. यादृशं च मम शोभनं कुटुम्बमस्ति, तादृक् तत्सर्वं किमन्यस्यापि राज्ञो वर्त्तते ?' तत् श्रुत्वा सभालोका वदन्ति 'हे स्वामिन्! सभाकुटुम्बादि यादृग्भवतामस्ति तादृक् तत्सर्वमन्यो राजा स्वप्नेऽपि द्रष्टुं न समर्थोऽस्ति. तत् श्रुत्वा सा कन्येषद् हसित्वा निजमस्तकं धूनयामास. तदा राज्ञा पृष्टं 'भो पुत्रि! त्वया मस्तकं कथं धूनितं ?' तयोक्तं 'भो तात! सभाजनोऽयं यद्वदति, तत्सर्वमसत्यमस्ति, यतोऽस्यां पृथ्व्यां तरतमतोपेतर्द्धियुता अनेके राजानो वर्तन्ते', तत् श्रुत्वा राजा किंचिद्दूनः सभालोकानवादीत् 'भो लोका यूयं कस्य प्रसादेन सुखिनः स्थ?' लोका वदन्ति 'स्वामिन्! भवतां प्रसादेनैवास्माकं सुखं वर्त्तते, यतः कल्पवृक्षादन्यः कोऽपि वृक्षः किं वांछितं पूरयति ?' तत् श्रुत्वा कन्यावदत् 'भो भो मूढलोका मृधालीकं कथं वदथ? यतोऽयं जीवः कर्मवशादेव शुभाशुभं लभते, किं च हे तात! यदि भवत्कृतमेव चेच्छुभाशुभं भवेत्तर्हि सर्वानपि सेवकान् यूयं तुल्यसुखोपेतान् किं न कुरुथ ? यत एके भवत्सेवका गजाश्वरूढाः सुखेन गच्छन्ति, अपरे च भवत्सेवकाः पादचारेणाग्रे धावमाना दृश्यन्ते, ततो हे तात! यैः पूर्वभवे शुभं कर्म निर्मितमस्ति तेषामेव त्वं सुखं दातुं समर्थोऽसि, न पुनरन्येषां, किं चाहमपि पूर्वकृतसुकृतानुसारेणैव तव कुले समुत्पन्नास्मि, तेनैव च ममेदृशी सुखसामग्री जातास्ति'. तत् श्रुत्वा राजा रुष्टः सन् कथयति 'हे मूर्खे! त्वं किमिदमसमंजसं ब्रवीषि ? नूनं पुत्रीरूपा त्वं मम वैरिणी वर्त्तसे, अहं तु तुष्टः सन् दरिद्रिणं धनाढ्यं करोमि, रुष्टश्च

धनाढ्यमपि दरिद्रिणं करोमि, ततो यदि त्वं मम प्रसादं मानयिष्यसि तदा त्वां धनाढ्यायोत्तमराजकुमारवराय दास्यामि, यदि च तथा न मानयिष्यसि तदातीवहीनाय कस्मैचिद्रंकायैव त्वां दास्यामि.'

तत् श्रुत्वा हसित्वा सा बालाब्रवीत् 'हे तात ! त्वद्दत्तः प्रधानवरोऽपि मम पुण्याऽभावान्निश्चयेन रङ्को भविष्यति, चेन्मम पुण्यं प्रकटीभविष्यति, तर्हि त्वद्दत्तो रंकोऽपि मे वरो महासमृद्धियुतो राजाधिराजो भविष्यति, अतः संसारवृक्षस्य मूलतुल्यमेनं गर्वं त्वं परिहर ?' तत् श्रुत्वा क्रोधांधलो राजा निजसेवकानवादीत् 'भो भो सेवका यूयं शीघ्रमेवैकमतिहीनकुलोद्भवं दीनं दुःखिनं रोगाक्रान्तं पुरुषमत्रानयत ?' तत् श्रुत्वाजीविकैकलालसास्ते सेवका अपि द्रुतं गत्वा चतुष्पथोपविष्टं तथाविधं पुरुषमेकमाकार्य तेन युता नृपाग्रे समागता अञ्जलिं विधाय कथयामासुः, 'भो स्वामिन्! भवदाज्ञयासौ तदाविधः पुरुषोऽस्माभिरानीतोऽस्ति.'

राजापि गलितकर्णं निविष्टनासिकं उष्ट्रोष्टवल्लंबायमानोष्टपुटं कूपगहनगल्लं दुष्टकुष्टांतकगलितसर्वांगुलिकं गिरिकंदरझरन्निर्झरवद्वदनगलल्लालाकुलकायं समस्तशरीरव्याप्तव्रणगणगतागणितकृमिकुलभर्त्सनीयशरीरं अस्थिचर्मावशेषदेहमतिभीषणं तं कुष्टिनं नरं दृष्ट्वा निजसुतां प्रति वदति, 'हे पुत्रि ! पश्यैनं नरं, एषः पुरुषोऽत्र तव कर्मणैवानीतोऽस्ति, तदस्य पाणिग्रहणं कुरु ?' तत् श्रुत्वा सा बाला तत्क्षणमेवोत्थाय तस्य कुष्टिनः पाणिग्रहणं चकार. तद् दृष्ट्वा सर्वेऽपि सभाजना हाहाकारमकुर्वन्.

अथ कुपितो राजा तस्या वस्त्रालंकारादि सर्वं गृहीत्वा कुष्टिसहितां तां नगराद्बहिर्निष्कासयामास. राजसुता तु मनसि

मनागपि रोषमविधाय तेन कुष्टिना सहिता नगराद्बहिरेकस्मिन् देवकुले धर्मध्यानं कुर्वन्ती सुखेन स्थिता.

अथ तां स कुष्टयुवाच 'हे भद्रे ! दुष्टबुद्धिना राजा नूनमेतत्सुंदरं न कृतं, निजकुलस्यानुचितं कृतं, क्व करीरः ? क्व च कल्पलता ? क्व कागः ? क्व च रत्नमाला ? एवमतिलावण्ययुता रुपश्रिया रंभातुल्या पुण्यात्मा कमलकोमलांगी त्वं क्व ? क्व चाहं पूर्वार्जितकर्मभिर्भयंकररोगपीडितः ? मम संयोगतश्च तवातिसुंदरं शरीरं विनाशं प्राप्स्यति, तेन हे महाभागे ! त्वं कस्यापि महर्द्धिकस्य गृहे याहि ? त्वं तु यत्र कुत्रापि गता राजहंसीव सन्मानं लभिष्यसे.' इति कुष्टिवचनं श्रुत्वा सा राजपुत्री वज्राहतेवातिपीडिता रुदन्ती गद्गदस्वरेणोवाच, 'हे नाथ! उत्तमकुलोद्भूतानां कुलांगनानामेतद्वचनश्रवणतोऽपि वज्राघात इव भवति, प्रथमं तु स्त्रीजन्मैवानन्तपापोदयाद्मसति, तदपि चेच्छीलरहितं भवेत्तदा तासां का गतिर्भवेत् ? हे नाथ! शीलं विना नारी न शोभते, इहभवे परभवे च पुरुषस्त्रीणां शीलाभरणं विना न किंचिदप्यन्याभरणमस्ति. यौवनरूपश्रीस्तु जीवेनानंतशो वारान् प्राप्तास्ति, परं शीलरत्नप्राप्तिर्दुर्लभास्ति. रोगी वा निरोगी वा, निर्धनो वा सधनो वा, इह भवे तु त्वमेव मे प्राणनाथोऽसि, अन्यथा ज्वलदग्निरेव मम शरणमस्तु. अतः परं निजदास्युपरि कृपां विधाय पुनरीदृग्वचनं भवद्भिः कदापि न वाच्यं.' तत् श्रुत्वा संतुष्टः कुष्टी मौनं कृत्वा स्थितो वचनामृतेन च सिक्तः सन्निद्रां प्राप्तः.

इतो दिनकरोऽप्यस्तं गतः, अंधकारश्च दुर्जनचित्तवन्सर्वत्र विस्तृतः. तस्मिन् समये सा बाला निजपतेश्चरणौ स्पृशन्ती पंचपरमेष्टिमंत्रं च स्मरन्ती यावत्तिष्ठति तावदेका वरनारी पुरुषमेकं सार्थे कृत्वा तत्र समागता, ततः सा नारी प्रसन्नवदना सती राजकुमारीं प्रत्यवादीत् 'हे कन्यके ! मां त्वं नगराधिष्ठायिकां देवीं जानिहि ? त्वत्पितृकृतविडंबनां त्वां दृष्ट्वा तव

करुणयाहमत्रागतास्मि, असौ सौभाग्यवान् रूपवान् पुरुषोत्तमश्च मया तव कृते समानीतोऽस्ति, अतस्त्वामेनं पुरुषं भजस्व ? एनं कुष्टिनरं च त्यज ? सकलसुखानां भवनरूपमेनं नरं लब्ध्वा त्वं निजं मनुष्यभवं सफलं कुरु ? युवयोर्मनोवांछितसुखसंपदं चाहं यावज्जीवं पूरयिष्यामि.'

तत् श्रुत्वा साहसमवलंब्य सा प्रोवाच 'हे मातर्भवत्या ममोपरि महाप्रसादः कृतः, परं मम पित्रा पुरजनसमक्षमेतेन कुष्टिना सार्द्धं मे पाणिग्रहणं कारितमस्ति, तत इदानीं हे देवि ! तमहं कथं त्यजामि ? ततो यादृशस्तादृशोऽप्यसौ कुष्टचेवेह भवे मम प्राणवल्लभोऽस्ति, अन्यथाः मम मरणमेव शरणं वर्त्तते. पुनर्हे देवि ! मम मनस्यसौ कुष्टचेव रुच्यते, न कश्चिदन्यः, इमं मे भर्त्तारमहमिन्द्रात्कामाच्चाप्यधिकमेव मन्ये, एतस्मादेव कुष्टितो मम मनोवांछितभोगसंपदो भविष्यन्ति, ततो हे मातः ! प्रसादं कृत्वा त्वयानीतममुं पुरुषोत्तमं निजस्थानके मुञ्च ?' तत् श्रुत्वा सा देवी कुपिता सती तत्क्षणमेव तां बालां पादयोर्गृहीत्वा नभस्युल्लालयामास. पतन्तीं च तां त्रिशूलधृतां विधाय देव्युवाच 'रे मुग्धे ! ममोक्तं कुरु ? अन्यथा तवात्र मरणं भविष्यति.'

अथ निश्चलचित्ता साऽवदत् 'हे देवि ! प्राणान्तेऽप्यहं मे शीलभ्रंशं नैव करिष्यामि, अधुना वा पश्चादप्येतच्छरीरमवश्यं त्याज्यमेव,' इत्युक्त्वा सा बाला नवकारं स्मरन्ती यावत्तिष्ठति तावत्सा बालात्मानं सुखावस्थं पश्यति, न च देवीं, न च तं नरशेखरं, न चापि तं कुष्टिनं पश्यति. तदाश्चर्यं दृष्ट्वा विस्मिता सा बाला स्वचित्ते चिन्तयति किमेतत्सत्यं वा स्वप्नमहं पश्यामि ? मे स कुष्टी भर्त्ता क्व गतः ? इत एकं दिव्यरूपधारिणं दिव्याभरणभूषितं च पुरुषमग्रे स्थितं सा पश्यति.

अथ तेन पुरुषेण तस्यै प्रोक्तं 'हे भद्रे ! वैताढ्यपर्वते मणिपुरे नगरे यो मणिचूडाभिधो विद्याधरो राजा राज्यं करोति सोऽहमस्मि, एकदा मया निशायां नगरमध्ये भ्रमताऽयं श्लोकः कस्यचिन्मुखात्पठ्यमानः श्रुतः, तद्यथा—

**सर्वत्र वायसाः कृष्णाः, सर्वत्र हरिताः शुकाः ॥ सर्वत्र सुखिनां सौख्यं, दुःखं सर्वत्र दुःखिनां ॥१॥**

एतत् श्लोकपरीक्षार्थमहमस्मिन्नगरे समागत्य विद्याबलेन च कुष्टिरूपं विधाय यावच्चतुष्पथे उपविष्टस्तावद्राजपुरुषैरागत्य नृपपार्श्वेऽहं नीतः, त्वया च झटिति मे पाणिग्रहणं कृतं, परं तत्परमर्थमहं न जानामि. एषा च तव दुःखजननी मया परीक्षा कृता, परं त्वं वातेन मेरुचूलावत् शीलान्मनागपि न चलिता, अतो हे भद्रे ! त्वं धन्या श्लाघनीया चासि, तव शीलरत्नं व्यसनकषपट्टे कषितमपि सुवर्णवत्तेजोमयं बभूव. अहमपि धन्यः, कृतार्थं हि मम राज्यं, जीवितं च मे सफलं जातं, येन शीलकलिता त्वं मे भार्या जाता'. तत् श्रुत्वा सा बाला विस्मिता सती मनसि चिन्तयति 'अहो ? एतत्सर्वमाश्चर्यकारकं शीलस्यैव माहात्म्यं दृश्यते. अथ सा राजपुत्री तं प्रत्यवक् 'हे स्वामिन् ! पूर्वभवे मया यो मनोवचनकायैर्जिनधर्म आराधितस्तस्यैव धर्मप्रभावात्त्वं मे भर्त्ता जातः'.

अथ स खेचरस्तत्र स्वविद्यया सप्तभूमिमण्डितं गृहमकार्षीत्, तत्र तौ दंपती सुखेन स्थितौ. इतस्तस्याः शीललक्ष्मीविलोकनार्थमिवोदयाचले दिनकर उदितः.

अथ स विद्याधरो निजभार्यां कथयति 'हे भद्रे ! तव जनकमत्र कया रीत्याह्वयामि,' तत् श्रुत्वा तयोक्तं 'हे स्वामिन्! मम जनकमत्र यूयं हालिकवेषेण समाह्वयत ? येन तस्य दुर्गतिमूलं दर्पो विनाशं प्राप्नुयात्.'

तत् श्रुत्वा तेन विद्याधरेण निजविद्यया तत्र विपुलं सैन्यं विकुर्व्य सा नगरी परिवेष्टिता, रिपुमर्दनराज्ञः पार्श्वे च निजचतुर्मुखो दूतः प्रेषितः, स दूतस्तत्रागत्य राजानं प्रणम्य कथयामास 'हे राजन्! वैताढ्यपर्वतवासी मणिचूडनामा विद्याधरेंद्रः सैन्ययुतस्तवोपरि समागतोऽस्ति, ततो यदि निजजीवितव्यस्य राज्यस्य च कुशलं वांछसि, तदा हालिकवेषं विधाय तत्पार्श्वे समागत्य तं प्रणामं कुरु ?'

तत् श्रुत्वा रिपुमर्दनो राजा क्रुद्धः सन् दूतं प्रति यावत्किंचिद्वक्तुं सज्जो भवति तावन्मंत्रिणोक्तं 'हे स्वामिन्! सांप्रतं कोपं कर्तुं न युज्यते, सदृशे पुरुषे कोपकरणं युक्तं, परं मनुष्येभ्योऽपि बलवति विद्याधरे पुरुषे यदि कोपः क्रियते तदा स्वस्यैव विरूपं स्यात्, ततः कोपं त्यक्त्वा निजप्राणराज्यरक्षाकृते तदुक्तं सर्वं शीघ्रं कुरुत ?'

तत् श्रुत्वा राजा कोपं विमुच्य हालिकवेषं विधाय तूर्णं मणिचूडखेचराधिपपार्श्वे समागत्य तं प्रणनाम, मणिचूडोऽपि तत्क्षणमेव तस्य हालिकवेषं परित्याज्य वरवस्त्राभरणादिभिस्तं सत्कारयामास.

इतो विद्याधरस्य वामपार्श्वोपविष्टां निजपुत्रीं मद्रावतीं दृष्ट्वा राजा स्वचित्तेऽत्यन्तं खेदं चकार. स्वपितरं मुखमुद्रातः खिन्नं विज्ञाय मद्रावती जल्पतिस्म 'हे तात! त्वं चित्ते क्लेशं मा समुद्वह ? असौ स एव कुष्टिपुरुषोऽस्ति, येन सार्द्धं भवद्भिर्मे पाणिग्रहणं कारितमासीत्, मम पुण्येन चायमिन्द्रतुल्यर्द्धिको जातः. विवेकिना चानेन भवच्छरीरात्कुष्ठिवेषो दूरीकृतः.'

तत् श्रुत्वा विस्मितचित्तो राजा विद्याधरं पृच्छति 'हे स्वामिन्! यूयमाश्चर्यकारकं निजचरित्रं कथयत ?' ततो विद्याध-

रेण निजं सकलं चरित्रं तस्मै निवेदितं. पुनर्विद्याधरेणोक्तं 'हे राजन्! त्वं धन्योऽसि यत्तवेदृशी सुशीला पुत्री वर्त्तते.' ततोऽसौ विद्याधरो निजर्द्धिं श्वसुरस्य दर्शयित्वा मइरावतीयुतो वैताढ्ये समागतः, तत्र सा राजपुत्री शीलप्रभावाद्विविधानि मनुष्यसुखानि भुंक्ते, एवं त्रिविधेन जिनधर्मं समाराधयंती प्रांते शुभध्यानेन कालं कृत्वा सा देवलोके गता.

॥ इति शीलविषये मइरावतीकथा समाप्ता ॥

इति मइरावतीकथानकं श्रुत्वा भो भव्या यूयं शीलविषये आदरं कुरुत?" इति जिनमुखात् श्रुत्वानंदो भणति 'हे स्वामिन्! ममोपरि कृपां कृत्वा मह्यं चतुर्थं व्रतं दीयतां ?" तदालापकस्त्वयं—

१ **अहण्णं भंते तुम्हाणं समीवे परदारगमणं समणोवासउ पच्चक्खाइ, सदारसंतोसं वा पडिवज्जइ. से अ परदारगमणे दुविहे पन्नत्ते–ओरालिअपरदारगमणे वेउव्विअपरदारगमणे अ. सदारसंतोसस्स समणोवासाणं इमे पंच अइआरा जाणिअव्वा, न फासिअव्वा.**

एतानतीचारान् गाथाबंधेनाह—'भाडीदाणे ईतर' इत्याद्यतीचारा ज्ञातव्याः.

[२ **अपरिग्गहिया इतर अणंगविवाह तिव्व अणुरागे चउत्थवयस्सइयारे पडिक्कमे देसिअं सव्वं.**]

---

१ अहं भगवन् युष्माकं समीपे परदारागमनं श्रमणोपासकः पच्चक्खामि, स्वदारासन्तोषं प्रतिपद्ये सः परदारागमनः द्विविधः प्रज्ञप्तः औदारिकपरदारागमनः वैक्रियपरदारागमनश्च स्वदारासन्तोषस्य श्रमणोपासकस्य एते पञ्चातिचारा ज्ञातव्या न स्पर्शयितव्याः

२ अपरिगृहिता-इत्वर-अनंग-विवाह-तिव्रानुरागान् चतुर्थव्रतातिचारान् प्रतिक्रमे दैवसिकं सर्वम्।

## ॥ अथ पञ्चमव्रतम् ॥

[असन्तोषमविश्वासमारम्भं दुःखकारणम्। मत्वा मूर्च्छाफलं कुर्यात्-परिग्रहनियन्त्रणम् ॥१०६॥

उ०—असन्तोषवतां पुंसा-मपमानः पदे पदे। सन्तोषैश्वर्यसुखिनां, दूरे दुर्जनभूमयः ॥ १ ॥

अपरिग्रह एव भवेद्वस्त्रा-भरणाद्यलङ्कृतोऽपि पुमान्। ममकारविरहितः सति, ममकारे सङ्गवान्नग्नः ॥ २ ॥

ग्रामं गेहं च विशन्, कर्म च नोकर्म चाददानोऽपि। अपरिग्रहोऽममत्वोऽपरिग्रहो नान्यथा कश्चित् ॥ ३ ॥

[1]जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं। तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति अ ॥ ४ ॥

[2]न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा। मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥ ५ ॥

**परिग्रहमहत्त्वाद्धि, मज्जत्येव भवाम्बुधौ। महापोत इव प्राणी, त्यजेत्तस्मात् परिग्रहं ॥ १०७ ॥**

**त्रसरेणुसमोऽप्यत्र, न गुणः कोऽपि विद्यते। दोषास्तु पर्वतस्थूलाः, प्रादुष्षन्ति परिग्रहे ॥ १०८ ॥**

उ०—धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानीहा गरीयसी। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् ॥१॥

**सङ्गाद्भवन्त्यसन्तोऽपि, रागद्वेषादयो द्विषः। मुनेरपि चलेच्चेतो-यत्तेनान्दोलितात्मनः ॥ १०९ ॥**

**संसारमूलमारम्भा-स्तेषां हेतुः परिग्रहः। तस्मादुपासकः कुर्या-दल्पमल्पं परिग्रहम् ॥ ११० ॥**

(१) यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा. कम्बलं वा पादप्रोञ्छनम्। तदपि संयमलज्जार्थं, धारयन्ति परिभुञ्जते च ॥

(२) न स परिग्रह उक्तः, ज्ञातपुत्रेण तायिना। मूर्च्छा परिग्रह उक्तः, इत्युक्तं महर्षिणा ॥

मुष्णन्ति विषयस्तेनादहति स्मरपावकः । रुन्धन्ति वनिताव्याधाः, सङ्गैरङ्गीकृतं नरम् ॥ १११ ॥

उ०—तृष्णा खनिरगाधेयं, दुष्पूरा केन पूर्यते । या महद्भिरपि क्षिप्तैः, पूरणैरेव खन्यते ।.१॥

तृप्तो न पुत्रैः सगरः, कुचिकर्णो न गोधनैः । न धान्यैस्तिलकश्रेष्ठी, न नन्दः कनकोत्करैः ॥११२॥

तपःश्रुतपरीवारां, शमसाम्राज्यसंपदम् । परिग्रहग्रहग्रस्ता-स्त्यजेयुर्योगिनोऽपि हि ॥११३॥

असन्तोषवतः सौख्यं, न शक्रस्य न चक्रिणः । जन्तोः सन्तोषभाजो य-दभयस्येव जायते ॥११४॥

सन्निधौ निधयस्तस्य, कामगव्यनुगामिनी । अमराः किङ्करायन्ते, सन्तोषो यस्य भूषणम् ॥११५॥

आ०—धनं धान्यं स्वर्णरूप्य—कुप्यानि क्षेत्रवास्तूनि । द्विपाच्चतुष्पाच्चेति स्यु—र्नव बाह्याः परिग्रहाः ॥१॥

रागद्वेषौ कषायाः शुग्—हासौ रत्यरती भयम् । जुगुप्सा वेदमिथ्यात्वे, आन्तराः स्युश्चतुर्दश ॥२॥

बाह्यात् परिग्रहात्प्रायः, प्रकुप्यन्त्यान्तरा अपि । प्रावृषो मूषिकालर्क—विषजोपद्रवा इव ॥३॥

प्राप्तप्रतिष्ठानपि च, वैराग्यादिमहाद्रुमान् । उन्मूलयति निर्मूलं, परिग्रहमहाबलः ॥४॥

परिग्रहनिषण्णोऽपि, योऽपवर्गं विमार्गति । लोहोडुपनिविष्टोऽसौ, पारावारं तितीर्षति ॥५॥

बाह्याः परिग्रहाः पुंसां, धर्मस्य ध्वंसहेतवः । तज्जन्मानोऽपि जायन्ते, समिधामिव वह्नयः ॥६॥

बाह्यानपि हि यः सङ्गा—न्न नियन्त्रयितुं क्षमः । जयेत् क्लीबः कथं सोऽन्तः—परिग्रहचमूममूम् ॥७॥

क्रीडोद्यानमविद्यानां, वारिधिर्व्यसनार्णसाम् । कन्दस्तृष्णामहावल्ले—रेक एव परिग्रहः ॥८॥

अहो आश्चर्यमुन्मुक्त-सर्वसङ्गान्मुनीनपि । धनार्थित्वेन शङ्कन्ते, धनरक्षापरायणाः ॥९॥
राजतस्करदायाद-वह्नितोयादिभीरुभिः । धनैकतानैर्धनिभि-र्निशास्वपि न सुप्यते ॥१०॥
दुर्भिक्षे वा सुभिक्षे वा, वने जनपदेऽपि वा । शङ्काऽऽतङ्काकुलतया, धनी सर्वत्र दुःखितः ॥११॥
निर्दोषा वा सदोषा वा, सुखं जीवन्ति निर्धनाः । बाध्यन्ते धनिनो लोके, दोषैरुत्पादितैरपि ॥१२॥
अर्जने रक्षणे नाशे, व्यये सर्वत्र दुःखदम् । धत्ते कर्णगृहीताच्छ-भल्ललीलां धनं नृणाम् ॥१३॥
धिग्धनं धनवन्तो य-देकामिषजिघृक्षुभिः । स्वजनैरपि बाध्यन्ते, शुनकाः शुनकैरिव ॥१४॥
इत्थमर्थं लभेयाहं, रक्षेयं वर्द्धयेय च । कृतान्तदन्तयन्त्रस्थो-ऽपीत्याशां न त्यजेद् धनी ॥१५॥
पिशाचीव धनाशेयं, यावदुच्छृङ्खला भवेत् । तावत् प्रदर्शयेन्नॄणां, नानारूपां विडम्बनाम् ॥१६॥
यदीच्छसि सुखं धर्मं, मुक्तिसाम्राज्यमेव च । तदा परपरिहारा-देकामाशां वशीकुरु ॥१७॥
स्वर्गापवर्गनगर-प्रवेशप्रतिरोधिनी । अभेद्या वज्रधाराभि-राशैव हि महार्गला ॥१८॥
आशैव राक्षसी पुंसा-माशैव विषमञ्जरी । आशैव जीर्णमदिरा, धिगाशा सर्वदोषभूः ॥१९॥
ते धन्याः पुण्यभाजस्ते, तैस्तीर्णः क्लेशसागरः । जगत्संमोहजननी, यैराशाऽऽशीविषी जिता ॥२०॥
पापवल्लीं दुःखखानिं, सुखाग्निं दोषमातरम् । आशां निराशीकुरुते, यस्तिष्ठति सुखेन सः ॥२१॥
आशादवाग्नेर्महिमा, कोऽपि लोकपथातिगः । धर्ममेघं समाधिं यो, विध्यापयति तत्क्षणाद् ॥२२॥

दीनं जल्पन्ति गायन्ति, नृत्यन्त्यभिनयन्ति च । आशापिशाचीविवशाः, पुमांसो धनिनां पुरः ॥२३॥
न यान्ति वायवो यत्र, नाप्यर्केन्दुमरीचयः । आशामहोर्मयः पुंसां, तत्र यान्ति निरर्गलाः ॥२४॥
येनाशायै ददे स्वाम्यं, तेनात्तं दास्यमात्मनः । आशा दासीकृता येन, तस्य स्वाम्यं जगत्त्रये ॥२५॥
नाशा नैसर्गिकी पुंसि, या जीर्यति न जीर्यति । उत्पात एव कोऽप्येषा, तस्यां सत्यां कुतः सुखम् ॥२६॥
वलयो वलयाः पुंसां, पलितानि स्रजः कृताः । किमन्यन्मण्डनं कृत्वा, कृतार्थाऽऽशा भविष्यति ॥२७॥
प्राप्तेभ्योऽप्यतिरिच्यन्ते, तेऽर्थास्त्यक्ता य आशया । क्रोडीकरोति यानाशा, ते तु स्वप्नेऽपि दुर्लभाः ॥२८॥
यानर्थान् बहुभिर्यत्नै-रिच्छेत्साधयितुं नरः । अयत्नसिद्धा एवैते, कृते ह्याशानिमीलने ॥२९॥
पुण्योदयोऽस्ति चेत् पुंसां, व्यर्थैवाशापिशाचिका । अथ पुण्योदयो नास्ति, व्यर्थैवाशापिशाचिका ॥३०॥
अधीती पण्डितः प्राज्ञः, पापभीरुस्तपोधनः । स एव येन हित्वाऽऽशां, नैराश्यमुररीकृतम् ॥३१॥
सुखं सन्तोषपीयूष-जुषां यत् स्ववशात्मनाम् । तत्पराधीनवृत्तीना-मसन्तोषवतां कुतः ॥३२॥
सन्तोषवर्मणि व्यर्था- आशानाराचपङ्क्तयः । ताः कथं प्रतिरोध्धव्या- इति मा स्माकुलो भव ॥३३॥
वाक्येनैकेन तद्वच्मि यद्वाच्यं वाक्यकोटिभिः । आशापिशाची शान्ता च, प्राप्तं च परमं पदम् ॥३४॥
तत्सन्त्यजाऽऽशावैवश्यं, मितीकृतपरिग्रहः । भजस्व द्रव्यसाधुत्वं, यतिधर्मानुरक्तधीः ॥३५॥
मिथ्यादृग्भ्यो विशिष्यन्ते, सम्यग्दर्शनिनो जनाः । तेभ्योऽपि देशविरता- मितारम्भपरिग्रहाः ॥३६॥

यामन्यतीर्थिका यान्ति, गतिं तीव्रतपोजुषः । उपासकाः सोमिलवत्–तां विराद्धव्रता अपि ॥३७॥
मासे मासे हि ये बालाः, कुशाग्रेणैव भुञ्जते । सन्तुष्टोपासकानां ते, कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥३८॥
अप्यद्भुततपोनिष्ठ–स्तामलिः पूरणोऽपि वा । सुश्रावकोचितगते–रतिहीनां गतिं ययौ ॥३९॥
आशापिशाचविवशं कुरु मा स्म चेतः, सन्तोषमुद्वह परिग्रहनिग्रहेण ।
श्रद्धां विधेहि यतिधर्मधुरीणताया–मन्तर्भवाष्टकमुपैषि यथाऽपवर्गम् ॥४०॥ ]

अथ पंचमं परिग्रहपरिमाणाख्यमणुव्रतं ये नराः पालयन्ति ते शिवसुखं प्राप्नुवन्ति, धन्याश्च ते मनुष्या इहलोकेऽपि श्लाघनीया भवंति, असंतोषेण तु जीवा मथुरानगरीवासिधनसारवद्दुःखिनो भवंति. तत् श्रुत्वानंदो जिनवरं प्रति भणति 'हे स्वामिन्! कोऽसौ धनसारश्रेष्ठी ? कथं च सोऽसंतोषेण दुःखी जातः ?' स्वामी वदति 'भो श्रमणोपासक ! सावधानमनास्त्वं तस्य दृष्टांतं शृणु ?'

"इहैव भरतक्षेत्रे मथुरानगर्यां धनसाराभिधः श्रेष्ठी वसति. स महाधनाढ्योऽस्ति द्वाषष्टिस्वर्णकोट्यस्तस्य गृहे संति, परं तिलतुषमात्रमपि धनं स कदाचिदपि धर्मकार्ये न ददाति. तदा लोकैस्तस्य कृपणश्रेष्ठीति नाम कृतं.

लक्ष्मीर्द्विधा भवति, एका पुण्यानुबंधिनी द्वितीया च पापानुबंधिनी; यस्य गृहे पुण्यानुबंधिनी लक्ष्मीरस्ति स पुमानिह लोके परलोके च सुखी भवति, या च पापानुबंधिनी भवेत् सा तत्स्वामिनं दुःखलक्षेषु पातयति.

अथान्यदा स श्रेष्ठी यावद्भूमिस्थितानि निधानानि पश्यति, तावच्चान्यंगारसर्पवृश्चिकमत्कोटकादिमयानि पश्यति. तत-

श्चिन्तामापन्नो यावत्स तिष्ठति तावदेकेन भृत्येनागत्य तस्मै प्रोक्तं 'भो श्रेष्ठीन्! तव प्रवहणानि भग्नानि,' तत् श्रुत्वा सोऽत्यन्तं तप्तो यावत्तिष्ठति तावत्स्थलमार्गगतच्छकटेषु धाटा पतिता तेन श्रुता, ततोऽसावतीवखिन्नश्चिन्तयति 'हा हा अथ मे कुटुंबनिर्वाहः कथं भविष्यति?' इति चिन्तातुरोऽसौ कथमपि स्वजनेभ्यो दशलक्षद्रव्यं गृहीत्वा स्वयं प्रवहणे चटितः, परं पूर्वकृतकर्मोदयात्तत्प्रवहणमपि भग्नं, आयुःकर्मयोगेन लब्धफलकोऽसौ समुद्रं तीर्त्वा तीरं प्राप्तश्चिन्तयति 'अरे! सांप्रतं मम सर्वमपि गतं, हा अथाहं किं करोमि? क्व च गच्छामि?' इति चिन्तातुरोऽसौ दिवसे भोजनसुखं रात्रौ च निद्रासुखमपि न प्राप्तवान्. उक्तं च—

**रूपं जरा सर्वसुखानि तृष्णा, खलेषु सेवा पुरुषाभिमानं।**
**याञ्चा गुरुत्वं गुणमात्मशंसा, चिंता बलं हंति दयां च लक्ष्मीः॥ १॥**

अथ द्वितीयदिने वनखंडे परिभ्रमन्नसौ तत्राम्रवृक्षतलोपविष्टं साधुमेकं ददर्श. स साधुः केवलज्ञानमण्डितो विद्याधरादिभिश्च सेव्यमान आसीत्. तं साधुं दृष्ट्वा हर्षाद्रोमांचितशरीरो धनसारस्त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वा तस्याग्रे समुपविष्टः, तदा मुनिरपि तं धर्मोपदेशं ददौ. तत् श्रुत्वा स तं पृच्छति 'हे भगवन्! केन कर्मणा पूर्वं ममर्द्धिः प्राप्ता, केन कर्मणा च पश्चात्सा नष्टा, कथं च मम कृपणत्वं संजातं? तत्सर्वं मयि कृपां विधाय कथयत?' मुनिरवादीत् 'भो धनसार! एतत्सर्वं पूर्वकर्मविपाकोद्भवं त्वं जानीहि? तद्यथा—

अत्रैव धातकीखंडे त्र्यंबकाभिधा नगरी वर्त्तते, तस्यां द्वौ भ्रातरौ वसतःस्म, तयोर्ज्येष्ठभ्राता सदा दानं ददाति, परं

लघुभ्राता कृपणत्वेन न किञ्चिदपि दानं ददाति. अथ च वृद्धभ्राता यदा दानं ददाति तदा स लघुः प्रत्युत तस्योपरि द्वेषं करोति, तदनंतरं स लघुभ्राता सर्वं धनं विभज्य स्वयं पृथग्जातः अथ स वृद्धभ्राता यथा यथा दानं ददौ, तथा तथा तस्य गृहे लक्ष्मीरधिकाधिकावर्द्धत, कृपणो लघुस्तु यथा यथा लक्ष्म्या यत्नेन रक्षणं करोति, तथा तथा तस्या हानिर्बभूव अथ निजवृद्धभ्रातुर्लक्ष्मीं वृद्धिं गतां विलोक्यातीवेर्ष्याकुलमानसो लघुभ्राता नृपस्याग्रे गत्वा तत्संबन्धि प्रच्छन्नं किंचिदलीकं कथयित्वा वृद्धभ्रातुः सर्वमपि धनं नृपेण लुण्टापयामास. क्रमेण वृद्धभ्रात्रा लघुभ्रातुस्तत्सर्वं दुश्चेष्टितं विज्ञाय वैराग्यवासितमानसेन संसारासारतां भावयता चारित्रं गृहीतं. पंचसमितित्रिगुप्तियुतं क्रोधादिकषायरहितं शुद्धं चारित्रं पालयन् द्वाविंशतिपरीषहान् सहन् प्रांते कालं कृत्वा स प्रथमदेवलोके देवो जातः. अथ स लघुभ्राता सर्वलोकैर्निन्द्यमानः खेदतस्तापसीं दीक्षां गृहीत्वाऽज्ञानकष्टं विधाय मृत्वाऽसुरकुमारेषु देवो जातः.

अत्र भवे यादृक्कर्म जीवः करोति तादृगेव तत्परभवे ह्युदयमायाति. ततश्च्युत्वा त्वं धनसारश्रेष्ठी जातः, दानांतरायाच्च तवेदृक् कृपणत्वं जातं, पूर्वभवे त्वया वृद्धभ्रातुर्धनं राज्ञः पार्श्वाल्लुण्टापितं तेन कर्मणा तव सर्वं धनं गतं.

अथ च वृद्धभ्राता सौधर्मदेवलोकाच्च्युत्वा ताम्रलिप्त्यां नगर्यां श्रेष्ठिगृहे समुत्पन्नः स तत्र महर्द्धिकः सर्वसुखानां च भाजनं जातः पूर्वार्जितपुण्येन स बहुकालं सुखं भुंक्त्वा दीक्षां गृहीत्वा तपः कुर्वन्ननुक्रमेण केवलज्ञानमुत्पाद्य पृथ्व्यां विहृतवान, स एवाहं तव पूर्वभववृद्धभ्राताऽस्मीति जानीहि ? तत् श्रुत्वा तं च स्वकीयं पूर्वभवभ्रातरं ज्ञात्वा विस्मितोऽसौ तत्पादयोः पतित्वा मिथ्यादुष्कृतं दत्तवान्.

ततस्तेनोक्तं 'हे भगवन्नद्यप्रभृत्यहमुपार्जितधनस्य चतुर्थं भागं रक्षयित्वा शेषं सर्वं धर्मार्थमेव दास्यामीति नियममहं गृह्णामि, तथा स्वमुखेनाहं कस्यापि दोषं नोद्घाटयिष्यामी'ति नियमं गृहीत्वा श्रावकधर्मं च प्रतिपद्य केवलिनं च नत्वासौ ताम्रलिप्तीं नगरीं समाययौ. तत्र रात्रौ कस्मिंश्चिच्छून्यगृहे स विशुद्धपरिणामः कायोत्सर्गे स्थितः. इत एकः सुरस्तत्रागत्य धनसारं प्रत्युपसर्गं चकार, धूलिपिपीलिकासर्पवृश्चिकादयस्तेन विकुर्विताः, परं तस्य मनो मेरुचूलावन्न चचाल. ततोऽसौ देवस्तुष्टः सन् तस्य पादयोर्लगित्वा नमस्कृत्यैवमवादीत् 'हे महाभाग! त्वं धन्यः कृतपुण्योऽसि, धन्या सा तव जननी यस्याः कुक्षौ त्वं समुत्पन्नः, तव दृढधर्मपरिणामेनाहं तुष्टोऽस्मि, अथेतस्त्वं मथुरायां याहि? तत्र त्वं तव विनष्टं धनं लप्स्यसे.' इत्युक्त्वा देवो निजस्थाने गतः

अथ प्रभाते स कायोत्सर्गं पारयित्वा पारणकं च कृत्वानुक्रमेण ततो मथुरायां समागतः, तत्र च तस्य सर्वं धनं प्राप्तं, ततोऽसौ निजपरिग्रहप्रमाणं विधाय शेषं सर्वं धनं सप्तक्षेत्रेषु व्ययीकृतवान्. तद्यथा-जिनचैत्युषु १ जिनप्रतिमाविषये २ जैनपुस्तकेषु ३ साधवे ४ साध्व्यै ५ श्रावकाणां ६ श्राविकाणां च ७ पोषणाय स निजद्रव्यं व्ययति. एवं सदा पुण्यं कृत्वायुःक्षये मृत्वा सौधर्मदेवलोकेऽसौ चतुःपल्योपमायुर्महर्द्धिको देवो जातः, तत्रापि देवसुखानि भुंक्त्वा ततश्च्युत्वा महाविदेहे मनुष्यत्वं प्राप्य दीक्षां गृहीत्वा कर्मक्षयं विधाय केवलज्ञानं प्राप्य स मुक्तिसुखं प्राप्स्यति.

॥ इति परिग्रहपरिमाणविषये धनसारकथा समाप्ता ॥

अतो भो भव्या एवं संतोषोपरि धनसारकथा श्रुत्वा पंचमाणुव्रते यूयमादरं कुरुत? तत् श्रुत्वानंदगाथापतिरपि परिग्रहपरिमाणव्रतं गृह्णातिस्म.

## ॥ अथ रात्रिभोजनत्यागः ॥

अथ भगवान् रात्रिभोजनव्रतं प्ररूपयति—रात्रिभोजने हि महान् दोषोऽस्ति, तस्य पापस्यांतः केवलिनापि न प्राप्यते तर्हि अन्यस्य का वार्त्ता ? यः पुमान् रात्रिभोजनस्य विरतिं करोति स एतत्पुण्यं प्राप्नोति, तद्यथा—

१जो पुण करेइ विरइं । राइभत्तस्स सत्तसंजुत्तो॥ सो निअआउअद्धस्स । लहइ उववासफलमउलं ॥१॥

अन्यशास्त्रेऽप्युक्तं—

चत्वारि खलु कर्माणि । संध्याकाले विवर्जयेत् ॥ आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायं च विशेषतः ॥२॥

आहाराज्जायते व्याधिः । क्रूरगर्भश्च मैथुनात् ॥ निद्राता धननाशः स्यात् । स्वाध्याये मरणं भवेत् ॥३॥

रात्रिभुक्तेः—

२तसजीवाण विग्घाओ। तहेव संपाइआण निसिभुत्ते॥ दिट्ठो जिणेहिं तो तं । वज्जेअव्वं पयत्तेणं ॥४॥

सिद्धांतेऽप्युक्तं:—

३तज्जोणीआण जीवाणं । तहा संपायमाइणं ॥ निसिभुत्ते वहो दिट्ठो । सव्वदंसीहिं सव्वहा ॥४॥

---

१ य पुनः करोति विरतिं रात्रिभक्तस्य सत्वसंयुक्तः । स निजायुष्यार्द्धस्य लभते उपवासफलमतुलम् ॥

२ त्रसजीवानां विघातः तथैव संपातिमानां निशि भुक्ते । दृष्टः जिनैः ततो तद् वर्जनीयं प्रयत्नेन ॥

३ तद्योनिकानां जीवानां तथा संपातिकानां निशि भुक्ते वधो दृष्टः सर्वदर्शिभिः सर्वथा । जीवानां कुंथ्वादीनाम् घातनं भाजनधावनादिषु एवमादि रजनीभोजनदोषं कः कथयितुं तरति । यद्यपि हु फासुकद्रव्यं कुंथुपनकादि तथा दुष्प्रेक्ष्याः प्रत्यक्षज्ञानिनोऽपि रात्रिभुक्तं परित्यजन्ति ॥

जीवाण कुंथुमाईण। घायणं भाणधोअणाईसु ॥ एमाइरयणोभोअण-दोसं को साहिउं तरइ ॥५॥
जइविहु फासुअदव्वं। कुंथुपणगाइ तहय दुपिच्छा ॥ पच्चखि नाणिणोवि हु। राइभुत्तं परिहरंति ॥६॥

लोकेऽप्युक्तं—

मेधां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम्। कुरुते मक्षिका वान्तिं, कुष्ठरोगं च कोलिकः ॥
कण्टको दारुखण्डं च, वितनोति गलव्यथाम्। व्यञ्जनान्तर्निपतित-स्तालु विध्यति वृश्चिकः ॥

परसमयेऽप्युक्तं—

त्रयीतेजोमयो भानु-रिति वेदविदो विदुः। तत्करैः पूतमखिलं, शुभं कर्म समाचरेत् ॥
नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम्। दानं वा विहितं रात्रौ,, भोजनं तु विशेषतः ॥
[ अन्नं प्रेतपिशाचाद्यैः, सञ्चरद्भिर्निरङ्कुशैः। उच्छिष्टं क्रियते यत्र, तत्र नाद्याद् दिनात्यये ॥
घोरान्धकाररुद्धाक्षैः, पतन्ता यत्र जन्तवः। नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र भुञ्जीत को निशि ? ॥
विलग्नश्च गले वालः, स्वरभङ्गाय जायते। इत्यादयो दृष्टदोषाः, सर्वेषां निशि भोजने ॥१॥
नाप्रेक्ष्य सूक्ष्मजन्तूनि, निश्यद्यात्प्रासुकान्यपि। अप्युद्यत्केवलज्ञानै-र्नादृतं यन्निशाऽशनम् ॥
धर्मविन्नैव भुञ्जीत, कदाचन दिनात्यये। बाह्या अपि निशाभोज्यं, यदभोज्यं प्रचक्षते ॥२॥
दिवसस्याष्टमे भागे, मन्दीभूते दिवाकरे। नक्तं तु तद्विजानीया-न्न नक्तं निशि भोजनम् ॥

देवैस्तु भुक्तं पूर्वाह्णे, मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा । अपराह्णे च पितृभिः, सायाह्ने दैत्यदानवैः ॥३॥
सन्ध्यायां यक्षरक्षोभिः, सदा भुक्तं कुलोद्वह ! । सर्ववेलां व्यतिक्रम्य, रात्रौ भुक्तमभोजनम् ॥
हृन्नाभिपद्मसङ्कोच-श्चण्डरोचिरपायतः । अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि ॥४॥
संसजज्जीवसङ्घातं, भुञ्जाना निशि भोजनम् । राक्षसेभ्यो विशिष्यन्ते, मूढात्मानः कथं नु ते ! ॥
वासरे च रजन्यां च, यः खादन्नेव तिष्ठति । शृङ्गपुच्छपरिभ्रष्टः, स्पष्टं स पशुरेव हि ॥५॥
अह्नो मुखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे घटिके त्यजन् । निशाभोजनदोषज्ञो-ऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥
अकृत्वा नियमं दोषा-भोजनाद्दिनभोज्यपि । फलं भजेन्न निर्व्याजं, न वृद्धिर्भाषितं विना ॥६॥
ये वासरं परित्यज्य, रजन्यामेव भुञ्जते । ते परित्यज्य माणिक्यं, काचमाददते जडाः ॥
वासरे सति ये श्रेय-स्काम्यया निशि भुञ्जते । ते वपन्त्यूषरक्षेत्रे, शालीन् सत्यपि पल्वले ॥७॥
उलूककाकमार्जार-गृध्रशम्बरशूकराः । अहिवृश्चिकगोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥
श्रूयते ह्यन्यशपथा-ननादृत्यैव लक्ष्मणः । निशाभोजनशपथं, कारितो वनमालया ॥८॥
करोति विरतिं धन्यो, यः सदा निशि भोजनात् । सोऽर्द्धं पुरुषायुषस्य, स्यादवश्यमुपोषितः ॥
रजनीभोजनत्यागे, ये गुणाः परितोऽपि तान् । न सर्वज्ञादृते कश्चि-दपरो वक्तुमीश्वरः ॥९॥ ]

इत्यादि दोषान् ज्ञात्वा ये पुण्यात्मानो रात्रिभोजनं परिहरन्ति ते धन्याः केवलवत्सुखिनो भवन्ति, पुनर्ये मूढा रात्रिभो-

जननियमं कृत्वा तस्य भङ्गं कुर्वन्ति ते हंसवणिगिव दुःखभाजनं भवन्ति.

तदानंदो प्रभुं प्रत्यपृच्छत् 'हे भगवन्! कृपां कृत्वा तद् दृष्टान्तं कथयत?' भगवानुवाच 'भो पुण्यत्मन्! त्वं सावधानतया शृणु?'

अस्मिन् जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे कुंडिनपुरनाम नगरं वर्त्तते, तत्रैको धनाढ्यो यशोधरनामा वणिग्वसति. तस्य च रंभाभिधा भार्यासीत्. तयोर्द्वौ पुत्रौ स्तः, एको हंसो द्वितीयः केशवश्च. तौ तत्र मनुष्यसुखान्यनुभवन्तौ कालं गमयतः स्म.

अथान्यदा तौ द्वौ भ्रातरावेकस्मिन् वनखंडे क्रीडार्थं गतौ. तत्राम्रवृक्षतलोपविष्टं मुनिमेकं तौ पश्यतःस्म. स मुनिः पंचसमितित्रिगुप्तिमण्डितः पंचमहाव्रतधारी साक्षाद्धर्ममूर्तिरिव जितेन्द्रिय आसीत्, तं दृष्ट्वा तौ त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदेतेस्म. मुनिनापि ताभ्यां धर्मलाभपूर्वकं रात्रिभोजनत्यागविषये धर्मोपदेशो दत्तः, कथितं च रात्रिभोजनत इह लोके परलोकेऽपि च जीवो महादुःखं प्राप्नोति, तत् श्रुत्वा तौ रात्रिभोजननियमं कृत्वा गृहे समागतौ, भोजनं विधाय चतुष्पथे गत्वा निजहट्टस्थौ व्यापारं कुरुतः स्म.

ततस्ताभ्यां गृहे समागत्य जनन्यग्रे वैकालिकं याचितं, तत् श्रुत्वा जनन्योक्तं 'हे पुत्रौ अद्यापि घटिकात्रयं दिनं वर्त्तते, ततोऽधुनैव भवद्भ्यां वैकालिकं कथं याच्यते? तावूचतुर्हे मातरावाभ्यां साधुसमीपे रात्रिभोजननियमो गृहीतोऽस्ति, ततो वयं रात्रौ भोजनं न करिष्यावः, ततोऽधुनैव चेत्किंचित्स्यात्तर्हि भोजनाय देहि? अन्यथा सृतं.' जनन्युवाच 'रे पुत्रौ! अधुना वैकालिकं केन कृतमस्ति? रात्रौ यदा भविष्यति तदा भवत्पित्रा सह भोक्तव्यं. तावूचतुर्हे मातरावां रात्रौ तु सर्वथा न भोक्ष्या-

वः, तत् श्रुत्वा यशोधरश्रेष्ठी चिन्तयति एतौ मे पुत्रौ रात्रिभोजननियमं कारयित्वा केन धूर्त्तेन वञ्चितौ ? धिगूधिग् मयि जीवति सति आभ्यां कुलक्रमो मुक्तः, यद्येतौ रात्रौ भोजनं न कुर्यास्तां तर्हि मे कुलधर्मस्तु सर्वथा गत एव, अतो निश्चये-नैतयोर्दिवसेऽहं भोजनं न कारयिष्यामि, क्षुधितौ च तौ स्वयमेव रात्रौ भोजनं करिष्यतः,' इति ध्यात्वा श्रेष्ठिना प्रच्छन्नतया भार्यायै कथितं 'दिवसे ह्येतयोस्त्वया चर्वणादिकमपि न किमपि दातव्यं.'

एवं निवारितया पत्न्यापि भर्त्तुराज्ञावशेन तत्सर्वं स्वीकृतं.

ततः सा तयोर्भणति 'हे पुत्रौ अन्ननिष्पत्तिर्निशि भविष्यति, पक्वान्नादि च किंचिदपि गृहे नास्ति. ततो रात्रावेव युवाभ्यां पित्रा सह भोक्तव्यं, किंच त एव पुत्राः कुलीना ये पितुर्मार्गेऽनुसरन्ति,' ताभ्यामुक्तं 'हे मातः पितुः सुमार्गस्तु पुत्रैः सेव्यते, परं जनकस्य कूपपतनं दृष्ट्वा पुत्रैरपि किं कूपे पतितव्यं ?' इत्युक्त्वा तौ मौनं विधाय गृहान्निर्गतौ, श्रेष्ठ्यपि कुपितो भार्यां गाढं निवारयामास यद्रात्रावेव ताभ्यां त्वया भोजनं देयं, दिवसे तु कदाचिदपि न देयमिति.

अथ रात्रौ श्रेष्ठिना भोजनार्थमाकारितौ, परं ताभ्यां भोजनं न कृतं.

अथ द्वितीयदिने कुटिलचित्तेन श्रेष्ठिना व्यापारे तथा तौ नियुक्तौ यथा तयोस्तत्रैव सकलं दिनं व्यतीतं, अथ रात्रौ ताभ्यां पित्रा भोजनार्थं कथितं, परं ताभ्यां भोजनं न कृतं, एवं तयोर्भोजनरहितानि पंचदिनानि गतानि, षष्ठे दिने समागतौ पुत्रौ प्रति यशोधरो मिष्टवचनैरुवाच 'हे पुत्रौ यथा मम सुखं भवेत्तथैव भवद्भ्यां कर्त्तुं युज्यते, सुपुत्रास्त एव ये स्वजनकं सुखं यच्छन्ति अतो युवामधुनैव भोजनं कुरुतम् ? युवाभ्यां भोजने कृते सत्येव युष्मज्जनन्यपि भोजनं करिष्यति अद्य

भवज्जनन्या (युष्मज्जनन्या) अपि षष्ठ :उपवासोऽस्ति, षड्मासिका भवद्भगिन्यपि सुकुमालशरीरा स्तन्यमलभमाना म्लानिमात्रा दृश्यते.किंच पण्डिता अपि वदन्ति यद्रात्र्याः प्रथमप्रहरस्य चतुर्घटिका यावद्भोजनकरणे रात्रिभोजनदोषो न भवेत्, अथाऽधुना रात्रिघटिकाद्वयमपि गतं नास्ति, अतो भोजनं कुरुतं ? यदि च युवाभ्यां नैव भोजयिष्यते तदा भवज्जननी भगिनी च बुभुक्षया मरिष्यतः.' इत्यादि जनकवचांसि श्रुत्वा क्षुत्पीडितो हंसो वृद्धभ्राता दीनमनाः केशवस्याननं पश्यति, तदा केशवेन ज्ञातं 'नूनमसौ सत्त्वाच्चलितोऽस्ति.' तदा केशवः पितरं भणति 'हे तात ! यथो मम सुखं भविष्यति तथैवाहं करिष्यामि, पुत्रस्य मातरं प्रति वात्सल्यं तदेव, यत्पुत्रेण माता धर्मकार्ये नियुज्यते. रात्र्या अर्वागंतर्मुहूर्त्तं दिवसं यावदपि भोजनकरणे रात्रिभोजनदूषणं भवेत्, अधुना तु निशैव वर्त्तते, अतोऽत्रार्थे त्वयाहं मुहुर्मुहुर्न वक्तव्यः,'

तत् श्रुत्वा कुपितः श्रेष्ठी पुत्रं प्रत्यवादीत् ' भो कुपुत्र ! दुष्टात्मा त्वं यदि मे वचनं न मन्यसे तदा मम गृहान्निस्सर ? मम दृष्टिपथाच्च दूरे भव ?' तत् श्रुत्वा केशवः कंदरात्केसरीव द्रुतं गृहान्निर्ययौ, हंसस्तु तत्पृष्ठे गच्छन् पित्रा करयोर्धृत्वा प्रलोभ्य च भोजनायोपावेशितः

अथ केशवो गृहान्निर्गत्य नगरग्रामाकराणि लंघयन्नग्रे गच्छन्नेकस्यां महाटव्यां कस्यचिद्यक्षस्य चैत्यं ददर्श. तत्र बहवो जना यक्षस्य यात्रार्थं संमिलिताः सन्ति, एके यक्षस्य पूजां कुर्वन्ति, परे नृत्यं कुर्वन्ति, अपरे च बलिपूजार्थं लपनश्रीशालिदालिघृतवटकपक्वान्नादि निष्पादयन्ति.

इतः केशवोऽपि वासार्थं तत्र चैत्ये समागतः. केशवमागच्छन्तं दृष्ट्वा हृष्टा यात्रिका वदन्ति,' भो पांथ ! स्वागतं ते, भोजनं कृत्वास्मान् कृतार्थय ? अद्य यक्षव्रतस्यास्माकं पारणकं वर्त्तते, तेनाद्यातिथीभूतस्त्वं प्रथमं भोजनं कुरु ? पश्चादस्माभिरपि पारणकं करिष्यते, अतिथेः प्रथमं भोजनतोऽस्माकं महत्पुण्यं भविष्यति, वयं सर्वसामग्रीं विधायातिथेरेवावगमनं प्रतिपाल्यमानाः स्थिता आस्मः, इतः पुण्ययोगेनैव त्वमस्माकं दृष्टिपथे समायातः' तेषामित्यादिवचनानि श्रुत्वा केशवः प्राह 'भो यात्रिका एतद्भवतां कीदृग्व्रतं ? यस्य रात्रौ पारणकं क्रियते'. ते प्रोचुः 'भो पांथ ! इदं माणवकयक्षस्य चैत्यं वर्त्तते, यक्षश्चायं महाप्रभावको जगदानंददायकोऽस्ति, अद्य चास्य यात्रास्ति, ततोऽद्य यः कोऽपि दिवसे उपोषितो तत्पूजादिविधाय रात्रौ कस्याप्यतिथेर्भोजनं कारयित्वा पारणकं करोति तस्य महत्पुण्यं भवति, ततो हे सत्पुरुष ! प्रथमं त्वं भुंक्ष्व ? पश्चाद्वयमपि भोजनं करिष्यामः.' तत् श्रुत्वा केशवोऽवादीत् ' भो यात्रिका ! अहं न करोमि रात्रौ भोजनं, रात्रौ भोजनं कर्त्तुं युक्तं नास्ति, किंच भो यात्रिका अस्मिन्नेवंविधे दिवसे उपवासे कृते गुञ्जासमं पुण्यं भवति रात्रौ च भोजने कृते पर्वतसमं महत्पापं भवति. तथासौ उपवास एव न भवति यत्र रात्रौ पारणकं क्रियते. ये च दिवसे उपवासं कुर्वन्ति रात्रौ च भोजनं कुर्वन्ति ते नरा दुर्गतिमेव लभंते,' तद् श्रुत्वा यात्रिकाः प्रोचुर्भो सत्पुरुष ! अस्य यक्षस्य तपोविषये त्वयमेव विधिः प्रवर्त्तते, अतोऽत्र शास्त्रविचारस्त्वया न कोऽपि कर्त्तव्यः. इत्युक्त्वा ते सर्वेऽपि यात्रिकाः केशवस्य पादयोरपतन्, परं केशवेन तेषां वचनं न स्वीकृतं.

इतो यक्षप्रतिमात एको महाभयंकरः खड्गपाणिः पुमान्निर्गत्य केशवं प्रत्याह 'रे दुरात्मन् ! त्वं मम धर्मं किं दूषयसि ?

मम भक्तानां यात्रिकाणां च कथमपमानं यच्छसि ? रे पापिष्ठ ! त्वं शीघ्रं भुंक्ष्व ? अन्यथा तव शिरः खड्गेन शतखंडं करिष्यामि.' तत् श्रुत्वा केशवः प्राह ' भो यक्ष ! कुतो मां क्षोभयसि ? मम मरणभयं नास्ति, यत्र जन्म तत्र मरणं भवत्येव, ततोऽत्र का भीतिः ? परं गुरोः समीपे गृहीतं व्रतं नाहं खंडयिष्यामि.' तत् श्रुत्वा यक्षः स्वकिंकराणां कथयति ' भो सेवका ! अस्य पापिष्ठस्य गुरुमत्रानयत ? यथा स एनं भोजयेत्.'

अथ ते किंकरा द्रुतं मायया कृत्रिमं धर्मघोषनामानं तद्गुरुं बध्ध्वा तत्रानयामासुः, केशवोऽपि तं गुरुं विलपन्तं पश्यति, ततो यक्षस्तं कृत्रिमं मुनिं प्राह ' भो मुने ! त्वं स्वशिष्यं भोजनं कारय ? अन्यथा त्वामप्यहं हनिष्यामि,' तत् श्रुत्वा स मुनिः केशवं प्रति वदति ' भो केशव ! देवगुरुसंघकार्ये धर्मी पुमानकृत्यं करोत्येव, अतस्त्वं रात्रावपि भोजनं कुरु ? अन्यथासौ मां मारयिष्यति.' केशवेनोक्तं ' शृणु ? यो मम गुरू रात्रिभोजनस्य नियमं ददाति, वीतरागप्रणीतं धर्मं चाख्याति स मरणभयात्कथं पापोपदेशं दास्यति ? अतो नूनं त्वं मे गुरुर्न, किं तु मायाविनोऽस्य यक्षस्येयं सर्वा मायैव वर्त्तते.' तत् श्रुत्वा यक्षः केशवं प्रति ' कथयति, रे दुष्ट ! त्वं द्रुतं भुंक्ष्व ? अन्यथा तव गुरुमधुनैव हनिष्यामि.' केशवेनोक्तं ' रे मायविन् ! एष मम गुरुर्नास्ति, मे गुरुः पंचमहाव्रतधारकः षड्कायजीवप्रतिपालकः कदापि त्वत्सदृशानां वशे नायाति, तस्य सन्मुखमपि भवता विलोकयितुं न शक्यते.' अथ स मुनिः केशवं प्रत्युवाच ' भो केशव ! स एवाहं तव गुरुरस्मि, अतो रात्रौ भुंक्त्वा त्वं मां रक्ष ?' इति विलपन् मुनिर्यक्षेण हतो धरित्र्यां पपात. तथापि दृढचित्तं केशवं प्रति यक्षो मुद्गरमुत्पाट्य वदति ' हे केशव ! अधुनापि यदि भोक्ष्यसे, तदा शीघ्रमेव त्वद्गुरुमहं सजीवं करिष्यामि, महर्द्धियुक्तं च राज्यं तुभ्यं दास्यामि. यदि च त्वं

मम वचनं नैव मन्यसे तदानेन मुद्गरेण त्वां हत्वा यमगृहे प्रापयिष्यामि.' तत् श्रुत्वा स पुण्यात्मा केशवो हसन् सन् यक्षं प्रत्याह 'भो यक्ष ! असौ मम गुरुर्नास्ति, यदि च त्वया मृता अपि जीवाप्यंते, तर्हि पूर्वं मृतांस्तव सेवकांस्त्वं कथं न जीवापयसि ? यदि च त्वं राज्यं दातुं क्षमस्तर्हि तव भक्तानामेव तद्देहि ? अहं तु राज्यं नेच्छामि. मरणं त्वेकवारमवश्यंभावित्वान्मे ततो भयं नास्ति.' इति केशवस्य वचनानि श्रुत्वा गतक्रोधो यक्षोऽतीवहृष्टः सन् तमालिंग्यावदत् 'भो केशव ! अहं तव धर्मदृढतायास्तुष्टोऽस्मि, नूनमयं तव गुरुर्नास्ति, केवलं मया मायां विकुर्व्य तव परीक्षा कृता. मृताः प्राणिनो मया कथमपि न जीवाप्यन्ते, तथैव कस्यापि राज्यमपि मया न दातुं शक्यते.' एतद् दृष्ट्वातीव विस्मिता यात्रिकलोकाः केशवं प्रति ब्रुवन्ति, 'हे महाभाग ! सप्तोपवासैर्नूनं त्वं खिन्नोऽसि, तस्मादधुना शयनं कुरु ? अथ त्वं यदि दिवसे भोक्ष्यसे तर्हि वयमपि दिवस एव भोक्ष्याम' इत्युक्त्वैकं तल्पं तस्मै ते दर्शयामासुः, केशवोऽपि तत्र सुष्वाप. यात्रिकलोका अपि तं दृढप्रतिज्ञं विज्ञाय तस्य विश्रामणां कर्त्तुं लग्नाः.

इतः केशवस्य निद्रा समागता, तदा यक्षः प्रत्यक्षीभूय केशवं चोत्थाप्य वदति, 'भो केशव ! रजनी गता, सूर्योदयो जातः, अतो निद्रां मुक्त्वा सावधानो भव ?' तत् श्रुत्वा केशवो यावच्चक्षुषी उद्घाट्य पश्यति तावत्तेन सर्वत्रोद्योतो दृष्टः, आकाशे च सूर्यमपि पश्यति, तदा केशवश्चिन्तयति 'अहं तु सदा ब्राह्मे मुहूर्त्ते एव गतनिद्रो भवामि, अद्य तु अद्यापि मम नेत्रे निद्रा वर्त्तते, ततो नूनं सूर्योदयो न जातोऽस्ति,' इति शङ्कितमानसं केशवं विज्ञाय यक्ष आह 'भो केशव ! त्वं विस्मयं मुञ्च ? प्रभातकृत्यानि च कृत्वा पारणं कुरु ?' तत् श्रुत्वा केशवः प्राह 'भो यक्षराज ! त्वं मां किं विप्रतारयसि ? अद्यापि-

प्रचुरा रजनी वर्त्तते, केवलं तव मायय्यैवैष दिवस उद्गतोऽस्ति,' इति वदतः केशवस्योपरि आकाशात्पुष्पवृष्टिः पतिता, तथा ' हे केशव ! त्वं जय जयेति' गगनवाणी समुद्भूता. तत्क्षणमेवैको देवः प्रकटीभूतः, विस्मितः केशवो यावत्समंताद्विलोकयति तावत्तं देवं, विना न यक्षं, न यक्षमंदिरं, न चापि यात्रिकलोकान् स पश्यति.

अथ स सुरः केशवं प्रति वदति ' भो केशव ! त्वमेवैक पुण्यवतां मध्ये रत्नतुल्यो वर्त्तसे, युष्मद्दृशानां जन्मतो नूनं पृथ्वी रत्नगर्भा कथ्यते, अन्यदा सुरेन्द्रेण देवसभायां त्वत्प्रशंसा कृता, ' यद्यशोधरश्रेष्ठिनस्तारुण्योपेतदेहो महापुण्यात्मा केशवनामा पुत्रो रात्रिभोजननियमात्केनापि चालयितुं न शक्यते, स मेरुचूलावत्तद्व्रते दृढपरिणामोऽस्ति,' तत् श्रुत्वा सर्वैरपि देवैस्तथैवेति शक्रवचः स्वीकृतं, परं वह्निसुराभिधेन मया देवेन चिन्तितमिंद्रो यद्वदति तदसत्यं, यतो मनुष्याणां मध्ये इदृशी दृढता कुतो लभ्यते ?' ततोऽत्रागत्य मया यक्षस्य गृहं यात्रिकलोकांश्च विकुर्व्य त्वत्परीक्षा कृता, परं त्वन्मनो मनागपि चालयितुमहं क्षमो नाभवं अतो नूनं त्वं धन्यः कृतपुण्यश्चासि. भो महाभाग ! यो मया त्वदपराधः कृतस्तं प्रसादं कृत्वा क्षम्यतां. किंच हे भ्रातर्देवदर्शनं निष्फलं न स्यात्, अतस्त्वं किमपि प्रार्थय ?' केशवः प्राह ' हे देव मया सर्वं प्राप्तं यद्भवतां दर्शनं जातं.' तत् श्रुत्वा देवः प्राह ' हे सत्पुरुष ! अद्यप्रभृति त्वत्पादप्रक्षालनजलसेकतो रोगी जनो निरोगी भविष्यति, तथातुरस्त्वं यत्किञ्चित्ते चिन्तयिष्यसि तत्सर्वं ते शीघ्रमेव भविष्यति, पुण्यवतां किमपि दुष्करं नास्तिइत्युक्त्वा देवस्तमेकस्य नगरस्य समीपे मुक्त्वाऽदृश्यीभूतः.

अथ केशवः प्रातःसमये निजसमीपे वप्रप्रतोलिमंदिरादिमंडितं नगरमेकं पश्यति. प्रातःकृत्यानि कृत्वा यावत्स पुरं प्रति

चलति तावदग्रे धर्मोपदेशं कुर्वन्तं श्रीधर्मसूरिनामानमाचार्यं विलोकयामास. तत्र गत्वा तं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य नमस्कारं विधाय स यथायोग्यस्थाने समुपविष्टः.

इतः साकेतपुरराजा धनंजयो गुरुवंदनार्थं तत्र समागतः, वंदित्वोपविश्य स च धर्मदेशनां शृणोति. देशनावसाने च राजा गुरुं पृच्छति 'हे भगवन्! व्रतग्रहणे चिरकालीनो मम मनोरथो वर्त्तते, जराराक्षस्यपि समागतास्ति, तया राक्षस्या च मम देहः पराभूतोऽस्ति, अतो हे भगवन् किं करोमि? अपुत्रत्वाच्च कस्य राज्यं यच्छामि? अनया चिन्तयाहं दुःखितोऽस्मि. पुनर्हे पूज्य! अद्य रजन्यामहं सुखेन सुप्त आसीत्, तदैकेन दिव्यपुरुषेण ममेत्युक्तं 'हे राजन्! त्वं चिन्तां मा कुरु? प्रभाते गुरुवंदनार्थं गतस्य ते गुरुसमीपोपविष्टो यो नरो दृष्टिपथं समागच्छेत्तस्मै नराय राज्यं दत्वा दीक्षां च गृहीत्वा त्वं सुखी भवेत्युक्तवा स पुरुषोऽदृश्यीभूतः. अथ गतनिद्रोऽहं प्रातःकृत्यानि कृत्वात्र समागतोऽस्मि. ततो गुरुणा केशवस्य सर्वोऽपि रात्रिभोजननियमवृत्तान्तो वह्निदेवकृततत्परीक्षायुतो राज्ञोऽग्रे कथितः, ततो गुरुणा दर्शितं तत्रोपविष्टं केशवं दृष्ट्वा विस्मितो राजा पुनर्गुरुं पृच्छति 'हे भगवन्! रात्रौ मम केन पूर्वोक्तो वृत्तान्तः कथितः?' गुरुणोक्तं 'हे राजन्! येन देवेन केशवस्य परीक्षा कृता, तेनैव देवेन हृष्टेन भवदग्रे तत्कथितं.'

तत् श्रुत्वातीवप्रमुदितो राजा केशवं हस्तिस्कन्धे समारोप्य महताडंबरेण निजगृहे समानीतवान्, शुभमुहूर्त्ते च राजा केशवं निजराज्ये स्थापयामास. ततो राजा गुरुसमीपे समागत्य शुभभावेन दीक्षां जग्राह. केशवोऽपि गुरून् राजर्षिं च वन्दित्वा निजनगरे समागतः, तत्र जिनप्रतिमाः पूजयित्वा दीनदुःस्थितेभ्यश्च दानं दत्वा स पारणं कृतवान्. ततो निजभुजबलेन

बहुदेशान् साधयित्वा स राजाधिराजो जातः सन् निजप्रजामिव प्रजां पालयन् सुखेन निजकुटुंबमिलनोत्सुकस्तत्र तिष्ठति.

अथान्यदा गवाक्षोपविष्टः केशवनृप इतस्ततः पश्यन् पथि महामलिनवस्त्रावृतं श्रान्तं रंकं श्वेतस्तता भ्रमन्तं चिन्ताव्यग्रमानसं निजपितरं यशोधरं यान्तं ददर्श. तत्क्षणमेव केशवो गवाक्षादुत्तीर्य तत्र गत्वा निजजनकपादयोः पतितः, तद् दृष्ट्वा राजसेवकादिनगरलोका विस्मिताः सन्तश्चिन्तयामासुरहो ईदृग्विभूतियुक्तस्याप्यस्य नरेन्द्रस्यायं रंको जनकः कथं संभवेत् ? इतो राजा पितरं पृच्छति 'हे तात ! भवतामेषावस्था कथं जाता ?' तत् श्रुत्वा श्रेष्ठी निजपुत्रस्य राज्यपदवीं निरीक्ष्य मुदितो हर्षाश्रूणि मुञ्चन्निजवृत्तान्तं कथयामास, 'हे पुत्र ! यदा त्वं गृहान्निर्गतस्तदा हंसो मया भोजनायोपावेशितः, एवं रात्रौ यदार्द्धं तेन भुक्तं तदासौ मूर्च्छया धरित्र्यां पतितः, तद् दृष्ट्वा वयं व्याकुलीभूताः, इतस्ते जननी तत्र दीपं समानीय यावत्पश्यति तावत्तस्य भोजने ऊर्ध्वभागस्थसर्पमुखात्पतन्तं गरलं दृष्टं तदा खेदितैरस्माभिश्चिन्तितं 'धन्योऽयं केशव एव, यो व्रतविषये निश्चलोऽभूत्.'

इतोऽस्माकमाक्रन्दनं श्रुत्वा सर्वोऽपि स्वजनवर्गस्तत्र मिलितो हंसस्योपचारं कर्तुं लग्नः, परं तस्य मनागपि गुणो नाभूत्. तदैवैको मान्त्रिक आकारितः, सोऽपि हंसं तथावस्थं दृष्ट्वाऽवदत् 'भो लोका यूयं मम वचनं शृणुत ? एतद्गरलसंक्रमणादस्यांगानि गलित्वा पतिष्यन्ति, एवं चासौ मासमेकं जीविष्यति.' तत् श्रुत्वा दिनपञ्चकं गृहे स्थित्वाहं तव विलोकनार्थं निर्गतः, सर्वत्र च त्वां पश्यन् भ्रमामि, अद्य च पुण्ययोगेन त्वं दृष्टोऽसि, हे पुत्र ! गृहान्निर्गतस्य ममाद्यैको मासोऽभूत्, अतोऽद्य तव भ्राता मृतो वा मरिष्यति.'

तत् श्रुत्वा केशवराजा मनसि चिन्तयति 'स मे भ्राता मम नगराच्छतयोजने वर्त्तते, अतस्तत्र गन्तुं कथं शक्तो भविष्यामि ?' इति ध्यात्वा यावत्स स्थितस्तावदात्मानं जनकसहितं निजभ्रातुः पार्श्वे स्थितं ददर्श. तत्समये हंसशरीरान्महादुर्गन्ध उच्छलितः, तस्याङ्गोपाङ्गान सर्वाणि गलितान्यासन्, एवंविधं महादुःखिनं निरुद्धवचनं च निजभ्रातरं विलोक्य केशवो हृदि दुःखं वहन् तदुपायं चिन्तयन् यावच्चिन्तातुरः स्थितस्तावन्निजपार्श्वस्थितं तं वह्निसुरं ददर्श. देवेनोक्तं 'हे राजन् ! त्वं चिन्तां मा कुरु ? अवधिज्ञानेन तवाभिप्रायं विज्ञायाहं त्वां जनकयुतमत्रानयं , अथ तदा मया तुभ्यं यो वरो दत्तोऽस्ति, स किं त्वया विस्मृतः ?' इत्युक्त्वा देवो देवलोके गतः.

अथ केशवोऽपि हृष्टः सन् निजपादांगुष्ठपयसा हंसस्याङ्गमसिञ्चत्, तत्क्षणमेव हंसो रोगविमुक्तो जातः, तस्यांगोपांगानि च सर्वाणि नविनीभूतानीव सुस्थितानि जातानि, एवं स महारूपवान् जातः, स्वजनवर्गश्च हर्षेण महोत्सवमकरोत्.

एवं केशवनृपस्य महिमानं ज्ञात्वा नगरमध्यस्थाः सर्वेऽपि रोगिणस्तत्पादांगुष्टप्रक्षालनजलसेकतो गतरोगा अभूवन्. एवं केशवराज्ञो महिमा विदेशेऽपि विस्तृतः, ततोऽसौ राजा निजकुटुम्बयुतो निजराज्ये समागतः, तत्रापि सर्वलोकैस्तत्पादांगुष्टप्रक्षालनजलं स्वर्णकुम्भेषु प्रक्षिप्य निजनिजगृहे निधानमिव स्थापितं.

ततस्तेन राज्ञा पटहवादनपूर्वकं निजदेशे सर्वत्र रात्रिभोजननिवारणं कृतं, लोका अपि राज्ञो महिमानं दृष्ट्वादरपूर्वकं रात्रिभोजननियमं पालयन्ति. एवं स केशवराजा चिरकालं साकेतपुरे राज्यं पालयित्वेह लोकेऽपि सुखीभवन् परलोकेऽपि सुखी जातः। एवं भो लोका हंसस्यापत्प्राप्तिं केशवस्य च संपत्प्राप्तिं विज्ञाय रात्रिभोजननियमं कुरुत ? तत् श्रुत्वानंदगाथाप-

तिना रात्रिभोजननियमो गृहीतः. यद्यप्ययं रात्रिभोजननियमो भोगोपभोगांतर्वर्त्यस्ति, तथापि लोकेऽतिप्रसिद्धत्वात्पृथक्कृतयोक्तः. इति रात्रिभोजनविषये हंसकेशवकथा समाप्ता ॥

## अथ प्रथमं दिग्विरमणगुणव्रतम्

अथानंदस्याग्रे स्वामी त्रीणि गुणव्रतानि कथयति—प्रथमं दिग्विरमणाख्यं गुणव्रतं श्रावकेण पालनीयं, अन्यथा त्रसस्थावरजीवानां विमर्दनं भवेत्, ये श्राद्धा एतद्व्रतं न गृह्णन्ति ते तप्तलोहगोलकसदृशीभूता जीवानां घातिनो भवन्ति, ये च पुण्यात्मानस्तद्दिग्प्रमाणव्रतमंगीकुर्वन्ति ते त्रिभुवने प्रसरन्तं निजलोभसमुद्रं निवारयन्ति. एतद्व्रतपालको जन इह लोके परलोकेऽपि च सुखी स्यात्, ये चैतद्व्रतं न पालयन्ति ते चारुदत्तवद्दुःखिनो भवन्ति. तत् श्रुत्वानंद उवाच 'हे भगवन् ! कः स चारुदत्तः ? कथं च स दुःखी जातः ? तत्कृपां विधाय निरुप्यतां.' स्वाम्याह—

"अस्मिन् भरतक्षेत्रे चंपाख्या नगरी वर्त्तते, तत्र च भानुनामा श्रेष्ठी परिवसति, सुभद्रेति च तस्य भार्या वर्त्तते. स भानुश्रेष्ठी धर्मकृत्यानि कुर्वन् मनुष्यसुखानि भुङ्क्ते. अन्यदा तस्य श्रेष्ठिनः शुभदिवसे शुभमुहूर्त्ते चैकः पुत्रो जातः, तस्य जन्मोत्सवकरणानंतरमेकादशे दिवसेऽशुचिं दूरीकृत्य द्वादशे दिवसे स्वजनसम्बधीन् भोजयित्वा तस्य चारुदत्त इति नाम कृतं. क्रमेण लाल्यमानोऽसौ वृद्धिं प्राप्य सर्वकलासु प्रवीणीभूय विशेषेण धर्मशास्त्रवेत्ताप्यभूत्.

यदा च स यौवनं प्राप्तस्तदा भानुश्रेष्ठिना निजमातुलसुतया मृगावत्या सह परिणायितः, परं शास्त्ररसनिमग्नोऽसौ तस्याः सङ्गं पिशाचीसंगसदृशं मन्यते. सा मृगावती निशायां शयनगृहे यदा दीपकं करोति, तदा चारुदत्तस्तु तत्र प्रविश्य पुस्तकमेव

वाचयति.

अथ क्रमेण मातपितरौ पुत्रस्येमां चेष्टां श्रुत्वातीवदुःखपूरितौ परस्परं कथयामासतुर्यद्गार्हस्थ्यव्यवहारं विना ये मूढाः केवलं शास्त्राभ्यासमेव कुर्वन्ति ते नूनं विषाणरहिताः पशव एव ज्ञेयाः. असौ परिणायितोऽपि संसारस्वरूपं किंचिदपि न जानाति, संसारस्वरूपज्ञानं विना च पुत्रादि कुतो भविष्यति ? ततोऽस्य कश्चिदुपायः क्रियते येनासौ संसारस्वरूपचतुरो भवेत्.' श्रेष्टिनोक्तमसौ पण्यांगनायाः संगतो नूनं शास्त्ररसं त्यक्त्वा सांसारिकविषयरसप्रवीणो भविष्यतीत्युक्त्वा श्रेष्ठी तं वसंतसेनाख्यवेश्याया गृहे मोचयामास. यस्य दैवं प्रतिकूलं भवति स किं किमकार्यं न करोति ? रुष्टं दैवं किञ्चिच्चपेटादिकं न ददाति, किंतु दुर्मतिमेव दत्ते, यथा स रंकवद्भुलति. यदुक्तं—

**विहि रुट्ठो जह माणसां, नाउं घालए कूए । कां वेश्याघरे पाठवे, कां रमावे जूए ॥१॥**

अथ वसंतसेनया वेश्यया स चारुदत्तः सर्वासु सुरतकलासु निपुणीकृतस्तेन च सोऽपि कृतज्ञ इव तथा तस्यामेवासक्तो बभूव यथा क्षणमपि तस्याः पार्श्वं न तत्याज. एवं वेश्यागृहस्थितश्चारुदत्तः पितुः पार्श्वाद्यथा यथा द्रव्यं मार्गयति तथा तथा तज्जनकोऽपि ददाति, एवं मोहवशेन पुण्यार्थं निरर्थकद्रव्यव्ययं कुर्वतः पितुर्द्वादशवर्षाण्यगच्छन्, तत्कालावधि च षोडशकोटिद्रव्यव्ययोऽभूत्.

एवं क्रमेण स श्रेष्ठी निर्धनीभूतो भृत्यं वेश्याया गृहे प्रेष्य चारुदत्तमाह्वयामास, परं चारुदत्तस्तु वेश्यायां लीनत्वात्क्षणमपि तां त्यक्त्वा पितुः पार्श्वे नाऽऽगात्. तदा तस्य मातापितरावार्त्तध्यानेन पञ्चत्वं प्राप्तौ.

अथ वेश्या दध्यौ 'सांप्रतं नूनमयं भानुपुत्रो निर्धनो जातोऽस्ति, ततोऽस्य गृहादथ द्रव्यागमनाशा नास्ति, अतोऽसौ गृहान्निष्कासनीय एवेति' ध्यात्वा तया स निजगृहान्निष्कासितः.'

अथ ततो निर्गतश्चारुदत्तो लोकान् पृच्छन् यावन्निजगृहे समागतस्तावद् गृहस्य जीर्णावस्थां दृष्ट्वा तथा मातापितरौ च मृतौ श्रुत्वा धनशोकसागरमग्नश्चिन्तयितुं लग्नः, 'धिग् धिग् मां, मया कुपुत्रेण वेश्याव्यसनेनानेन प्रथमं पितुः सर्वं द्रव्यं विनाशितं, पश्चाच्च पितुः प्राणा विनाशिताः' एवं सोऽतिखिन्नो रुदनं कुर्वंस्तस्य भार्यया दृष्ट उपलक्षितश्च. ततस्तया स स्नेहेनालापितो 'भो स्वामिंस्त्वं खेदं मा कुरु ? धीरतां समाचर ? नष्टविनष्टे भावे सत्पुरुषाः शोकं न कुर्वन्ति.' ततस्तया स्नानं भोजनं च कारितोऽसौ स्वस्थो जातः, ततो भार्यया भणितं 'स्वामिन् ममाभरणानि गृहीत्वा त्वं वाणिज्यं कुरु ? यतः-

**लक्ष्मीर्वसति वाणिज्ये, किंचित्किंचिच्च कर्षणे। अस्ति नास्ति च सेवायां, भिक्षायां नैव नैव च ॥१॥**

एतत्पत्नीवचनं श्रुत्वा स हर्षितः सन् आभरणानि गृहीत्वा मातुलेन सार्द्धं सार्थेन सह देशांतरे प्राप्तः, तौ भ्रमन्तौ सीरावर्त्तनगरे प्राप्तौ, अल्पमूलेन ताभ्यां कार्पासो गृहीतः शकटान् भृत्वा ताम्रलिप्तीं नगरीं प्रति चेलतुः. एकदा उद्यानमध्ये सार्थो उत्तरितः, तदा दावानलो वनमध्ये लग्नः, कार्पासो सर्वोऽपि ज्वलितः, अकस्माद् भवितव्यतायोगेन मातुलेन चिन्तितं नूनमसौ निर्भाग्योऽस्ति, अस्य संगतो ममापि द्रव्यं गतं, इति ध्यात्वा मातुलस्तं मुक्त्वा स्वयमेकाकी निर्गतः.

चारुदत्तोऽप्येकाकी परिभ्रमन् प्रियंगुपत्तने प्राप्तः, संध्यासमयेऽन्यदिने सुरेंद्रदत्तव्यवहारिणा स दृष्टः, तदा चारुदत्तं मित्रसुतं ज्ञात्वा बहुमानपूर्वकं तं निजगृहे स्थापयामास.

अथान्यदा कैश्चिन्नगरलोकैर्विदेशगमनार्थं प्रवहणानि सज्जीकृतानि, तदा चारुदत्तः सुरेन्द्रदत्तं पृच्छति यदहमपि एभिः सार्द्धं प्रवहणोपविष्टो देशांतरं गच्छामि, सुरेंद्रदत्तेन वारितोऽपि स द्रव्यतृष्णया दुःकर्मप्रेरणया च प्रवहणे चटितः, क्रमेण च जलधिं लंघयित्वैकस्मिन् द्वीपे प्राप्तः, तत्र व्यापारं कृत्वा तेन त्रयस्त्रिंशत्स्वर्णकोटयोऽर्जिताः.

अथ चारुदत्तो मनसि चिन्तयामास 'नूनमेभिः स्वर्णकोटिभिः किं ? यासां परिभोगो स्वजनमध्ये नास्तीति ध्यात्वा स स्वदेशगमनाय धनयुतः प्रवहणमध्ये चटितः, परं दुर्वातयोगेन प्रवहणं समुद्रमध्ये भग्नं, आयुर्बलेन फलकं लब्ध्वा कतिपयदिनैरसौ राजपुरनगरसमापे उत्तरितः, एकस्मिन् वृक्षतले च गत्वोपविष्टः,

इत एकः परिव्राजक इतस्ततो भ्रमंस्तस्य समापे समागतः, तं तेजसा दीप्यमानं दृष्ट्वा चारुदत्तो दध्यौ 'नूनमसौ सामान्यपुरुषो नास्ति, अस्मिन् कयापि कलया भवितव्यमिति' विमृश्य स तं परिव्राजकं प्रणनाम. परिव्राजकेनोक्तं 'भो वत्स आगच्छ ? कथं दुःखीव दृश्यसे ? जंगमकल्पवृक्षतुल्ये मयि विद्यमाने तव गृहे दारिद्र्यं कथं तिष्ठति ?' तत् श्रुत्वा चारुदत्तोऽतीवतुष्टः सन्नुवाच 'हे भगवन्नद्य तव दर्शनाद्दारिद्र्यं नष्टं' इत्युक्त्वा चारुदत्तस्तस्य सेवां चकार.

अथान्यदा स पाखण्डी परिव्राजकस्तमुवाच 'भो चारुदत्त !' त्वं मम पृष्टे समागच्छ ? यथा तव दारिद्र्यं विनाशयामि.' चारुदत्तोऽपि ओमित्युक्त्वा तस्य पृष्टे लग्नः, क्रमेण तौ द्वावप्येकायां महाटव्यां संप्राप्तौ, अग्रे चैको महान् पर्वतः समागतः, तत्र चैकं बिलं वर्त्तते, तस्य द्वारमुद्घाट्य तौ द्वावपि तत्र बिले प्रविष्टौ, अग्रे गच्छतोस्तयोः कूप एकः समागतः, स कूपो महादुर्गन्धयुतो नरकावासतुल्यो महाभयंकरो वर्त्तते.

अथ स परिव्राजकश्चारुदत्तं प्रत्युवाच 'रे पुत्र! त्वमस्मिन् कूपे प्रवेशं कुरु? तुंबं चैतद्रसेन भृत्वा मह्यं देहि? पश्चात्त्वामप्यहं निष्कासयिष्यामि. असौ रसो जगति सारो देवानामपि दुर्लभोऽस्ति. अस्य रसस्यैकेन बिन्दुनापि बहुताम्रं सुवर्णीभवति.' तत् श्रुत्वा चारुदत्तो लोभवशेन मंचिकायामुपविष्टः. परिव्राजकेण तुंबेन सह कूपमध्ये प्रावेशितः, ततोऽसौ रसनिकटं समागत्य यावद्रसं गृह्णाति तावत्केनापि वारितो 'यद्भो पुरुष! त्वं रसं मा गृहाण?' तत् श्रुत्वा विस्मितश्चारुदत्त उवाच 'भो पुरुष! अहं भानुश्रेष्ठिपुत्रो मुनेराज्ञयाऽत्र रसग्रहणायागतोऽस्मि, तन्मां त्वं कुतो निवारयसि?' तत् श्रुत्वा स कूपमध्यस्थपुरुष उवाच 'भो सज्जन! अहं सांयात्रिको वणिगस्मि, समुद्रे मम प्रवहणं भग्नं, फलकेन च समुद्राद् बहिर्निर्गतः, ततोऽसौ परिव्राजको मां लोभयित्वा कूपे प्रक्षिप्य रसं गृहीत्वा गतः अतो हे मित्र! त्वामहं ब्रवीमि यदसौ दुरात्मा मनुष्यं प्रलोभ्य कूपे प्रक्षिप्य प्रथमं रसं गृहीत्वा पश्चान्मनुष्यमत्र क्षिपति. एवमनेन दुरात्मना ममापीदृश्यवस्था कृतास्ति. पुनर्हे मित्रास्य रसस्य स्पर्शेनांगानि गलन्ति, तस्मात्त्वमेनं रसं मा स्पृश? तुंबकं मे देहि? यथा तद्रसेन भृत्वा त्वां यच्छामि.' तत् श्रुत्वा चारुदत्तेन तस्मै तुंबकं प्रदत्तं, तेन पुरुषेणापि तद्रसेन भृत्वा चारुदत्ताय समर्पितं.

अथ तुंबकं गृहीत्वा मंचिकायामुपविष्टश्चारुदत्तस्तं परिव्राजकं प्रत्युच्चैःस्वरेण वदति, 'भो मुने! मया रसो गृहीतोऽस्ति, अतो मां निष्कासय?' मुनिनोक्तं 'प्रथमं त्वं तुंबकं देहि? पश्चादहं त्वां निष्कासयिष्यामि,' चारुदत्तेनोक्तं 'तुंबेन सह मां निष्कासय?' तदा रुष्टेन तेन मंचिकामाकृष्य तुंबेन सह स कूपे प्रक्षिप्तः।

अथ पुण्ययोगेन स मेखलायां पतितश्चिन्तयति 'अरे प्रथमं मे द्रव्यस्य नाशो जातः, द्वितीयं पित्रोर्मरणं जातं. तृतीयं प्रवहणं भग्नं, चतुर्थं चाहं मृत्युमुखे पतितः, हा! हा! किं करोम्यधुना?' ततोऽसौ धैर्यमंगीकृत्य मस्तके चाञ्जलिं विधाय जिन-

वराणां सिद्धानां साधूनां च नमस्कारं करोति, प्राणातिपातमलोकमदत्तादानं मैथुनं परिग्रहं रात्रिभोजनं च प्रत्याख्याति, प्रमादं त्रिविधेन त्यजति, चतुर्विधाहारं प्रत्याख्याय सागार्यनशनं प्रतिपद्यते, आत्मानं च समाधौ संस्थाप्य चतुर्विधं शरणं करोति, तद्यथा—

अरिहंता मे शरणं, सिद्धा मे शरणं, साधवो मम शरणं, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मश्च मे शरणं भवतु. माता पिता भार्या भगिनी सुता पुत्रादिप्रचुरस्नेहिपरिवारोऽपि मरणमुखप्राप्तानां जीवानां शरणाय न भवंति. त एव धन्याः कृतपुण्या ये तृणमिव लक्ष्मीं त्यक्त्वा संसारान्निर्गताः, मादृशा लोभान्धा द्रव्यकांक्षिणो नूनमीदृशीमवस्थां प्राप्नुवन्ति'

अथ कूपमध्यस्थितो नरस्तं प्रत्युवाच 'भो साधर्मिक ! त्वं दुःखं मा कुरु ? शक्रोऽपि पुराकृतं कर्मापनेतुं न समर्थो भवति, पूर्वकृतकर्मणामेव फलं जीवो लभते. अद्यतस्तृतीये दिवसे गोधैकैतद्रसं पातुमिह समायास्यति, तदा त्वं तत्पुच्छं धृत्वा कूपाद्बहिर्निस्सरेः, अन्यः कोऽप्युपायो नास्ति.'

अथ चारुदत्तो निजजीवितोपायं श्रुत्वातीवहृष्टो जातः. अथ स पूर्वपतितमनुष्यस्तत्र पंचपरमेष्ठिनमस्कारं ध्यायन् गलितशरीरो मृतः.

इतस्तृतीये दिवसे सुरसुरशब्दं कुर्वती गोधा तत्र समागता, रसं पीत्वा च यावत्सा पश्चाद्वलिता तावज्जीवितव्याशया चारुदत्तेन तत्पुच्छं गृहीतं, गोधापि शीघ्रं कूपान्निर्गता, तदा यथा जीवो गर्भावासान्निस्सरति तथा चारुदत्तोऽपि घृष्टांगोपांगः कूपान्निःसृतः, गोधायाः पुच्छं मुक्त्वा श्रीनवकारमंत्रं स्मरंस्तत्र स्थितः, ततोऽसौ यावदग्रे चलितस्तावदेको वनमहिषस्तं दृष्ट्वा

मारणाय धावितः, तदा चारुदत्तो नष्ट्वा पर्वतोपरि चटितो महिषश्च तन्मार्गं निरुद्धय तत्र स्थितः, इतो गिरिगुहात एको-ऽजगरो निस्सृत्य तं महिषं गलयामास.

अथ चारुदत्तः पर्वतादुत्तीर्याटवीमुल्लंघ्यैकस्मिन् ग्रामे गतः, तत्र भानुश्रेष्ठिन एकः सुहृद्रुद्रदत्तनामा वणिग् वसति, तेन चारुदत्तं दृष्ट्वावोपलक्ष्य च मम मित्रस्य पुत्रोऽयमिति ज्ञात्वा स स्वगृहे समानीतः, चारुदत्तोऽपि सुखेन तत्र कतिचिद्दिनानि स्थितः.

अथान्यदा तौ चारुदत्तरुद्रदत्तौ धनलोभेन स्वर्णभूमिकायां गतौ, वेगवत्याख्यनदीमुत्तीर्य तौ ढंकदेशं प्राप्तौ. तत्र पंथाती-वविषमो वर्त्तते, ततस्तल्लंघनार्थं ताभ्यां द्वावूर्णकौ गृहीतौ, तयोरुपर्युपविष्टौ तौ कियतीं भुवमुल्लंघयामासतुः.

अथ रुद्रदत्तश्चारुदत्तं कथयति ' भो भ्रातरितो ह्यावाभ्यां पादैः स्वर्णभूमिकायां गन्तुं न शक्यते, अत एतौ छागौ मारयित्वा तयोर्दृती क्रियेत, तत्र च प्रविश्यावां तिष्ठावो यथा भारंडपक्षिणावत्र समेत्य मांसलोभेन चञ्चुभ्यां नौ गृहीत्वा स्वर्णभूमिकायां प्रापयिष्यतः' तत् श्रुत्वा चारुदत्तोऽवादीत् ' हे बांधव ! एतयोः प्रसादेनावाभ्यामटवी लंघिता, ततस्तयोः. प्रतीदं कर्म कर्त्तुं न युज्यते. यादृशी पीडा निजदेहे भवति, तादृशी पीडा परदेहेऽपि भवति, ततो भो भ्रातस्त्वं जीववधं मा कुरु ? यतः प्राणवधो परभवे महादुःखदायी भवति.'

तत् श्रुत्वा रुद्रदत्तेनोक्तं ' भो शृणु ? एतावावयोः पितरौ भ्रातरौ वा संबंधिनौ न स्तः, अत एतावहं मारयिष्यामी'त्यु-क्त्वा तेनात्मायं छागं मारयित्वा तच्चर्मोत्तारितं. तद् दृष्ट्वा चारुदत्तो निजछागसमीपे समागत्य दयया तं धर्ममयं वचः

श्रापयामास ' हे महाभाग ! पूर्वभवे त्वया जीववधः कृतस्तेन पापेनाद्य त्वं हनिष्यसे, मनसा वचसा कायेन वा प्राणिना यच्छुभाशुभं कर्माजितं भवेत्तत्परभवे नियमेन वेदितव्यं भवति. अतस्त्वं प्राणातिपातं मृषावादमदत्तं मैथुनं च सर्वथा त्यज ? पुनः सर्वपरिग्रहविषये नियमं कुरु ? अरिहंतसिद्धसाधुजैनधर्माणां शरणं कुरु ? सर्वजीवैः सह क्षामणं कुरु ? सर्वजीवेभ्यः क्रोधं त्यज ? सर्वजीवेषु च मैत्रीभावं कुरु ?' एवं स छागस्य कर्णमूले स्वमुखं धृत्वा पुनः पुनः श्रीनमस्कारं श्रावयामास. ततो रुद्रदत्तेनागत्य स चारुदत्तस्य छागोऽपि मारितः, तच्चर्मणश्च द्वितीया दृति कृता. ततोऽसावेकायां दृतौ चारुदत्तं निक्षिप्य द्वितीयस्यां च स्वयमुपविष्टः. इतो द्वौ भारण्डौ तत्रागत्यामिषलोभेन तौ दृती उत्पाट्य गगनमध्ये गतौ, अग्रे तयोरपरे भारण्डा मिलिताः, परस्परं युद्धे जाते तयोर्मुखात्पतितौ तौ दृती एकस्मिन् सरोवरमध्ये. द्रुतं तौ दृती त्रोटयित्वा सरोजलं च तीर्त्वाटव्यां भ्रमितुं लग्नौ.

अथ चारुदत्त इतस्ततः परिभ्रमन्नेकस्मिन् गिरिशृङ्गे मुनिमेकमुपविष्टं ददर्श. तत्र स मुनिरूर्ध्ववबाहुरातापनां गृह्णन् स्थित आसीत्. ततोऽसौ मुनिः कायोत्सर्गं पारयित्वा चारुदत्तं प्रत्युवाच ' हे महानुभाव ! त्वं कोऽसि ? किमर्थं चात्रागतः ? असौ कुंभकुण्डनामा द्वीपो वर्तते, कक्कोडनामा चायं पर्वतोऽस्ति, अत्र द्वीपे देवविद्याधरजंघाचारणविद्याचारणमुनीन् विना न कोऽप्यायातुं शक्तोऽस्ति, अस्य द्वीपस्य चतुर्दिक्षु महासागरो वर्तते, अतस्त्वमत्र कथं समागतः ?' इति मुनिवरेण पृष्टे सति चारुदत्तेन स्वकीयः सर्वोऽपि वृत्तान्तो गद्गदवचनैर्निवेदितः, तत् श्रुत्वा करुणया मुनिनोक्तं ' भो भद्र ! संसारे जीवानामापदः सुलभा भवन्ति, संपदश्च दुर्लभा भवन्ति. पुनर्हे महाभाग ! कर्मोल्लंघनं कर्तुं शक्रोऽपि न समर्थो भवति, ततो हृदये

त्वं शोकपिशाचस्यावकाशं मा देहि ?'

इत्यादिधर्मोपदेशं मुनिस्तस्य यावद्ददाति तावद् द्वौ पुरुषौ गगनमार्गादुत्तीर्य मुनिसमीपे समागत्य तं वंदित्वोपविष्टौ, तदा चारुदत्तेनोक्तं स्वागतं भवतोः, कुतः स्थानाद्युवामत्र समागतौ ?' तदा तावूचतुर्भो सत्पुरुष! वैताढ्यपर्वतादावां समागतौ, अस्य मुनिवरस्य च पुत्रौ स्वः, अतस्तातवंदनार्थमिहागतौ, एवं यावत्ते वार्तां कुर्वन्ति तावद्गगने देवदुन्दुभिर्वादिता, विमानमेकं च सर्वासु दिक्षूद्योतं कुर्वत्तत्र गगनात् समागतं, तन्मध्यादेको देवो बहुभिर्देवैः परिवृतो निर्गत्य प्रथमं चारुदत्तं प्रदक्षिणीकृत्याऽनमत्, पश्चाच्च मुनये वंदनमकरोत्. तद् दृष्ट्वा विस्मितौ खेचरौ तं देवंप्रति जगदतुः 'भो देव ! त्वया मुनिं विहाय प्रथमं श्राद्धोऽयं कथं वंदितः ?' देवेनोक्तं 'भो खेचरौ शृणुतं ? एष श्राद्धो मे धर्माचार्योऽस्ति, मयास्य प्रसादादेषा ऋद्धिः प्राप्तास्ति, तेन हेतुनायं महात्मा मया मुनिवरादपि प्रथमं वंदितः.'

तत् श्रुत्वा ताभ्यामुक्तं 'भो देव ! एष ते धर्माचार्यः कथं ? कथं च त्वया तत्प्रसादाद् ऋद्धिः प्राप्ता ?' तत् श्रुत्वा देवेन सर्वं पूर्वोक्तं पशुघातादिस्वरूपं ताभ्यां निवेदितं. ततो देवोऽञ्जलिं विधाय चारुदत्तं प्रत्युवाच 'भो चारुदत्त! अहं स एव छागजीवस्त्वत्तो धर्मं लब्ध्वैतां ऋद्धिं प्राप्तवान्, अतस्त्वं कथय ? तव कं प्रत्युपकारमहं कोमीति.'

तदा तौ खेचरावूचतुः 'भो सुरराज ! त्वं निश्चिन्तो भव, आवामेनमिप्सितस्थाने नेष्यावः,' तत् श्रुत्वा स देवश्चारुदत्तं स्तुत्वा मुनिं च वंदित्वा देवलोके गतः. ततो मुनिवरेण तेषामग्रे दिग्विरतिव्रतं निरूपितं, तत् श्रुत्वा चारुदत्तः प्रमुदितोऽवादीत् 'हे भगवन्! दिग्विरतिव्रताभावेन मया बहूनि दुःखान्यनुभूतानि, अथ हे प्रभो निजनगरं गत्वाहमेतद्व्रतं ग्रहिष्यामि.'

अथ तौ विद्याधरौ मुनिवरं प्रणम्य चारुदत्तं गृहीत्वा वैताढ्यपर्वते निजगृहे समागतौ तयोरेकेन विद्याधरेण चारुदत्तं सत्कृत्य निजसुता परिणायिता. ततश्चारुदत्तो मनुष्यसुखानि भुंजानस्तत्र सुखेन तिष्ठति. अथैकदा विद्याधरेण चारुदत्तं, प्रति कथितं 'भो चारुदत्त! एषैका मम कन्या वर्त्तते, एकदा मया निमित्तज्ञः पृष्टोऽस्या मम कन्यायाः को भर्त्ता भविष्यति? निमित्तज्ञेनोक्तं हे राजन् द्वारिकाया नगर्या हरिवंशसमुद्भवः कृष्णराजाऽस्याः कन्याया वरो भविष्यति. ततो हे महाभाग! त्वमेनां कन्यां गृहीत्वा द्वारिकायां च गत्वा कृष्णाय देहि?' चारुदत्तेन तत्प्रतिपन्नं, ततोऽसौ खेचरेन्द्रार्पितविमाने कन्यायुतः समारुह्य द्वारिकायां समागत्य तां कन्यां कृष्णाय समर्पयामास. कृष्णोऽपि प्रमुदितः प्रचुरलक्ष्म्या सह चारुदत्ताय निवासार्थं मनोहरमावासं दत्तवान्. तत्रायं विद्याधर्या प्रथमभार्यया वणिक्सुतया च सह विषयसुखानि भुनक्ति. एवं चिरकालं सुखं भुंक्त्वा दिग्व्रतं च सम्यक् प्रपाल्य चारुदत्तः स्वर्गे ययौ, यदा चारुदत्तेन दिग्व्रतस्य प्रमाणं न कृतमासीत्तदा स दुःखी जातः, यदादितश्च तेन तद्व्रतस्य प्रमाणं कृतं तदादितः सुखी जातः, तस्माद् भो भव्या यूयं दिग्व्रतस्य प्रमाणं कुरुत?॥

॥ इति दिग्व्रतविरमणव्रते चारुदत्तस्य कथा समाप्ता ॥

अथानंदो जिनमुखादुर्ध्वमधोदिक्तिर्यग्दिशां गमनप्रमाणं कृतवान्. तदालापको यथा.—

१**अहण्णं भंते समणोवासओ दिसिपरिमाणवयं पच्चक्खाइ. तं जहा-उड्ढदिसिपरिमाणे अहोदिसिपरिमाणे तिरिअदिसिपरिमाणे करेइ. अस्य व्रतस्य पंचातीचाराः श्रावकेण ज्ञातव्याः परं न समाचरितव्याः, तद्यथा**—ऊर्ध्वदिग्प्रमाणातिक्रमः १ अधोदिग्प्रमाणातिक्रमः २ तिर्यग्दिग्प्रमाणातिक्रमः ३ क्षेत्रप्रमाणातिक्रमः

१ अहं भगवन्! श्रमणोपासकः दिशिपरिमाणव्रतं प्रत्याख्यामि तद्यथा उर्ध्वदिशिपरिमाणं अधोदिशिपरिमाणं तिर्यग्दिशिपरिमाणं करोमि.

४ अंतरद्धा ५ विस्मरणरूपो मया दिग्व्रतं ग्रहीतं न वेति.

## ॥ अथ सप्तमं भोगोपभोगपरिमाणव्रतम् ॥

भोगोपभोगयोः संख्या, शक्त्या यत्र विधीयते । भोगोपभोगमानं तद्, द्वैतीयीकं गुणव्रतम् ॥१॥
सकृदेव भुज्यते यः, स भोगोऽन्नस्रगादिकः । पुनः पुनर्भोग्य-उपभोगोऽङ्गनादिकः ॥२॥
मद्यं मांसं नवनीतं, मधूदुम्बरपञ्चकम् । अनन्तकायमज्ञात-फलं रात्रौ च भोजनम् ॥३॥
आमगोरससंपृक्तं, द्विदलं पुष्पितौदनम् । दध्यहर्द्विनयातीतं, कुथितान्नं च वर्जयेत् ॥४॥
मदिरापानमात्रेण, बुद्धिर्नश्यति दूरतः । वैदग्धीबन्धुरस्यापि, दौर्भाग्येणेव कामिनी ॥५॥
पापाः कादम्बरीपान-विवशीकृतचेतनः । जननीं हा प्रियोयन्ति, जननीयन्ति च प्रियाम् ॥६॥
न जानाति परं स्वं वा, मद्याच्चलितचेतनः । स्वामीयति वराकः स्वं, स्वामिनं किङ्करीयति ॥७॥
मद्यपस्य शवस्येव, लुठितस्य चतुष्पथे । मूत्रयन्ति मुखे श्वानो- व्याप्ते विवरशङ्कया ॥८॥
मद्यपानरसे मग्नो- नग्नः स्वपिति चत्वरे । गूढं च स्वमभिप्रायं, प्रकाशयति लीलया ॥९॥
वारुणीपानतो यान्ति, कान्तिकीर्तिमतिश्रियः । विचित्राश्चित्ररचना- विलुठत्कज्जलादिव ॥१०॥
भूतात्तवन्नरीनर्त्ति, रारटीति सशोकवत् । दाहज्वरार्तवद्भूमौ, सुरापो लोलुठीति च ॥११॥
विदधत्यङ्गशैथिल्यं, ग्लपयन्तीन्द्रियाणि च । मुर्च्छामतूर्च्छां यच्छन्ती, हाला हालाहलोपमा ॥१२॥

विवेकः संयमो ज्ञानं, सत्यं शौचं दया क्षमा । मद्यात्प्रलीयते सर्वं, तृण्या वह्निकणादिव ॥१३॥
दोषाणां कारणं मद्यं, मद्यं कारणमापदाम् । रोगातुर इवापथ्यं, तस्मान्मद्यं विवर्जयेत् ॥१४॥

आ०—रसोद्भवाश्च भूयांसो-भवन्ति किल जन्तवः । तस्मान्मद्यं न पातव्यं, हिंसापातकभीरुणा ॥१॥
दत्तं न दत्तमार्तं च, नार्तं कृतं च नो कृतम् । मृषोद्यराज्यादिव हा, स्वैरं वदति मद्यपः ॥२॥
गृहे बहिर्वा मार्गे वा, परद्रव्याणि मूढधीः । वधबन्धादिनिर्भीको- गृह्णात्याच्छिद्य मद्यपः ॥३॥
बालिकां युवतीं वृद्धां, ब्राह्मणीं श्वपचीमपि । भुङ्क्ते परस्त्रियं सद्यो- मद्योन्मादकदर्थितः ॥४॥
रटन् गायन् लुठन् धावन्, कुप्यंस्तुष्यन् रुदन् हसन् । स्तम्भन्नमन् भ्रमंस्तिष्ठन्, सुरापः पापराट् नटः ॥५॥
श्रूयते किल शाम्बेन, मद्यादन्धम्भविष्णुना । हतं वृष्णिकुलं सर्वं, प्लोषिता च पुरी पितुः ॥६॥
पिबन्नपि मुहुर्मद्यं, मद्यपो नैव तृप्यति । जन्तुजातं कवलयन्, कृतान्त इव सर्वदा ॥७॥
लौकिका अपि मद्यस्य, बहुदोषत्वमास्थिताः । यत्तस्य परिहार्यत्व-मेवं पौराणिका जगुः ॥८॥
कश्चिदृषिस्तपस्तेपे, भीत इन्द्रः सुरस्त्रियः । क्षोभाय प्रेषयामास, तस्यागत्य च तास्तकम् ॥९॥
विनयेन समाराध्य, वरदाभिमुखं स्थितम् । जगुर्मद्यं तथा मांसं, सेवस्वाब्रह्म चेच्छया ॥१०॥
स एवं गदितस्ताभि-र्द्वयोर्नरकहेतुताम् । आलोच्य मद्यरूपं च, शुद्धकारणपूर्वकम् ॥११॥
मद्यं प्रपद्य तद्भोगान्- नष्टधर्मस्थितिर्मदात् । विदंशार्थमजं हत्वा, सर्वमेव चकार सः ॥१२॥

अवद्यमूलं नरकस्य पद्धतिं, सर्वापदां स्थानमकीर्तिकारणम्। अभव्यसेव्यं गुणिभिर्विगर्हितं, विवर्जयेन्मद्यमुपासकः सदा ॥१३॥

चिखादिषति यो मांसं, प्राणिप्राणापहारतः। उन्मूलयत्यसौ मूलं, दयाऽऽख्यं धर्मशाखिनः ॥१५॥

अशनोयन् सदा मांसं, दयां यो हि चिकीर्षति। ज्वलति ज्वलने वल्लीं, स रोपयितुमिच्छति ॥१६॥

हन्ता पलस्य विक्रेता, संस्कर्त्ता भक्षकस्तथा। क्रेताऽनुमन्ता दाता च. घातका एव यन्मनुः ॥१७॥

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्त्ता चोपहर्ता च, खादकश्चेति घातकाः ॥१८॥

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां, मांसमुत्पद्यते क्वचित्। न च प्राणिवधः स्वर्ग्य-स्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥१९॥

ये भक्षयन्त्यन्यपलं, स्वकीयपलपुष्टये। त एव घातका यन्न, वधको भक्षकं विना ॥२०॥

मिष्टान्नान्यपि विष्ठासा-दमृतान्यपि मूत्रसात्। स्युर्यस्मिन्नङ्गकस्यास्य, कृते कः पापामाचरेत् ?॥२१॥

मांसाशने न दोषोऽस्ती-त्युच्यते यैर्दुरात्मभिः। व्याघगृध्रवृकव्याघ्र-शृगालास्तैर्गुरुकृताः ॥२२॥

मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहाद्म्यहम्। एतत्मांसस्य मांसत्वे, निरुक्तं मनुरब्रवीत् ॥२३॥

मांसास्वादनलुब्धस्य, देहिनं देहिनं प्रति। हन्तुं प्रवर्त्तते बुद्धिः, शाकिन्या इव दुर्धियः ॥२४॥

ये भक्षयन्ति पिशितं, दिव्यभोज्येषु सत्स्वपि। सुधारसं परित्यज्य, भुञ्जते ते हलाहलम् ॥२५॥

न धर्मो निर्दयस्यास्ति, पलादस्य कुतो दया। पललुब्धो न तद्वेत्ति, विद्याद्वोपदिशेन्नहि ॥२६॥

केचिन्मांसं महामोहा-दश्नन्ति न परं स्वयम्। देवपित्रतिथिभ्योऽपि, कल्पयन्ति यदूचिरे ॥३७॥

क्रीत्वा स्वयं वाऽप्युत्पाद्य, परोपहृतमेव वा। देवान् पितॄन् समभ्यर्च्य, खादन् मांसं न दुष्यति ॥२८॥
मन्त्रसंस्कृतमप्यद्या-द्यवाल्पमपि नो पलम्। भवेज्जीवितनाशाय, हालाहललवोऽपि हि ॥२९॥
सद्यः संमूर्च्छितानन्त-जन्तुसन्तानदूषितम्। नरकाध्वनि पाथेयं, कोऽश्नीयात्पिशितं सुधीः ? ॥३०॥

आ०—मांसलुब्धैरमर्यादै-र्नास्तिकैः स्तोकदर्शिभिः। कुशास्त्रकारै- र्वैयात्या-द्यदितं मांसभक्षणम् ॥१॥
नान्यस्ततो गतघृणो नरकार्चिष्मदिन्धनम्। स्वमांसं परमांसेन, यः पोषयितुमिच्छति ॥२॥
स्वाङ्गं पुष्णन्नृगूथेन. वरं हि गृहशूकरः। प्राणिघातोद्भवैर्मांसैर्न पुनर्विघृणो नरः ॥३॥
निःशेषजन्तुमांसानि, भक्ष्याणीति य ऊचिरे। नृमांसं वर्जितं शङ्के, स्ववधाशङ्कयैव तैः ॥४॥
विशेषं यो न मन्येत, नृमांसपशुमांसयोः। धार्मिकस्तु ततो नान्यः, पापीयानपि नापरः ॥५॥
शुक्रशोणितसम्भूतं, विष्टारसविवर्द्धितम्। लोहितं स्त्यानतामाप्तं कोऽश्नीयादकृमिः पलम् ? ॥६॥
अहो द्विजातयो धर्म, शौचमूलं वदन्ति च। सप्तधातुकदेहोत्थं, मांसमश्नन्ति चाधमाः ॥७॥
येषां तु तुल्ये मांसान्ने, सतृणाभ्यवहारिणाम्। विषामृते समे तेषां, मृत्युजीवितदायिनी ॥ ८ ॥
भक्षणीयं सतां मांसं प्राण्यङ्गत्वेन हेतुना। ओदनादिवदित्येवं, ये चानुमिमते जडाः ॥ ९ ॥
गोसम्भवत्वात्ते मूत्रं, पयोवन्न पिबन्ति किम् ?। प्राण्यङ्गतानिमित्ता च, नौदनादिषु भक्ष्यता ॥ १० ॥
शङ्खादि शुचि नास्थ्यादि, प्राण्यङ्गत्वे समे यथा। औदनादि तथा भक्ष्य–मभक्ष्यं पिशितादिकम् ॥ ११ ॥

यस्तु प्राण्यङ्गमात्रत्वात्, प्राह मांसौदने समे । स्त्रीत्वमात्रान्मातृपत्न्योः, स किं साम्यं न कल्पयेत् ? ॥ १२ ॥
पञ्चेन्द्रियस्यैकस्यापि, वधे तन्मांसभक्षणात् । यथा हि नरकप्राप्तिर्न तथा धान्यभोजनात् ॥ १३ ॥
न हि धान्यं भवेन्मांसं, रसरक्तविकारजम् । अमांसभोजिनस्तस्मान्न पापा धान्यभोजिनः ॥ १४ ॥
धान्यपाके प्राणिवधः, परमेकोऽवशिष्यते । गृहिणां देशयमिनां, स तु नात्यन्तबाधकः ॥१५॥
मांसखादकगतिं विमृशन्तः. सस्यभोजनरता इह सन्तः । प्राप्नुवन्ति सुरसम्पदमुच्चै-र्जैनशासनजुषो गृहिणोऽपि ॥१६॥
अन्तर्मुहूर्त्तात्परतः, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः । यत्र मूर्च्छन्ति तन्नाद्यं, नवनीतं विवेकिभिः ॥३१॥
एकस्यापि हि जीवस्य, हिंसने किमघं भवेत् । जन्तुजातमयं तत्को-नवनीतं निषेवते ? ॥३२॥
अनेकजन्तुसङ्घात-निघातनसमुद्भवम् । जुगुप्सनीयं लालावत्, कः स्वादयति माक्षिकम् ? ॥३३॥
भक्षयन्माक्षिकं क्षुद्रजन्तुलक्षक्षयोद्भवम् । स्तोकजन्तुनिहन्तृभ्यः, शौनिकेभ्योऽतिरिच्यते ॥३४॥
उ०—क्षुद्रजन्तुरनस्थिः स्या-दथवा क्षुद्र एव यः । शतं वा प्रसृतिर्येषां, केचिदानकुलादपि ॥१॥
एकैककुसुमक्रोडा-द्रसमापीय मक्षिकाः । यद्वमन्ति मधूच्छिष्टं, तदश्नन्ति न धार्मिकाः ॥३५॥
अप्यौषधकृते जग्धं मधु श्वभ्रनिबन्धनम् । भक्षितः प्राणनाशाय, कालकूटकणोऽपि हि ॥३६॥
मधुनोऽपि हि माधुर्य-मबोधैरहहोच्यते । आसाद्यन्ते यदास्वादा-च्चिरं नरकवेदनाः ॥३७॥
मक्षिकामुखनिष्ठ्यूतं, जन्तुघातोद्भवं मधु । अहो पवित्रं मन्वाना-देवस्नाने प्रयुञ्जते ॥३८॥

उ०—करभाणां विवाहे तु, रासभास्तत्र गायनाः । परस्परं प्रशंसन्ति,, अहो रुपमहो ध्वनिः ॥१॥

उदुम्बरवटप्लक्ष-काकोदुम्बरशाखिनाम् । पिप्पलस्य च नाश्नीयात्-फलं कृमिकुलाकुलम् ॥२५॥
अप्राप्नुवन्नन्यभक्ष्य-मपि क्षामो बुभुक्षया । न भक्षयति पुण्यात्मा, पञ्चोदुम्बरजं फलम् ॥२६॥
आर्द्रः कन्दः समग्रोऽपि सर्वः किसलयोऽपि च । स्नुही लवणवृक्षत्वक् , कुमारी गिरिकर्णिका ॥२७॥
शतावरी विरूढानि, गुडूची कोमलाम्लिका । पल्ल्यङ्गोऽमृतवल्ली च वल्लः शूकरसंज्ञितः ॥२८॥
अनन्तकायाः सूत्रोक्ता-अपरेऽपि कृपपारैः । मिथ्यादृशामविज्ञाता-वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥२९॥
स्वयं परेण वा ज्ञातं, फलमद्याद्विशारदः । निषिद्धे विषफले वा, मा भूदस्य प्रवर्तनम् ॥३०॥
रजनीभोजनत्यागे ये गुणा परितोऽपि तान् । सर्वज्ञादृते कश्चि-दपरो वक्तुमीश्वरः ॥३१॥
आमगोरससंपृक्त-द्विदलादिषु जन्तवः । दृष्टाः केवलिभिः सूक्ष्मा-स्तस्मात्तानि विवर्जयेत् ॥३२॥
जन्तुमिश्रं फलं पुष्पं, पत्रं चान्यदपि त्यजेत् । सन्धानमपि संसक्तं, जिनधर्मपरायणः ॥३३॥

अथ श्रीवर्द्धमानस्वामी भोगोपभोगव्रतमानंदस्याग्रे कथयति. वारंवारं यदन्नादिकं न भुज्यते तज्जिना भोगं ब्रुवन्ति, यच्च वस्त्राभूषणादि वारंवारं भुज्यते तदुपभोगं ब्रुवन्ति. अथ भोगोपभोगानां यः श्राद्धः प्रमाणं स करोति पुमानस्मिन् लोके परलोके च भोगोपभोगानां स्थानकं भवति. एवं सप्तमव्रतं यो धारयति स धर्मकुमारवद्रोगैर्मुच्यते. तत् श्रुत्वानंदो भगवन्तं पृच्छति 'हे भगवन् ! कोऽसौ धर्मकुमारो यः सप्तमव्रतधारणेन रोगमुक्तो बभूव.' भगवानुवाच " भो आनंद! त्वं सावधानतया शृणु ?

" अस्मिन् जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे कमलपुरनाम नगरमस्ति, तत्र सहस्राक्षनामा राजा राज्यं करोति, प्रजां च सुखेन पालयति. अन्यदा राजसभायामुपविष्टस्य राज्ञः पार्श्वे एको नैमित्तिकः समागत्य राजानमाशीर्वादं दत्वोपविष्टः, तदा राजापृच्छद् भो निमित्तज्ञ ! तव निमित्तविषये किं दृश्यते ? यत्त्वं ज्ञानेन पश्यसि तत्कथय ?' तदा निमित्तज्ञ उवाच 'हे राजन्! सावधानतया शृणु ? अथाधुना द्वादशवार्षिको दुष्कालः पतिष्यतीति मम निमित्तज्ञानाद्ज्ञायते.' तत् श्रुत्वा कम्पितो राजाचिन्तयद्यदि द्वादशवार्षिको दुष्कालः पतिष्यति तदा नूनं जनानां क्षयो भविष्यति.

अथ राजादिसर्वेलोका मणिकनकरुप्यादीनि विक्रीय धान्यस्य संग्रहं कुर्वन्ति, केचिल्लोका देशान्तरे गताः, केचिच्च प्रवहणोपरि चटित्वा परद्वीपे गताः, राजादयः केचिल्लोकास्तु चिन्ताकुलमानसास्तत्रैव स्थिताः. इत आषाढस्य प्रथमे दिवसे पूर्वदिग्वायुरागतः, पूर्वस्यां दिशि चैकं वार्दलमुद्गतं, तद् दृष्ट्वा राजा हृष्टः सन् चिन्तयति ध्रुवमेतद्वार्दलं शुभसूचकमस्ति. इतो राजादिलोकेषु पश्यत्सु सत्स्वेवाकाशे मेघैर्विस्तृतं, गर्जनं जातं, विद्युद्झात्काराश्च प्रकटीभूताः, द्वादशवार्षिको दुष्कालो मम वैरी वर्त्तते इति तर्जयन्निव मेघो मुशलधाराभिर्वर्षितुं लग्नः, क्षणमात्रेण पृथ्वी जलमयी जाता, लोकाः सर्वेऽपि हर्षिताः परस्परं करतालं दत्वा निमित्तज्ञवचनस्य हास्यं कर्तुं लग्नाः, स मेघस्तथा वर्षितो यथा तयैकयैव वृष्टया पृथ्वी निष्पन्नधान्या जाता. ततो राजादयः सर्वेऽपि लोकास्तत्र सुखेन वसन्ति.

अथैकदा वनपालेनागत्य राजा विज्ञप्तो ' राजन्! युष्माकमुद्याने युगंधराख्य एको मुनिश्चतुर्मासीं यावदाहारं प्रत्याख्याय स्थित आसीत्, तस्य ध्यानमौनादिकं कुर्वतोऽद्य केवलज्ञानं समुत्पन्नमस्ति.' तत् श्रुत्वा राजातीवहृष्टो वनपालाय निजाभरणानि

दत्वा तं विसर्जयामास. ततो राजा सर्वसामग्रीं विधाय मुनिवन्दनार्थं निर्ययौ, नगरीलोका अपि मुनिवन्दनार्थं निर्गताः, राजा त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य मुनिवरमवन्दत, ततो यथास्थानमुपविश्य मुनिमुखाद्धर्मदेशनां शुश्राव.

देशनावसाने राजा केवलिनं पृच्छति 'हे भगवन्! निमित्तज्ञस्य वचनं कथं विघटितं?' तेनोक्तं राजन्! 'ग्रहयोगेन द्वादशवार्षिको दुष्कालः समुत्पन्न आसीत्, परं स येन कारणेन विफली जातस्तत्कारणं निमित्तज्ञेन न ज्ञातं.' तत् श्रुत्वा विस्मितो राजा केवलिनमपृच्छत्. 'हे भगवन्! तर्हि तत्कारणं श्रोतुमहमुत्सुकोऽस्मि.' केवली उवाच 'हे राजन् तर्हि शृणु ?

अस्मिन्नेव भरते पुरिमतालाख्यं नगरं वर्तते, तत्रैको युवा धनाढ्यश्रेष्टिपुत्रो वसति. परं स कर्मदोषेण महारोगपीडितोऽस्ति. यथा यथा स सरसाहारं करोति तथा तथा तस्य रोगो वर्द्धते.

अथैकदा तेन चिन्तितं सरसाहारात्प्रत्युत मम रोगो वर्द्धते, ततोऽहं सर्वस्य सरसाहारस्य प्रत्याख्यानं विधाय फलं गृह्णामि, इति ध्यात्वा स गुरुसमीपे गत्वा सर्वसुरसानां प्रत्याख्यानं चकार. एवं तेन घृतगुडतैलदुग्धदधिप्रमुखाणां प्रत्याख्यानं कृतं, कथितं च हे स्वामिन्नद्यप्रभृत्यहं कटुतिक्तकषायाम्लाहारमेव गृहिष्यामि, ऊनोदरितपश्च करिष्यामि, पुनर्हे स्वामिन्नहं भवतां समीपे चतुर्थं व्रतं गृह्णामि, तेन च दिव्या मानुष्यास्तिर्यग्योनिका वा नारीः प्रत्याख्यामीत्यादि प्रत्याख्यानं विधाय स सुखेन व्रतं पालयन् स्थितः, व्रतप्रभावाच्च स कतिचिद्दिनै रोगेभ्यो मुक्तो बभूव. क्रमेण तस्य गृहे लक्ष्मीः प्रचुरा जाता, तेन स महर्द्धिको बभूव. तस्य गृहे अतीवसुरूपाः सुंदराकारा देवांगनातुल्या बहवो दास्यो वर्त्तते, परं वैराग्यवासितचित्तः श्रेष्टी सर्वदा विषयविमुक्तो बभूव, लक्ष्म्याश्च सुपात्रदानेन सदुपयोगं व्यधात्. अन्यदा तत्र दुर्भिक्षं जातं, ततोऽन्ये व्यवहा-

रिणो निर्धना जाताः, तदा स श्रेष्ठी पक्वान्नदधिदुग्धघृतशालिदालिप्रभृतिभिर्मुनीन् प्रतिलाभयामास, स्वजनानपि च भोजयामास. एवं स निजव्रतमखंडं पालयित्वा दानगुणेन च लोकैः प्रशस्यमानः पुण्यात्मा कालमासे कालं कृत्वा प्रथमस्वर्गे गतः तत्र स्थितश्च स शाश्वतजिनप्रतिमाः पूजयति स्नात्रपूजां च करोति. एवं सम्यक्त्वं निर्मलीकुर्वन् स मनसि चिन्तयति यदितश्च्यवनानंतरं जैनधर्मयुतस्य कस्यचित् श्राद्धस्य गृहे चेन्ममावतारो भवेत्तदा भव्यं. अथ हे राजन् तव नगरे द्वादशव्रतधारकः परप्रियावर्जको द्वाविंशत्यभक्ष्यद्वात्रिंशदनंतकायानां च वर्जको जिनधर्माराधकश्च सुबुद्धिनामा श्राद्धो वसति. तस्य यथार्थाभिधाना धर्मवत्याख्या भार्या वर्तते.'

अथ स देवस्ततश्च्युत्वा तस्याः कुक्षौ पुत्रत्वेन समुत्पन्नोऽस्ति, तस्य पुण्यात्मनो जन्मप्रभावादितस्तद् द्वादशवार्षिकं दुर्भिक्षं दूरीभूतमस्ति. तत् श्रुत्वातीवहृष्टो राजा केवलिनं वन्दित्वा तस्य श्रेष्ठिनो गृहे च गत्वा तं बालकं विलोकयामास. ततोऽसौ मस्तके चाञ्जलिं कृत्वेत्यवादीत् 'हे दुर्भिक्षनिर्नाशक जगत्तारक त्वं जय ? तुभ्यं नमोऽस्तु ? मम राज्ये त्वं राजासि अहं च तव सेवकोऽस्मि, नूनं त्वं मूर्त्तिमान् धर्मोऽसि. अतस्तव धर्मकुमार इति नामास्तु ?' एवं तं बालकं स्तुत्वा राजा निजावासे समायातः, क्रमेण स धर्मकुमारः पित्रा परिणायितो यौवनं प्राप्तः, तत्र च स देववद्विषयसुखानि भुंक्ते. एवं चिरकालं स सुखानि भुक्त्वा दानं दत्त्वा सुगुरुपार्श्वे प्रव्रज्यां गृहीत्वा केवलज्ञानमुत्पाद्य मुक्तिं ययौ.

**॥ इति सप्तमभोगोपभोगविरमणव्रतविषये धर्मकुमारकथा समाप्ता ॥**

इति धर्मकुमारचरित्रं श्रुत्वा भो भव्या यूयं सप्तमव्रतस्य पालनं कुरुत ? तत् श्रुत्वानंद उवाच 'हे भगवन् ! ममाप्येतद्

व्रतं देहि ? इत्युक्त्वानंदगाथापतिर्भोगोपभोगप्रमाणं करोति, तद्यथा–'शरीरलूहनकृते ममैका सुगन्धकाषाय्यशाटिका मुत्कला, ज्येष्टीमधुककम्बिका दन्तशोधनकृते मुत्कला, अंगमर्दनकृते शतपाकसहस्रपाके तैले मुत्कले, उद्वर्त्तनकृते सुरभिद्रव्यमिश्रितं गोधूमपिष्टं मुत्कलं, स्नानकृते बृहदष्टोष्णजलभृता घटा मुत्कलाः परिधानकृते एकं क्षौमयुगलं मुत्कलं विलेपनकृते कर्पूरमिश्रितं चन्दनं मुत्कलं, पुष्पेषु कमलपुष्पाणां माला मुत्कला, आभरणेषु कर्णकुण्डले नामांकिता मुद्रिका च मुत्कला, धूपेष्वगुरुसेल्हारसधूपो मुत्कलः, भोजने घृततैले मुत्कले, पक्वान्ने घृतपूरखर्जौ शर्कराभृतौ मुत्कलौ, तण्डिलेषु कलमशालयो मुत्कलाः, द्विदलेषु मुद्गमाषौ मुत्कलौ, आश्विनकार्त्तिकनिष्पन्नं घृतं मुत्कलं, बुब्बुकमण्डिकसोवच्छिकशाकानि मुत्कलानि, जातिफलककोलकर्पूरैलालवंगमिश्रं तांबूलं मुत्कलं, आकाशजलं मुत्कलं, एवं तेन यावज्जीवं भोगोपभोगविरमणव्रतनियमः कृतः.

## अष्टममनर्थदण्डविरमणव्रतम्

अथानर्थदंडोपरि कथ्यते—यः श्राद्धोष्टमं व्रतं पालयति स इह भवे सूरसेनवत् सुखी स्यात्, यश्च न पालयति स महसेनवद् दुःखी भवति. तथाहि—" क्षितिप्रतिष्ठितनगरे श्रीवीरसेनराजा न्यायपूर्वकं राज्यं करोति, तस्य कमलावती राज्ञी, तस्याः कुक्षौ सूरसेनमहसेनाभिधौ द्वौ पुत्रावुत्पन्नौ. तौ सौभाग्यवंतौ रूपवंतौ परस्परं च स्नेहवन्तावभूतां.

अथैकदा महसेनस्य जिह्वायां रोग उत्पन्नः, तेनात्यंतपीडातः स नारकवत्फूत्कारं करोति, ये लोकाश्च तस्याक्रन्दनं

शृण्वन्ति तेषामपि तस्योपरि महती करुणोत्पद्यते.

अथ राज्ञा तद्रोगोपशात्यर्थं महान्तो राजवैद्या आकारिताः, तैश्च यथा यथा भेषजानि कृतानि तथा तथा तस्य जिह्वा लोहवत्कठिना बभूव, न काचिद्वेदनोपशान्ता. तदा तैर्वैद्यैः कथितं 'भो राजन्! सांप्रतमस्य धर्मौषधं देहि?' इत्युक्त्वा सर्वेऽपि वैद्याः स्वगृहे गताः,

अथ तस्य रसना क्वथिता. ततश्चातीव दुर्गन्धः प्रोच्छलितः, तेन मातापितृभ्यां स्वजनैश्च स चांडालपाटकवदतिदूरे मुक्तः, एवं तस्य पार्श्वे दुर्गन्धवशात्कोऽपि स्थातुं न शक्नोति. केवलं सूरसेनो भ्रातृस्नेहेन तद्दुर्गन्धं सहमानस्तत्पार्श्वे स्थित्वेत्यभिग्रहं जग्राह 'यावन्मे भ्राता न भोजयति तावदहमपि किंचिदाहारं नैव गृहिष्यामि, यद्यसौ मरिष्यति तदाहमपि मरिष्यामी'त्युक्त्वा स तत्पार्श्वे स्थितस्तन्मुखाद्वस्त्रांचलेन मक्षिका उड्डापयति.

अथैकदा सूरसेनेन प्रासुकजलं नवकारमंत्रेण मंत्रयित्वा निजभ्रातुर्जिह्वोपरि सिक्तं, तेन तस्य स्तोकतरा वेदनोपशान्ता ततोऽसौ यथा यथा नवकारमंत्रमंत्रितजलेन तज्जिह्वां सिञ्चति तथा तथा तस्य रोगोपशांन्तिर्जाता, दुर्गन्धश्च सर्वथा गतो मुखे च सुगन्धता समागता. एवं नवकारमंत्रमाहात्म्यतस्तस्य सर्वं भव्यं संजातं. राजादयः सर्वेऽपि स्वजना महसेनं गतरोगं दृष्ट्वात्यन्तं हृष्टा बभूवुर्धर्मविषये च दृढचित्ता जाताः.

अथन्यदावधिज्ञानयुताः श्रीभद्रबाहुसूरयो बहुपरिवारसहितास्तन्नगरोद्याने समवसृताः. तत् श्रुत्वा सूरसेनमहसेनौ तत्र गत्वा सूरिं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वोपविष्टौ, गुरुणापि धर्मोपदेशो दत्तः, देशनान्ते सूरसेनेन पृष्टं 'हे भगवन् मम भ्रातृ

रसनायां रोगः कथमुत्पन्नः ? तदा सूरिरवादीत् " भो महाभाग ! श्रूयतां ? अस्मिन् भरतक्षेत्रे मणिपुराभिधं नगरं वर्त्तते, तत्र मदननामा जिनधर्मरतः सुभटो वसति, तस्य च धीरवीराभिधौ द्वौ पुत्रावास्तां. तौ द्वावपि जिनधर्ममर्मज्ञौ नवतत्त्ववेत्तारौ धर्मकर्मविषये तत्परावभूतां. एकदा तौ द्वावप्युद्याने गतौ, मार्गे चैकं मुनिवरं धरित्र्यां पतितं लोकैश्च वेष्टितं दृष्ट्वा ताभ्यां लोकेभ्यः पृष्टं ' भो लोका ! अस्य मुनेः किं जातं ?' तैरुक्तमसौ मुनिः कार्योत्सर्गे स्थितोऽभूत्, इत एकोऽहिरागत्य तं दृष्ट्वा बिलमध्ये प्रविष्टः.'

तत् श्रुत्वा लघुभ्राता वीरोऽवादीद् ' रे रंकाः ! पलायमानोऽसौ सर्पो युष्माभिः कथं न मारितः ?'

इति तत्कठोरवचनं श्रुत्वा वृद्धभ्राता धीरस्तं प्रत्याह 'भो भ्रातर्यदि स सर्पं आत्मीयपुण्येन जीवन् गतस्तर्हि त्वं जिह्वया कथं पापं बध्नासि ?,

तत् श्रुत्वा वीरोऽवादीत् ' हे भ्रातरेष दुष्टोऽहिर्मुनिं दृष्ट्वा पलायितोऽतोऽसावपराधी निश्चितं मारयितुं योग्य एवासीत्, किञ्चापराधिनो मारणे धर्म एव, न पुनरधर्मः, दुष्टानां निग्रहः शिष्टानां च पालनं क्षत्रियाणां धर्मोऽस्ति.' वृद्धभ्रात्रोक्तं 'हे भ्रातरीदृग्वचो न वक्तव्यं.'

अथ तेन धीरेण मणिमंत्रौषधादिभिर्मुनिः सज्जीकृतः, ततस्तौ द्वौ भ्रातरौ मुनिजीवनात्प्रमुदितौ गृहे समागतौ. बहुदिनानि च जिनधर्मं समाराध्यायुःपूर्णीकृत्य धीरजीवस्त्वं सूरसेन आसीः, वीरजीवश्च महसेनोऽभूत्. एवं कठोरवचनेन पूर्वोपार्जितकर्मानुभावेन महसेनजिह्वायां रोगो बभूव, असाध्यश्च स रोगस्त्वया नमस्कारमंत्रप्रभावेण दूरीकृतः." इति मुनिनोक्तं

वृत्तान्तं श्रुत्वा तयोर्जातिस्मरणज्ञानं समुत्पन्नं, ततोऽनित्यं संसारस्वरुपं ज्ञात्वा शुद्धभावेन ताभ्यां मुनिपार्श्वे दीक्षा गृहीता.

एवं सप्तदशविधं संयमं पालयन्तौ शुद्धाहारपाने गृह्णन्तौ शुक्लध्यानं ध्यायन्तौ तावष्टकर्माणि क्षपयित्वा मुक्तिं गतौ.

ततो भो भव्या एतद्दृष्टांतं श्रुत्वानर्थदण्डरुपं कठोरवचनं न वक्तव्यं अथ सोऽनर्थदंडश्चतुर्भेदाऽस्ति, प्रमादाचरितं १ हिंसाप्रदानं २ अपध्यानं ३ पापकर्मोपदेशश्च ४. एवंविधोऽनर्थदंडः श्रावकेण सदा परिहर्त्तव्यः, आनंदश्रावकेणापि स परिहरितः.

**इत्यनर्थदण्डविषये सूरसेनमहसेनकथा समाप्ता ॥**

## अथ नवमं सामायिकव्रतम्

अथ सामायिकव्रतं कथ्यते, तद्भो भव्याः सावधानतया शृणुत ! सावद्ययोगवर्जनेनांतर्मुहूर्त्तं यावच्छुभध्यानेन यद्वर्त्तनं तत्सामायिकं कथ्यते. साधूनां चिरकालमपि पालितं चारित्रं सामायिकं विना फलदं न स्यात्. अतिक्रुरो बहुपापरतः कुकर्मकारकोऽपि जनः सामायिकेन केसरिवत् शुद्धिं प्राप्य निर्मलो भवति.' तत् श्रुत्वानंदेन ' पृष्टं हे स्वामिन् ! कोऽसौ केसरी ? कथं च तेन सामायिकव्रतं पालितं ? तत्कृपां विधाय कथ्यतां ?' भगवानाह

" अस्मिन्नेव भरतक्षेत्रे कामपुरं नाम नगरं वर्त्तते, तत्र विजयचन्द्राभिधो राजा राज्यं कुर्वन् सुखेन प्रजां पालयति. तत्रैव नगरे संघदत्तनामको धनाढ्यः श्रेष्ठी वसति, परं तस्य केसरिनामा पुत्रो नगरमध्ये चौर्यं करोति, पित्रा वारितोऽपि न मन्यते, तदा श्रेष्ठी राजसभायामागत्य राजानं विज्ञपयति ' हे स्वामिन् मम केसरिनामा पुत्रो नगरमध्ये चौर्यं करोति मया

वारितोऽपि न मन्यते, अतस्तेन पुत्रेण मम कार्यं नास्ति, अतःपरं तत्सम्बन्ध्युपालंभो मे न देयः.' तत् श्रुत्वा राजा केसरिणमाकार्यं कथयामास 'रे पापिष्ठ ! मम नगराच्छीघ्रं निस्सर ? यदि कदाचिन्मम धरित्र्यां त्वां विलोकयिष्यामि तदा नूनं हनिष्यामी'त्युक्त्वा राज्ञा स निजदेशान्निष्कासितः,

अथासौ राज्ञो भयेन देशान्तरं व्रजन्नेकस्मिन् वनखंडे शीतलजलभृतमेकं सरोवरमपश्यत्. ततो जलं पीत्वैवं स चिन्तयति 'धिग् धिगद्य मया चौर्यं विना जलं पीतमिति' ध्यायन् यावत्स स्थितस्तावत् कोऽपि पुमान् पादुकाप्रभावेणाकाशात्तत्तडागनिकटे उत्तीर्णः, पादुके एकान्ते च संस्थाप्य स्वयं स्नानार्थं जलमध्ये प्रविष्टः.

इतोऽसौ केसरी चौरस्ते अपूर्वे पादुके दृष्ट्वा स्वपादयोः क्षिप्त्वा गगने समुत्पतितः, ततोऽसौ कुत्रचित्स्थाने दिनं पूर्णीकृत्य रात्रौ गगनमार्गेण निजगृहे गत्वा पितरं प्रत्युवाच, 'रे दुष्ट ! त्वया राज्ञे विज्ञप्य मे चौर्यकलंकं दत्वाहं पुरान्निष्कासितोऽस्मि, अतस्तत्फलं पश्ये' त्युक्त्वा स स्वजनकं गाढं ताडयामास, अतिताडनाच्च स मृतः.

ततोऽसौ केसरी तत्रैव नगरे कस्यापि महर्द्धिकश्रेष्ठिनो गृहात्सारं धनं गृहीत्वा रात्र्याः पाश्चात्ययामे तत्रैवाटव्यां तस्यैव तटाकस्य समीपं गगनमार्गेणागत्य गुप्तस्थाने स्थितः. एवं स प्रत्यहं रात्रौ तत्रैव नगरे चौर्येण धनिनां गृहाणि मुष्णाति.

अथ नगरलोका मिलित्वा राज्ञोऽग्रे गत्वा तच्चौरवृत्तान्तं निवेदयामासुः, तत् श्रुत्वा राज्ञारक्षकः समाकारितः, आरक्षकोऽपि हस्तौ संयोज्य कथयामास 'हे स्वामिन् ! कश्चिन्महाचौरो गगनमार्गेणागत्य नगरं मुष्णाति, तन्मया किं क्रियते ? तत् श्रुत्वा राजाचिन्तयद् 'धिग्मां यन्मयि राज्यं कुर्वति मे प्रजा चौरोपद्रुता भवति.' ततो राजा स्वयं स्तोकपरिवारयुतो नगरा-

द्वहिश्चौरग्रहणार्थं वनखण्डगिरिगुहाजीर्णोद्यानादिस्थानेषु बभ्राम, परं चौरो न लब्धः, मध्याह्ने राजा यावद्वनमध्ये स्थितोऽस्ति तावत्कर्पूरकस्तूर्यगुरुसमुद्भवा वासना तत्र समागता, तदा तेन चिन्तितमेषा वासना कुतः समायाति ? तत्र गत्वा विलोकयामीति ध्यात्वा स गंधानुसारेण गच्छन् चण्डिकायाश्चैत्ये समागतः, तत्र कर्पूरकस्तूरिकादिभिरर्चितां चंडिकामूर्तिं दृष्ट्वा तथा तत्पूजाकारकमपि दिव्यांबरवस्त्रविभूषितं विलोक्य राजा तं पृच्छतिस्म, ' भो भद्र ! केनैषा चण्डिकायाः पूजा कृता ? केन च ते दिव्यवस्त्राभूषणानि दत्तानि ?' तदाऽसौऽर्चकोऽवादीत् ' हे राजन्नहं वणिक्पुत्रोऽस्मि, दुःखितो दरिद्री द्रव्यहीनः सुखद्रव्यार्थीभूतो नित्यं चंडिकामाराधयन्नस्मि, मम भक्त्या च संतुष्टेयं देवी, ततः प्रभातेऽहं यदा पूजार्थमागच्छामि, तदास्याः पादमूले मणिकनकादिकमहं प्राप्नोमि. एवं धनप्राप्तितो मम गृहे प्रचुरा लक्ष्मीर्वर्त्तते, तेनाहं प्रत्यहं कस्तूरिकादिभिर्देवीमर्चयामि'.

तत् श्रुत्वा राज्ञा मनसि चिन्तितं निश्चयेनात्र रात्रौ स चौरः समायाति, ततो राजा पश्चाद्वनखण्डे समागत्य संध्यावधि तत्र स्थित्वा रात्रौ परिवारयुतश्चंडिकायाश्चैत्ये समागत्य प्रच्छन्नं स्थितः, इतः स केसरी चौरो गगनात्तत्र चैत्ये समुत्तीर्णः, वामकरे च पादुके गृहीत्वा मध्ये प्रविष्टो देवीं पूजयित्वेति विज्ञपयामास, 'हे देवि ! तव प्रसादादहं धनाढ्यो जातोऽस्मि, अतो मे रक्षापि त्वयैव कर्त्तव्या.' इत्युक्त्वा स यावत्पश्चाद्वलितस्तावद्राजा चैत्यस्य कपाटं दत्त्वा तं प्रति कथयामास 'रे पापिष्ठ ! त्वं नित्यं मे नगरी मुष्णासि, अथ सांप्रतं क्व यास्यसि ?' तत् श्रुत्वा चोरः पादुके पृथ्व्यां मुक्त्वा बलात्कपाटमुद्घाट्य पलायितः, राजापि निजसेवकानवादीत् 'भो सेवका अयं केसरी चौरो याति, अत एनं द्रुतं गृह्णीत ?' इत्युक्त्वा राजा सेवकैः सह चौरपृष्ठे धावितः, भयभीतश्चौरोऽप्यग्रे गच्छन् वैराग्ययुतश्चिन्तयामास ' अहो ! ममोग्रपापस्यात्रैव भवे फलं प्राप्तं, अद्य मे नूनं

मरणं भविष्यति,' इतो वनखंडात् कस्यचित्साधोर्वचनं तेन श्रुतं यद्रागद्वेषौ मुक्त्वा यो जीवः शुभध्याने वर्त्तते स क्षणादेव घोरपापादपि मुच्यते. तत श्रुत्वा मनसि शुभध्यानेन स तत्रैव स्थितः संसारासारतां भावयन् धर्मध्यानात् क्रमेण शुक्लध्यानं संप्राप्य केवलज्ञानं लब्धवान्.

इतो राजा तत्रागत्य चौरं दृष्ट्वावादीत् 'रे रे भटा एनं केसरिचौरं हन्यतां?' तत् श्रुत्वा यावत्ते चौरा धावितास्तावत्सुरैरागत्य केसरिकेवलिने लिङ्गं दत्वा तत्र स्वर्णकमलं निर्मितं, तत्रोपविष्टः स केवलिभगवान् राज्ञा सुभटैर्देवैश्च वन्दितः. ततः केवलिना धर्मोपदेशो दत्तः, देशनानंतरं राजाह 'हे भगवन्! क्व भवतां दुराचरणं? क्व चैतत्केवलज्ञानं? मम मनसि विस्मयो वर्त्तते.' तत् श्रुत्वा केवल्युवाच 'भो राजन् आजन्मपापरतस्य यन्मे केवलज्ञानं जातं तत्सम्यक् सामायिकस्यैव फलं त्वया ज्ञेयं. यन्निबिडं कर्म बहुवर्षकोटीतपसोन्मूल्यते, तदपि समताभावतः क्षणमात्रेणापि क्षयं नीयते.' तत् श्रुत्वा केवलिनं वंदित्वा स्वगृहे ययौ. केवल्यपि बहुकालं विहृत्य भव्यजीवांश्च प्रतिबोध्य मुक्तिं ययौ.

एवं सामायिकाचरणतः पितुर्विघातकः सप्तव्यसनसेवको बहुलोकानामुद्वेगजनकः केसरिचौरोऽपि मुक्तिं ययौ. ततोऽभो भव्याः सामायिकस्यैवंविधं प्रभावं ज्ञात्वा तद्विषये उद्यमो विधेयः.

॥ इति सामायिकविषये केसरिचौरदृष्टांतः ॥

## अथ दसमं देशावकासिकव्रतम्

अथानंदस्याग्रे भगवान् देशावकासिकं व्रतं प्ररूपयति. 'यः श्राद्धः श्राद्धी वा देशावकासिकं पालयति स जीवानामभय-

दानं ददाति, एतद्व्रतप्रभावेण च जीवानां सर्वविघ्नानि नश्यंति, सुमित्रमहामंत्रिवच्च स इह लोके परलोके च सुखी भवति.' तत् श्रुत्वानंदः पृच्छति, 'हे भगवन्! कोऽसौ सुमित्रो मंत्री? कथं च तेन देशावकासिकं व्रतं पालितं?' भगवानाह "भो श्राद्ध! त्वं सावधानतया शृणु? 'अस्मिन् भरतक्षेत्रे सकलनगरीणां मध्ये प्रधाना श्रीचन्द्राभिधा नगरी वर्त्तते, तत्र तारापीडाभिधो राजा राज्यं कुर्वन् न्यायेन प्रजां पालयति. तस्य राज्ञः सुमित्राभिधो मंत्री वर्त्तते, स जैनधर्मरतः परमश्राद्धो नवतत्त्ववेत्ता सन् प्रत्यहं देवपूजां धर्मश्रवणं सुपात्रदानं प्रतिक्रमणादि च करोति.

इत्यादिधर्मकृत्यानि कुर्वन्तं तं मंत्रिणं प्रत्येकदा राजा बभाषे. 'हे मंत्रिन्! एवंविधैर्धर्मकृत्यैस्त्वं मुधात्मानं किं विडंबयसि? तपसा शरीरं च किं शोषयसि? तत् श्रुत्वा मंत्रिणोक्तं 'हे राजन्! त्वमेवं मा वद? युष्मादृशैस्तु मादृशानां धर्मकार्येषु प्रत्युत प्रेरणैव कर्तुं योग्या. अस्मिन् संसारे धर्मकृत्यान्येव शुभफलानि यच्छंति, स्वर्गमोक्षसौख्यान्यपि जीवा धर्मेणैव प्राप्नुवन्ति, धर्मं विना जीवस्य कुत्रापि सुखं न स्यात्.' तत् श्रुत्वा राजावादीत् 'तर्हि भो मंत्रिन्! त्वं मे धर्मस्य फलं प्रत्यक्षमेव दर्शय?' तत् श्रुत्वा मंत्री जगाद 'हे राजन्! त्वं यद्राजा जातोऽसि, चतुरंगसैन्यसहिताः सर्वे लोकास्तवाज्ञां मन्यन्ते हस्तौ संयोज्य च तव सेवां कुर्वन्ति, तत्सर्वं त्वं धर्मस्यैव फलं जानीहि?' तदा राजाह 'हे मंत्रिन्! त्वं शृणु? एका शिला द्विधा कृता, तयोरेकेन खण्डेन सोपानं कृतं, द्वितीयेन च कस्यापि देवस्य प्रतिमा कृता, तत्किमेकेन खण्डेन पुण्यं न कृतं? अपरेण च कृतमासीत्? अपि तु नैव. एवमेषापि स्थितिर्वर्त्तते यदयं राजा एष मन्त्री एते च सेवका इति,' तत् श्रुत्वा मंत्री प्राह 'भो राजन् एष उपलदृष्टांतो जीवेन सह न लगति. धर्माधर्मयोर्विद्यमानयोरेव जीवा धर्माधर्मफलं भुञ्जन्ते' तदा राजोवाच 'हे

मंत्रिन् ! यावदहं प्रत्यक्षं धर्मफलं न पश्यामि तावन्न मन्ये.'

एवं नित्यमेव सभायां नृपमंत्रिणोर्विवादो भवति. अथान्यदा सुमतिमंत्री दिवसे राजकार्याणि कृत्वा रात्रौ गृहे समागतः, तद्दिने चतुर्दशीदिवसत्वेन तेनोपवासः कृत आसीत्, परं राज्यकार्यवशाद्दिवसे पौषधव्रतं न गृहीतमभूत. ततो रात्रौ देशावकाशिकं व्रतं विधायाद्य गृहाद् बहिर्न व्रजिष्यामीति प्रत्याख्याय प्रतिक्रमणं कृत्वा शुभध्यानयुतः पंचपरमेष्टिनमस्कारं स्मरन् स मंत्री गृहमध्ये स्थितः. इतो महत्कार्यार्थं राज्ञा मन्त्रिण आकारणार्थं तद्गृहे प्रतिहारः प्रेषितः, सोऽप्यागत्य मन्त्रिणं विज्ञपयति 'हे मंत्रिन् ! राजा त्वामाह्वयति.' तत् श्रुत्वा मंत्रिणोक्तं, 'भो महाभाग ! अद्याहं प्रभातं यावद् गृहाद् बहिर्न निस्सरिष्यामि, मया प्रत्याख्यानं कृतमस्ती' त्युक्त्वा मंत्रिणा प्रतिहारः पश्चात्प्रेषितः.

प्रतीहारोऽपि गत्वा राजानं विज्ञपयामास 'हे राजन् ! मंत्रिणा व्रतं गृहीतमस्ति, ततोऽसौ प्रभातं यावद्गृहाद्बहिर्न निस्सरिष्यति.' तत् श्रुत्वा राजा क्रोधान्धः सन् जगाद, 'रे प्रतिहार ! त्वं पुनरपि तत्र गत्वा तं ब्रूहि यन्मदत्कार्यं वर्त्तते, ततो व्रतं विलोप्याप्येहि ? यदि चेत्स नागच्छेत्तर्हि मम मंत्रिमुद्रां ततो गृहीत्वा मे समर्पय ?' इत्युक्त्वा तेन पुनरपि प्रतिहारस्तत्र प्रेषितः, प्रतीहारेणाप्यागत्य मंत्रिणे तथैव निवेदितं. मंत्रिणा चिन्तितं गृहीतव्रतविलोपनं हि महापापनिबन्धनं, ततोऽनया मंत्रिमुद्रया मे किमपि प्रयोजनं नास्ति, इति ध्यात्वा तेन मंत्रिमुद्रा स्वऋद्धिश्च प्रतीहाराय समर्पिता. ततोऽसौ विशेषेण धर्मध्याने लग्नः.

अथ तेन प्रतीहारेण कुतूहलेन मंत्रिमुद्रा निजकरे क्षिप्ता, भव्यचीवराणि च परिहितानि. ततोऽसौ अद्यप्रभृत्यहं मंत्री

जातोऽस्मीति मार्गे लोकान् प्रतिजल्पन् बहुसेवकैः परिवृतो राज्ञः पार्श्वे गन्तुं लग्नः. इतः कैश्चित्सुभटैः प्रकटीभूय हतहतेत्युक्त्वा स प्रतीहारो मार्ग एव मारितः, द्रव्यं च समस्तं लुण्टितं. राजा तद्वृत्तान्तं श्रुत्वा क्रोधान्धीभूत एवमवादीदहो ममैष प्रतीहारो दुष्टेन मंत्रिणेर्ष्यया मारितः, अतोऽस्य मंत्रिणो यदि खड्गेनाहं शिरश्छेत्स्यामि तदैव मे निवृत्तिर्भविष्यति. एवं गाढस्वरेण जल्पन् यत्र स प्रतीहारो बहुसुभटैः सह पतित आसीत्तत्रागत्यासौ विलोकयामास. परमेतान् सुभटान् वैदेशिकान् दृष्ट्वा विस्मितो राजा तानपृच्छत्, 'भो सुभटा युष्माभिर्मे प्रतीहारः कथं मारितः?' तैरुक्तं 'हे राजन्नस्मद्राज्ञोऽभाग्ययोगात्तन्मनोरथा न फलीभूताः,' राज्ञोक्तं 'कथं?' तैरुक्तं शृणु ?

'धारावासाभिधमेकं नगरमस्ति, तत्र सूरसेनाख्यो राजा राज्यं करोति, तत्पार्श्वात्तव सुमित्रो मंत्री तवार्थं प्रतिवर्षं दण्डं गृह्णाति, एवं सोऽस्मत्स्वामिनं पीडयति. ततोऽस्मद्राज्ञ आदेशेन वयं तं मारयितुमत्र समागता आस्मः, इतोऽहं मंत्र्यस्मीति मार्गे ब्रुवन् मंत्रिधिया युष्मत्प्रतीहारोऽस्माभिर्मारितः,' तत् श्रुत्वा कोपेन राज्ञाः ते सुभटा मारिताः, ततो राजा बहुपरिवारयुतो मंत्रिगृहे समागत्य तं क्षामयामास, कथितं च 'भो मंत्रिन्! यदि त्वमद्यैतद्व्रतं न गृह्णीथास्तदा तव नूनं मृतिर्भवेत्, मम राज्यस्य च त्वां विना का गतिः स्यात्? एवं हे मंत्रिन्! मयाद्य प्रत्यक्षमेव धर्मफलं दृष्टमस्ति, धन्यस्त्वं कृतपुण्यस्त्वं, ममैनमपराधं क्षमस्व, तथैव मां सुधर्मे संस्थाप्य संसारसमुद्रात्तारय ?'

तत् श्रुत्वा मंत्री जगाद 'हे स्वामिन्नत्रार्थे तव कोऽप्यपराधो नास्ति, अतः परं त्वं जैनधर्मे मतिं कुरु ?' अथ राजा पुनरपि तस्मै मंत्रीमुद्रां समर्प्य पूर्णचंद्रसुगुरुपार्श्वात् श्राद्धधर्मं गृहीतवान्. ततोऽसौ मंत्रिणा प्रेरितो देवार्चां सुपात्रदानं जिन-

ध्यानं तीर्थयात्रां च कृतवान्.

एवं तौ राजा मंत्री च जिनधर्मं समाराध्यायुःक्षये कालं कृत्वा महाविदेहे मुक्तिं यास्यतः. एवं भो भव्याः सुमित्रमन्त्रिदृष्टान्तं श्रुत्वा देशावकाशिकव्रते आदरं कुरुत ? तत् श्रुत्वानंदगाथापतिनापि श्रीजिनमुखाद्देशावकाशिकव्रतं गृहीतं.

॥ इति देशावकाशिकव्रतविषये सुमतिमंत्रिदृष्टांतः समाप्तः ॥

## ॥ अथ एकादशमं पौषधव्रतम् ॥

अथ श्रीजिनेन कथ्यमानं पौषधव्रताधिकारमानंदः शृणोति. व्यापारपौषधं १ आहारपौषधं २ ब्रह्मव्रतपौषधं ३ शरीरसत्कारपौषधं च ४. एतेषां चतुर्णां यः प्रतिषेधस्तत्पौषधव्रतं कथ्यते. पर्वदिवसे च यः श्रावकः पौषधं करोति स रणशूरवदिह भवे परभवे च सुखी भवति.

आनंद उवाच 'हे भगवन् ! कोऽसौ रणशूरः ? कथं च तेनैतद्व्रतं पालितं ?' इत्युक्ते भगवानवादीत् 'भो श्राद्ध ! तस्य कथानकं शृणु ?

" कांचनपुरे नगरे रणशूरनामा राजा राज्यं करोति, तस्य श्रीकांताभिधा च राज्ञी वर्त्तते, तस्यामासक्तो राजा गतमपि कालं न जानाति. धर्मस्य वार्त्तां च स्वप्नेऽपि स नाधिगच्छति.

अथैकदा स राजा यावत्सभायामुपविष्टोऽस्ति तावदेकेन सुभटेनागत्य तस्मै कथितं 'हे राजन् ! त्वं जिनधर्मं कथं न करोषि ? निःशंकीभूय सर्वदा कथं विषयानेव सेवसे ? आत्मीयबलगर्वेण कृतांतसुभटेभ्योऽपि किं न बिभेषि ? यदि च तव

सैन्यादेर्गर्वः स्यात्तर्हि त्वं मया सार्द्धं युद्धं कुरु ?' तत् श्रुत्वा क्रोधान्धेन राज्ञा प्रेरिता राजसुभटास्तद्वधाय धाविताः. परं तेन सुभटेनात्मीयबलं दर्शयित्वा तथा ते ताडिता यथा ते सर्वेऽपि दिशोदिशं पलायिताः. ततस्तेन सुभटेन स राजा केशेष्वाकृष्यानीयैकस्मिन् वनखंडे मुक्तः.

अथ राजा दध्यौ 'कथमनेन मम सैन्यं भग्नमहं चात्रानीतः ? अधुना किं करोमि ? क्व गच्छामि ? कस्याग्रे च पूत्कारं करोमि ? कुत्र मे नगरं ? क्व च मम राज्यं ? क्व च मे भार्या श्रीकांता ?' इत्यादि चिन्तयन् स वने परिभ्रमणं चक्रार.

इतस्तत्राम्रवृक्षतलोपविष्टमेकं मुनिं स ददर्श. तत्र गत्वा राजा मुनिं नमस्कृत्याग्रे उपविष्टः, मुनिना पृष्टं 'भो राजन् ! वर्त्तते किं ते समाधानं ?' राज्ञोक्तं भवत्प्रसादात्. ततो मुनिना तस्मै धर्मोपदेशो दत्तः. राजा धर्मदेशनां श्रुत्वा मुनिमपृच्छत् 'हे मुने ! रूपकांतियुक्तेन भवता प्रथमे वयस्येव कथं प्रव्रज्या गृहीता ?' मुनिराह 'हे राजन्नस्मिन् संसारे जीवानां मृत्युतो रक्षकः कोऽपि नास्ति, सर्वेऽपि स्वजनाः केवलं स्वार्थवशादेव मिलिताः सन्ति, न कोऽपि कस्यापि दुःखं विभज्य गृह्णाति, इति ज्ञात्वा मया राज्यं त्यक्त्वा प्रव्रज्या गृहीतास्ति.'

तत् श्रुत्वा राजचिन्तयन् 'नूनमेष मुनिर्महाज्ञानी वर्त्तते, लोकालोकं च पश्यतीति' ध्यात्वा तेन पृष्टं 'हे भगवन् ! सुभटकोटीमध्यादप्यहमत्र केनानातः ?' तत् श्रुत्वा मुनिवरोऽब्रवीत् 'हे राजन् ! पंचमकल्पवास्यमृतप्रियनामैको देवोऽस्ति, स मम वंदनार्थमत्रागत आसीत्. तेन मां प्रति पृष्टं यन्मयि च्युते सति मे विमाने को देवत्वेन समुत्पत्स्यते ?' मयोक्तं 'भो देव ! रणशूरो राजा तव विमाने देवो भविष्यति,' तत् श्रुत्वा तेनोक्तं 'हे प्रभो ! स राजा तु निजश्रीकांताख्यपत्न्यामती-

वासक्तीभूय धर्मेनामापि न जानाति, ततः स कथं धर्मं प्रतिपद्य मम विमाने समुत्पत्स्यते ?' तत् श्रुत्वा मयोक्तं 'स राजात्रानीतो मया प्रतिबोधितो धर्मं स्वीकरिष्यति. तत् श्रुत्वा तेन देवेन त्वमत्रानीतोऽसि. अतस्त्वमिहलोकपरलोकहिताय श्रीमदर्हद्भाषितं धर्मं स्वीकुरु ?' तत् श्रुत्वा राजा भावतः सम्यक्त्वसहितं द्वादशविधं श्राद्धधर्ममंगीचकार.

इतः स देवोऽपि प्रकटीभूय तस्य स्तुतिं कृतवान्, 'हे राजन् ! नूनं त्वं धन्योऽसि कृतपुण्योऽसि, त्वयात्मीयं जीवितं सफलीकृतमस्ति,' इति स्तुत्वा राजानं गृहीत्वा पुनरपि तद्राज्ये स देवः स्थापयामास.

अथ स राजा पर्वेष्वहं यावज्जीवं पौषधं करिष्यामीत्यभिग्रहं गृहीत्वा सम्यग्रीत्या जिनधर्मं पालयामास.

अथैकदा राजा निजावासे गतस्तत्र निजभार्यां श्रीकांतामदृष्ट्वा चिन्तातुरः सर्वत्र निजपुरुषैस्तां विलोकयामास, परं कुत्रापि तस्य शुद्धिर्न लग्ना. ततो राजा नैमित्तिकमेकमाहूयापृच्छत् 'भो निमित्तज्ञ ! मम भार्या कुत्र गतास्ति ? कुतश्चाहं तां लप्स्ये तत्कथय ?' तत् श्रुत्वा निमित्तज्ञोऽवादीत् 'भो राजन्नुत्तरदिशि त्वयि गते सति सा तव मिलिष्यतीति' श्रुत्वा राजोत्तरदिशं प्रति चचाल. क्रमेण राजा पंचमदिवसे एकस्यामटव्यां धनंजयाभिधयक्षचैत्ये गतः, तद्दिने च चतुर्दशीपर्वत्वाद्राजा पौषधं गृहीत्वा ध्यानमौनयुतस्तच्चैत्ये समुपविष्टः.

अथ स यक्षो राज्ञः पौषधव्रतनिश्चलतापरीक्षां चकार. केनापि यक्षविकुर्वितेन चरेणागत्य राज्ञे प्रोक्तं 'भो राजन्! तव प्रियां श्रीकांतां गृहीत्वैष कोऽपि गच्छति, अतो द्रुतमुत्थाय तत्पार्श्वात्तां गृह्णीत ?'

तत् श्रुत्वा राजा चिन्तयति, 'माता पुत्रः कलत्रं, सर्वमप्येतदनंतशो लब्धं, परमेतद्व्रतसंयोगो दुर्लभस्ततः कथमेतदहं

विराधयामीति' विचिन्त्य राजा तदश्रुतमिव मन्यमानो विशेषेण धर्मविषये मनः स्थापयामास. इता यक्षविकुर्विता कृत्रिमा श्रीकांता भयंकरैकपुरुषयुता तत्रागत्य राजानं प्रति जगाद ' हे वल्लभ ! त्वमेतस्मादुरात्मनो मां मोचय ? स मम पृष्टे लग्नोऽस्ति, निजकांतां परेण विडंब्यमानां दृष्ट्वा क उपेक्षेत ? पुनर्हे राजन् ! ममोपरि तव यो भूरिस्नेहो वर्त्तते स क्व गतः ?' इत्यादि तद्वचनं श्रुत्वापि राज्ञो मनो मनागपि न चलितं. तदा यक्षस्तस्य प्रतिकूलोपसर्गांश्चकार. धूलिवृष्टिमहोरगपिपीलिकाव्याघ्रसिंहगजादीन् विकुर्व्य तेन नानाप्रकारैः परीक्षितोऽपि स पुण्यात्मा धर्मध्यानान्न चलितः.

तदा स यक्षः प्रत्यक्षीभूय हृष्टः सन् तं प्रत्यवादीत् ' हे राजन् ! नूनं त्वं धन्योऽसि कृतपुण्योऽसि त्रिभुवनमध्ये च पूजनीयोऽसि, तव मनः पौषधमध्येऽतीवनिश्चलमस्ति.'

अथ हे राजन् ! वैताढ्यपर्वते दक्षिणश्रेण्यां गगनवल्लभाभिधं नगरं वर्त्तते, तस्य स्वामिना विद्याधरेण तव श्रीकांता प्रिया हृतास्ति, तत्र स विद्याधरो यावत्तस्याः शीलं खण्डयितुं लग्नस्तावत्तया लगुडेन हतो मृतः, अधुना सा तव कांताखंडितशीला तत्र वर्त्तते'. इत्युक्त्वा यक्षस्तत्र गत्वा श्रीकांतां च लात्वा राज्ञे समर्पयामास. ततो यक्षः श्रीकांतासहितं राजानं तन्नगरेऽमुचत्, तत्र च स बहुमणिकनकादिकं वर्षयित्वा निजस्थाने गतः

तत्रस्थोऽसौ रणशूरराजादरपूर्वकं जिनधर्ममाराधयति. पर्वतिथिषु च निरंतरं पौषधं करोति. एवं बहुकालं यावद्धर्मं कृत्वानशनेन मृत्वा स ब्रह्मलोके गतः, ततश्च च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यति. इति रणशूरनृपदृष्टांतं श्रुत्वा भो भव्याः पौषधव्रते आदरं कुरुत ? ॥ इति पौषधव्रतविषये रणशूरदृष्टांतः समाप्तः ॥

## ॥ द्वादशमं अतिथिसंविभागव्रतम् ॥

दानं चतुर्विधाहार-पात्राच्छादनसद्मनाम् । अतिथिभ्योऽतिथिसंवि-भागव्रतमुदीरितम् ॥ ८७॥

[ उ०—प्रायः शुद्धै–स्त्रिविधविधिना, प्रासुकैरेषणीयैः, कल्प्यप्रायैः, स्वयमुपहृतं–वस्तुभिः पानकाद्यैः
काले प्राप्तान् सदनमसम–श्रद्धया साधुवर्गान्, धन्याः केचित् परमवहिता–हन्त ! संमानयन्ति ॥१॥
अशनमखिलं, खाद्यं स्वाद्यं, भवेदथ पानकं, यतिजनहितं वस्त्रं पात्रं, सकम्बलप्रोच्छनम्
वसतिफलक–प्रख्यं, मुख्यं, चरित्रविवर्द्धनं, निजकमनसः, प्रीत्याधायि, प्रदेयमुपासकैः ॥२॥
किञ्चिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं, स्यात्स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम् । पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥३॥
देशं कालं पुरुषमवस्था–मुपयोगशुद्धिपरिणामान् । प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं, नैकान्तात्कल्पते कल्प्यम् ॥४॥

आ०—अन्नादीनामिदं दान–मुक्तं धर्मोपकारिणाम् । धर्मोपकारस्वाह्यानां, स्वर्णादीनां न तन्मतम् ॥१॥
दत्तेन येन दीप्यन्ते, क्रोधलोभस्मरायः । न तत् स्वर्णं चरित्रिभ्यो–दद्याच्चाग्निनाशनम् ॥२॥
यस्यां विदार्यमाणायां, म्रियन्ते जन्तुराशयः । क्षितेस्तस्याः प्रशंसन्ति, न दानं करुणापराः ॥३॥
यद्यच्छस्त्रं महाहिंस्रं, तत्तद्येन विधीयते । तदहिंस्रमना लोहं, कथं दद्याद्विचक्षणः ? ॥४॥
संमूर्च्छन्ति सदा यत्र, भूयांसस्त्रसजन्तवः । तेषां तिलानां को दानं मनागप्यनुमन्यते ? ॥५॥
दद्यादर्द्धप्रसूतां गां, यो हि पुण्याय पर्वणि । म्रियमाणामिव हहा !, वर्ण्यते सोऽपि धार्मिकः ॥६॥

यस्या अपाने तीर्थानि, मुखेनाश्नाति याऽशुचिम् । तां मन्वानाः पवित्रां गां, धर्माय ददते जडाः ॥७॥
प्रत्यहं दुह्यमानायां, यस्यां वत्सः प्रपीड्यते । खुरादिभिर्जन्तुघ्नीं तां, दद्याद्गां श्रेयसे कथम् ? ॥८॥
स्वर्णमयी रूप्यमयी, तिलमय्याज्यमय्यपि । विभज्य भुज्यते धेनु-स्तद्दातुः किं फलं भवेत् ? ॥९॥
कामगर्द्धकरी बन्धु-स्नेहद्रुमदवानलः । कलेः कलितरुर्दुर्ग-दुर्गतिद्वारकुञ्चिका ॥१०॥
मोक्षद्वारार्गला धर्म-धनचौरी विपत्करी । या कन्या दीयते साऽपि, श्रेयसे कोऽयमागमः ॥११॥
विवाहसमये मूढै-र्धर्मबुद्ध्या विधीयते । यत्तु यौतुकदानं तत्-स्याद्भस्मनि हुतोपमम् ॥१२॥
यत् संक्रान्तौ व्यतीपाते, वैधृते पर्वणोरपि । दानं प्रवर्त्तितं लुब्धै-र्मुग्धसंमोहनं हि तत् ॥१३॥
मृतस्य तृप्त्यै ये दानं, तन्वन्ति तनुबुद्धयः । ते हि सिञ्चन्ति मुशलं, सलिलैः पल्लवेच्छया ॥१४॥
विप्रेभ्यो भोजने दत्ते, प्रीयन्ते पितरो यदि । एकस्मिन् भुक्तवत्यन्यः, पुष्टः किं न भवेदिह ? ॥१५॥
अपत्यदत्तं चेद्दानं, पितॄणां पापमुक्तये । पुत्रेण तप्ते तपसि, तदा मुक्तिं पिताऽऽप्नुयात् ॥१६॥
गङ्गागयादौ दानेन, तरन्ति पितरो यदि । तत्रौक्ष्यन्तां प्ररोहाय, गृहे दग्धा द्रुमास्तदा ॥१७॥
गतानुगतिकैः कल्पं, न दद्यादुपयाचितम् । फलन्ति हन्त ! पुण्यानि, पुण्याभावे मुधैव तत् ॥१८॥
न कोऽपि शक्यते त्रातुं, पूर्णे काले सुरैरपि । दत्तोपयाचितैस्तेषां, बिम्बैस्त्राणं महाद्भुतम् ॥१९॥
महोक्षं वा महाजं वा, श्रोत्रियायोपकल्पयन् । दाताऽत्मानं च पात्रं च, पातयेन्नरकावटे ॥२०॥

ददद्धर्मधिया दाता, न तथाऽघेन लिप्यते। जानन्नपि यथा दोषं, ग्रहीता मांसलोलुपः ॥२१॥
अपात्रप्राणिनो हत्वा, पात्रं पुष्णन्ति ये पुनः। अनेकमेकघातेन, ते प्रीणन्ति भुजङ्गमम् ॥२२॥
न स्वर्णादीनि दानानि, देयानीत्यर्हतां मतम्। अन्नादीन्यपि पात्रेभ्यो-दातव्यानि विपश्चिता ॥२३॥
ज्ञानदर्शनचारित्र-रूपरत्नत्रयान्विताः। समितीः पञ्च बिभ्राणा-गुप्तित्रितयशालिनः ॥ २४ ॥
महाव्रतमहाभार-धरणैकधुरन्धराः। परीषहोपसर्गारि-चमूजयमहाभटाः ॥ २५ ॥
निर्ममत्वाः शरीरेऽपि, किमुन्तान्येषु वस्तुषु ?। धर्मोपकरणं मुक्त्वा, परित्यक्तपरिग्रहाः ॥ २६ ॥
द्विचत्वारिंशता दोषै-रदुष्टं भैक्षमात्रकम्। आददाना वपुर्धर्म-यात्रामात्रप्रवृत्तये ॥२७॥
नवगुप्तिसनाथेन, ब्रह्मचर्येण भूषिताः। दन्तशोधनमात्रेऽपि, परस्वे विगतस्पृहाः ॥२८॥
मानापमानयोर्लाभा-लाभयोः सुखदुःखयोः। प्रशंसानिन्दयोर्हर्ष-शोकयोस्तुल्यवृत्तयः ॥२९॥
कृतकारितानुमति-प्रभेदारम्भवर्जिताः। मोक्षैकतानमनसो यतयः पात्रमुत्तमम् ॥३०॥
सम्यग्दर्शनवन्तस्तु, देशचारित्रयोगिनः। यतिधर्मेच्छवः पात्रं, मध्यमं गृहमेधिनः ॥३१॥
सम्यक्त्वमात्रसन्तुष्टा-व्रतशीलेषु निःस्पृहाः। तीर्थप्रभावनोद्युक्ता-जघन्यं पात्रमुच्यते ॥३२॥
कुशास्त्रश्रवणोत्पन्न-वैराग्यान्निष्परिग्रहः। ब्रह्मवर्यरताः स्तेय-मृषाहिंसापराङ्मुखाः ॥३३॥
घोरव्रता मौनजुषः, कन्दमूलफलाशिनः। शिलोञ्छवृत्तयः पत्र-भोजिनो भैक्षजीविनः ॥३४॥

कषायवस्त्रा निर्वस्त्राः, शिखामौण्डयजटाधराः एकदण्डास्त्रिदण्डा वा, गृहारण्यनिवासिनः ॥३५॥
पञ्चाग्निसाधका ग्रीष्मे, गलन्ती धारिणो हिमे । भस्माङ्गरागाः खट्वाङ्ग-कपालास्थिविभूषणाः ॥३६॥
स्वबुद्धया धर्मवन्तोऽपि, मिथ्यादर्शनदूषिताः । जिनधर्मद्विषो मूढाः, कुपात्रं स्युः कुतिर्थिनः ॥३७॥
प्राणिप्राणापहरणा-मृषावादपरायणाः । परस्वहरणोद्युक्ता, प्रकामं कामगर्द्दभाः ॥३८॥
परिग्रहारम्भरता–न सन्तुष्टाः कदाचन । मांसाशिनो मद्यरताः, कापनाः कलहप्रियाः ॥३९॥
कुशास्त्रमात्रपाठेन, सदा पण्डितमानिनः । तत्त्वतो नास्तिकप्राया-अपात्रमिति शंसिताः ॥४०॥
इत्यपात्रं कुपात्रं च, परिहृत्य विवेकिनः । पात्रदाने प्रवर्त्तन्ते, सुधियो मोक्षकाङ्क्षिणः ॥४१॥
दानं स्यात्सफलं पात्रे, कुपात्रापात्रयोरपि । पात्रे धर्माय तच्च स्या-दधर्माय तदन्ययोः ॥४२॥
पयःपानं भुजङ्गानां, यथा विषविवृद्धये । कुपात्रापात्रयोर्दानं, तद्वद्भवविवृद्धये ॥४३॥
स्वादु क्षीरं यथा क्षिप्तं, कटूवलाबुनि दुष्यति । दानं दत्तं शुद्धमपि, कुपात्रापात्रयोस्तथा ॥४४॥
दत्ता कुपात्रापात्राभ्यां, सर्वोर्व्यपि फलाय न । पात्राय दत्तो ग्रासोऽपि, श्रद्धया स्यान्महाफलः ॥४५॥
इयं मोक्षफले दाने, पात्रापात्रविचारणा । दयादानं तु तत्त्वज्ञैः, कुत्रापि न निषिध्यते ॥४६॥
शुद्धयशुद्धिकृता भङ्गा-श्चत्वारः पात्रदानयोः । आद्यः शुद्धो द्वितीयो वै-कल्पिकोऽन्यौ तु निष्फलौ ॥४७॥
दानेन भोगानाप्नोता-त्यविमृश्यैव भाष्यते । अनर्घ्यपात्रदानस्य, क्षुद्रा भोगाः कियत्फलम् ? ॥४८॥

पात्रदाने फलं मुख्यं, मोक्षः सस्यं कृषेरिव । पलालमिव भोगास्तु, फलं स्यादानुषङ्गिकम् ॥४९॥
जिनानां दानदातारः, प्रथमे मोक्षगामिनः । धनादयो दानधर्मा-द्बोधिबीजसमुपार्जयन् ॥५०॥
जिनानां पारणे भिक्षादातॄणां मन्दिराजिरे । हर्षोत्कर्षपराः सद्यः, पुष्पवृष्टिं व्यधुः सुराः ॥५१॥
इत्यतिथिसंविभाग-व्रतमेतदुदीरितं प्रपञ्चेन । देयादेये पात्रा-पात्रे ज्ञात्वा यथोचितं कुर्यात् ॥५२॥

अथानंदोऽतिथिसंविभागव्रतं जिनमुखात् शृणोति. यः श्राद्धोऽतिथिसंविभागव्रतं सदा पालयति स भोगान् भुक्त्वा स्तोककालेनैव शिवसुखं प्राप्नोति, अतिथिः साधुः कथ्यते, तस्मै यः पुमान् दानं ददाति स जिनदत्तवदिह भवे ऋद्धिं प्राप्नोति, परभवे च शिवसुखमपि लभते. तत् श्रुत्वानंदः पृच्छति ' हे भगवन् ! कोऽसौ जिनदत्तः ? कथं तेन मुनये दानं दत्तं ?, इति पृष्टो जिनोऽवादीत् ' भो श्राद्ध ! तस्य दृष्टांतं शृणु ?'

पोतनपुरे नगरे जिनदत्ताख्यो महर्द्धिको व्यवहारी वसति, तस्य पूर्णाभिधा भार्या वर्त्तते, स श्रेष्टी दानरुचिर्भद्रकभाव-श्चास्ति. अन्यदा श्रीधर्माचार्यस्तत्र नगरे समवसृतः, जिनदत्तश्रेष्टी च तद्वन्दनार्थं गतः, विधिना च वंदित्वोचितस्थानोपविष्ट आचार्योपदिष्टं धर्मोपदेशं श्रुत्वा स श्राद्धधर्ममंगीचकार. एकांतरमुपवासं त्रिसंध्यं जिनपूजामुभयसंध्यं च प्रतिक्रमणमहं करिष्ये इत्यभिग्रहं स जग्राह, ततोऽसौ सूरीन् वंदित्वा गृहे समागतः शुद्धभावेन जिनधर्ममाराधयति.

अथ कियता कालेन स निजपूर्वकर्मदोषेण निर्द्धनो जातः, तदा तस्य भार्ययोक्तं ' हे स्वामिन् ! त्वं मे पितुर्गृहे व्रज ? मम पितुः पार्श्वाल्लक्ष्मीं समानीय च व्यापारं कुरु ?' तत् श्रुत्वा जिनदत्तो लज्जया तत्र न गतः, परं भार्यायाः सततप्रेरणत

एकदा स तत्र गंतुं मनोऽकार्षीत्. तदा भार्यया तस्मै प्रचुरसत्तुकश्चबलं प्रदत्तं, तद् गृहीत्वा स श्वशुरनगरं प्रति चचाल. मार्गे तस्योपवासो जातः, द्वितीयदिने मध्याह्ने स एकस्मिन् ग्रामे प्राप्तः, तत्र तटाकमेकं विलोक्य तस्य पाल्यां वृक्षाध उपविश्य तेन सत्तुकं जलक्लिन्नं कृतं. ततोऽसौ मुखधावनं कृत्वा चिन्तयति 'मम गृहे तु साधुसाध्व्यः समायान्ति, परमधुनात्र चेत्कोऽपि मुनिरायात्तदा मे महद् भाग्यं.

एवं स यावच्चिन्तयति तावत्तस्य भाग्ययोगेनैको मुनिस्तत्रायातः. स मुनिर्निरंतरं मासक्षपणं करोति, पारणकदिने च प्रथमपौरुष्यां स्वाध्यायं करोति, द्वितीयस्यां ध्यानं ध्यायति, तृतीयस्यां च पात्राणि प्रतिलिख्य भिक्षार्थं गच्छति. एवंविधं मुनिमागतं दृष्ट्वातीवहृष्टो जिनदत्तस्तस्य सन्मुखं गत्वा वंदित्वा च विज्ञपयति 'हे मुने ! प्रासुकाहारग्रहणेन मां निस्तारय ?' तत् श्रुत्वा मुनिरपि योग्यं विज्ञायाहारं जग्राह. श्रेष्टिनापि शुद्धभावेन तत्सुपात्रदानं ददतानर्गलं पुण्यमुपार्जितं.

अथ श्रेष्टी चतुर्थदिने श्वशुरस्य गृहं प्राप्तस्तत्र जिनोक्तविधिना पारणं चक्रार. ततः श्वशुरेण तस्मै पृष्टं, भो जामातः कथं त्वमत्र समागतः ?' तेनोक्तं 'द्रव्यार्थमागतोऽस्मि.' तत् श्रुत्वा सर्वपरिवारेण चिंतितं चेदस्मै द्रव्यं प्रदास्यते, तदासौ सर्वं तद्भक्षयिष्यति, पश्चात्किमपि नागमिष्यति. तस्मात्कुलदेव्यापृच्छ्यते, कुलदेवी च यद्वदेत्तत्क्रियते. इति विचिन्त्य तैर्निजकुलदेव्यागधिता, साप्यागत्य तेभ्य उवाच, भो श्रूयतां ? अनेन मुनये दानं दत्वा यत्पुण्यमुपार्जितमस्ति तन्मध्याद्यद्यसौ चतुर्थांशं दद्यात्तदा स यत्किञ्चिन्मार्गयेत्तद्देयं, नान्यथा. इति देव्या वचनं श्रुत्वा जिनदत्तं श्वशुरोऽवदद् भो जामातर्मुनिदानफलमध्याच्चतुर्थांशं मे देहि ! यथा तवाहं प्रचुरं द्रव्यं यच्छामीति श्रुत्वा जिनदत्तोऽवादीत् 'भो श्वशुर ! त्वयैतदयुक्तमुक्तं, कः

कल्पवृक्षमुन्मूल्य निंबपादपमारोपयति ? महागजेंद्रं विक्रीय को रासभं गृह्णाति ?' यतो मुनिदानफलं मानुष्यसुखं देवसुखं मोक्षसुखं च ददाति. तन्मुनिदानफलं विक्रीय कः पुमान् विनश्वरं द्रव्यं गृह्णाति ?' इति जामातुर्वचनं श्रुत्वा श्वशुरो विलक्षभावं प्राप्तः सन् किमपि नादात्, ततो जिनदत्तेनापि किंचिन्नार्थितं, यतो मानधनाः प्राणांतेऽपि कुलमर्यादां न लोपयन्ति. ततोऽसौ जिनदत्तो निराशः सन् पश्चाद्वलित्वा निजनगरसमीपे समागतः, तत्र नद्यास्तीरे स्थितः सन् स चिन्तयति 'मम भार्यया महदाग्रहेणाहं श्वशुरगृहे मुक्तोऽभूवं, परं ममैतत्स्वरुपं दृष्ट्वा सा दुःखं करिष्यतीति ध्यात्वा नद्या मध्याद्वर्त्तुलकर्कराणां पोट्टलिकां बध्ध्वा, मस्तके च धृत्वा स निजगृहे समागतः. भार्या च ग्रन्थिसहितं निजपतिमागच्छन्तं दृष्ट्वातीवमुदिता सती सन्मुखमागत्य ग्रन्थिं जग्राह. गृहीत्वा चैकान्ते स्थापयित्वा तन्मध्यादेकं रत्नं गृहीत्वा कस्यचिद्वणिजो हट्टे ग्रहणके मुक्त्वा भोजनादिसामग्रीं गृहीत्वा रसवतीं विधाय, तया सा निजभर्त्तुर्भक्तिं चकार.

तदा स श्रेष्ठी चिन्तयति नूनमेषा मे पत्नी मुग्धास्ति, यद ऋणं कृत्वा मम भक्तिं करोति. सा च भक्तिः पश्चान्मे दुःखदात्री भविष्यति.ऊक्तं च—

**अधिकार-ऋणं गर्भ—श्चतुर्थं श्वानमैथुनं । आगमे सुखदं सर्वं, निर्गमे दुःखभाजनं ॥१॥**

इति विचिन्त्य श्रेष्ठिनोक्तं 'हे मुग्धे मुधा त्वं मस्तके ऋणं कथं करोषि ? पश्चात्तत्क उत्तारयिष्यति ? प्रांते च तन्मे दुःखदं भविष्यति.' तत् श्रुत्वा सावादीत् 'हे नाथ यदा मम पित्रा तवानर्गला लक्ष्मार्दत्तास्ति, तदैवं किं ब्रविषि ?' तत् श्रुत्वा चमत्कृतः श्रेष्ठी गत्वा यावत् पोट्टलिकां पश्यति. तावन्मुनिदानप्रभावात्तानि सर्वाणि कर्कराणि रत्नमयीभूतानि पश्यति तदा

श्रेष्ठिना चिन्तितं ध्रुवमेतत्फलमत्र सुपात्रदानाज्जातं, परभवे च तन्मुक्तिफलं दास्यति. इति ध्यात्वा स भार्यां प्रत्यवादीत्—

[1]भोलो मुद्ध म गव्व करि, नवि दिन्नं किंपि तुज्झ भायाए। सत्तुयदाणपभावा, रयणमया कक्करा जाया ॥१॥

ततः स सर्वोऽपि वृत्तान्तः श्रेष्ठिना निजप्रियायै कथितः एवं स जिनदत्तश्रेष्ठी रत्नैः, पुनरपि महर्द्धिको जातः एवं प्रासुकमुनिदानेन परलोकेऽपि स शिवसुखं प्राप्स्यति. ॥

॥ इत्यतिथिसंविभागव्रतविषये जिनदत्तश्राद्धस्य दृष्टांतः समाप्तः ॥

तत् श्रुत्वानंदश्रेष्ठ्यप्यतिथिसंविभागव्रतं गृह्णाति. ततोऽसौ जगाद 'हे भगवन् ! एतानि द्वादशव्रतानि भवत्प्रसादान्मम यावज्जीवं भवंतु.

अतः परं हे स्वामिन् तीर्थिकानामेवाहं नमस्कारं पूजां च करिष्यामि, हरिहरादीनामन्यदेवानां नमस्कारं न करिष्यामि. अन्यतीर्थिकैर्गृहीतार्हत्प्रतिमापि मया न नमस्करणीया. सामग्रीसद्भावे चाशनपानखादिमस्वादिमवस्त्रपात्रकंबलपादप्रोंछनसंस्तारकशय्यौषधादिकं कल्पनीयं मया मुनिभ्यो दातव्यं.

एवमानंदश्रेष्ठितामणिरत्नवज्जिनधर्मं प्राप्य प्रमुदितचित्तः सन् श्रीमहावीरमेवमवादीत् ' हे भगवन् ! अद्य मम जन्म कृतार्थं, अद्य मया त्रिभुवनराज्यं प्राप्तं, योऽद्य दरिद्रिणोऽग्रे निधिप्रकटनमिव मया भवतः शिक्षा लब्धा, अलब्धपूर्वो धर्मश्चापि भवतो लब्धः, इत्युक्त्वा स्वामिनं नत्वानंदो निजगृहे समागत्य स्वभार्यां शिवानंदां प्रत्याह—

१ भोलि ? मुग्धे मा गर्वं कुरु नवि दत्तं किमपि तव भ्रात्रा सक्तूदानप्रभावात् रत्नमया कर्करा जाता ॥

' भद्रे श्रीमहावीरदेवो द्रुतपलाशे चैत्ये समागतोऽस्ति, तस्य पार्श्वाच्च मया श्राद्धधर्मो गृहीतोऽस्ति, कअतस्त्वमपि तत्र गत्वा स्वामिपार्श्वाद्धर्मं गृहीत्वा निजजन्म सफलं कुरु ? तत् श्रुत्वा सापि हृष्टा सती समवसरणे गत्वा जिनं च वंदित्वैवमवदत्, 'हे स्वामिन् ! ममाग्रेऽपि श्रावकधर्मं कथयत ! यथा तं श्रावकधर्मं प्रतिपद्याहमपि संसारसमुद्रं तरामि.' तदा स्वामिनाऽपि धर्मे प्ररूपिते सति शिवानंदयापि श्रावकधर्मो गृहीतः. ततः सा जिनवरेन्द्रं वन्दित्वा स्वगृहे गता.

ततः श्रीगौतमस्वामी प्रभुं वंदित्वा पृच्छति, 'हे स्वामिन् ! आनंदश्राद्धः किं यतिधर्मं गृहीष्यति न वा ?' तदा श्रीवर्द्धमानः कथयति 'हे गौतम ! स आनंद इह भवे यतिधर्मं न गृहीष्यति.' अथ सा शिवानंदा आनंदश्रापि जिनधर्मं सावधनतया हृष्टमनसा कुरुतः. यतः—

**१ भवसयसहस्सदुलहे, जाइजरामरणसायरुत्तारे । जिणवयणंमि गुणायर, खणमवि मा काहिसि पमायं ॥१॥**

एवं तस्यानंदस्य जिनधर्मं कुर्वतश्चतुर्दश संवत्सरा जाताः,

अथ पंचदशमे वर्षे आनंदो धर्मविषये सावधानः सन्नेवं चिन्तयति, 'एतत्कालावधि मया कुटुंबप्रभुत्वं पालितं, अधुना यदि प्रतिमारुपं धर्मं करोमि तदा वरं. इति ध्यात्वा तेन सर्वमपि निजकुटुंबं भोजितं. अशनपानखादिमस्वादिमवस्त्रपात्रतांबूलादिभिः कुटुंबं संतोषयित्वा स एवमवादीत् ' भो स्वजना यदि यूयं मेऽनुजानिध्वे तदाहं ज्येष्ठपुत्रे गृहभारं संस्थाप्य श्री-

१ भवशतसहस्रदुर्लभे जातिजरामरण सागरोत्तरणे जिनवचने गुणाकर क्षणमपि मा कार्षीः प्रमादं ॥

वीरजिनकथितप्रतिमारुपं धर्मं करोमि.' इति स्वजनानापृच्छ्य ज्येष्ठपुत्रे च गृहभारं संस्थाप्य कुल्लागग्रामे स्वजनगृहे पौषधशालायां गत्वा तां च सम्यक् प्रमार्ज्योच्चारप्रश्रवणभूमिकां च प्रतिलिख्य दर्भसंस्तारकोपर्युपविश्य जिनोक्ताः प्रतिमाः करोति. तथाहि—

[1]दंसण १ वय २ सामाइअ ३। पोसह ४ पडिमा ५ अबंभ ६ सचित्ते ७ ॥ आरंभ ८ पेस ० उद्दिट्ठ-वज्जए १० समणभूए ११ अ ॥ १ ॥

पूअंतो स तिकालं, जिणं आगाररहिअसमत्तो। पालेइ अ संकाइअ-मुक्को सो दंसणपडिमं ॥१॥

उक्तं च—[2]संकाइसल्लविरहिअ-सम्मदंसणजुओ अ जो जंतू ॥ सेसगुणविप्पमुक्को, एसा खलु होइ पढमा उ ॥ २ ॥

पंच य अणुव्वयाइं, अइआरविवज्जिआइं दोमासं। सम्मदंसणजुत्तो, पालइ पडिमाइ बीआए ॥३॥

---

१ दर्शन १ व्रत २ सामायिक ३ पौषध ४ प्रतिमा ५ अब्रह्म ६ सचित्ता ७ आरंभ ८ प्रेष्य ९ उद्दिष्टवर्जकः १० श्रमणभूतश्च. ११ पूजयन् स त्रिकालं जिनं आगाररहितसम्यक्त्वो पालयति च शंकादिरहित स दर्शनप्रतिमां.

२ शङ्कादिशल्यविरहित—सम्यगदर्शनयुक्तश्च यः जन्तुः शेषगुणविमुक्तः एषा खलु भवति प्रथमा प्रतिमा. ॥१॥ पञ्च च अणुव्रतानि अतिचारविवर्जितानि द्वौ मासौ सम्यग्दर्शनयुक्तः पालयति प्रतिमायां द्वितीयायां ॥२॥ तृतीयायां प्रतिमायां प्रतिदिवसं सः करोति सामायिकं द्विसन्ध्यं पूजाविधिसंयुक्तः त्रीन् मासान् यावत् ॥३॥ अष्टमी चतुर्दशी

तईआए पडिमाए, पइदिवसं सो कुणइसामाइअं । दोसंझं पुव्वविहोइ-संजुत्तो तिन्नमासे जा ॥४॥
अट्ठमीचउद्दसीपुणिमाइपव्वेसु पोसहं कुणइ । पडिमाए चउत्थीए, चउमासे पुव्वविहिसहिउ ॥५॥
दंसणमूलदुवालस-वयाइं पालेइ निरइयाराइं । असणाणो दिणभोई, अबद्धकच्छो उसासंतो । ६॥
दिणिबंभयारिरत्तिं, परिमाणकडो अपडिमदिणवज्जं । अट्ठमीचउद्दसी-पुणिमाइपव्वेसु रयणीए ॥७॥
काउसग्गंमि ठिउ, सो झायइ निअमणे जिणे सव्वे । एअं पडिमापडिमं, आराहइ जीव पणमासे॥८॥
छठीए छम्मासे । अबंभं सव्वहा विवज्जेइ ॥ सिंगारकहमयच्छी-संगविभूसाइपरिमुक्को ॥८॥
सचित्तमसणाइअ-माहारं सत्तमासपज्जंतं ॥ पडिमाइसत्तमाए, वज्जइ सो पुव्वविहिजुत्तो ॥९॥
सयमारंभं न कुणइ, कीरइ आजीविअत्थमिअरेहिं ॥ अट्ठमिआए अट्ठउ, मासे पुव्वुत्तवि-

---

पूर्णिमादिपर्वेषु पौषधं करोति प्रतिमायां चतुर्थ्यां चतुर्मासं पूर्वविधिसहितः ॥४॥ दर्शनमूलद्वादशव्रतानि पालयति निरतिचाराणि अस्नानः दिवाभोजी अबद्धकच्छः उच्छ्वसन्॥५॥ दिवा ब्रह्मचारी, रात्रौ परिमाणकृत अप्रतिमादिनवर्जं अष्टमी चतुर्दशी पूर्णिमादिपर्वेषु रजन्यां ॥६॥ कायोत्सर्गे स्थितः स ध्यायति निजमनसि जिनान् सर्वान् एतां प्रतिमाप्रतिमां आराधयति जीवः षण्मासान् ! ॥७॥ षष्ठ्यां षण्मासान् अब्रह्म सर्वथा विवर्जयति शृङ्गारकथामयस्त्री-सङ्गविभूषादिपरिमुक्तः ॥८॥ सचित्तमशनादिकमाहारं सप्तमासपर्यन्तं प्रतिमायां सप्तम्यां वर्जयति स पूर्वविधिसंयुक्तो-॥९॥ स्वयमारम्भं न करोति, कारयति आजीविकार्थं इतरैः अष्टम्यां अष्टमासान् पूर्वोक्तविधिसहितः ॥१०॥ पुत्रादौ

हिसहिओ ॥ १० ॥

पुत्ताइनिहिअनिअगिह–भारो न करेइ णो करावेइ ॥ नवमीइ महारंभे, नवमासे पुव्वविहिजुत्तो ॥११॥
असणाइअ आहारं, उद्दिट्ठं कडं न भुंजए सोवि ॥ छुरमुंडो अहिसिहलि, धरेइ दसमासपज्जंतं ॥१२॥
जं निहिअं धणजायं, पुच्छंताणं कहेइ तं मुत्तुं ॥ सव्वं गिहस्स कज्जं, वज्जइ दसमीइ पडिमाए ॥१३॥
इक्कारसीइ समणु–व्वासो पडिमाइ समणभूआए ॥ कप्पं च चोलपट्टं, मुहवत्तिं धरइ धम्मधयं ॥१४॥
गिह्णेइ गहियपत्तं, फासुअमसणाइयं स सयणेसु ॥ पडिमापडिवन्नस्स य, भिक्खं देहित्ति वयणाओ ॥ १५ ॥
कोसि तुमं इअ पुट्ठो, समणाणमुवासओ इइ भणेइ ॥ पंचसमिउ तिगुत्तो, लोअं भद्दं च कारेइ ॥१६॥

---

निहितनिजगृहभारः न करोति न कारयति नवम्यां महारंभान् नवमासान् पूर्वविधिसंयुक्तः । ११॥ अशनादिकमाहारं उद्दिष्टं कृतं न भुञ्जते सोऽपि, क्षुरमुंडो धारयति दसमासपर्यन्तं ॥१२॥ यन्निहितं धनजातं पृच्छतां कथयति तं मुक्त्वा, सर्वगृहस्थकार्यं वर्जयति दशम्यां प्रतिमायां ॥१३॥ एकादश्यां श्रमणोपासकप्रतिमायां श्रमणभूतायां कल्पं चोलपट्टं मुहपत्तिं धरति धर्मध्वजं ॥१४॥ ग्रहणाति गृहिपात्रं फासुकमशनादिकं स स्वजनेसु, प्रतिमाप्रतिपन्नस्य भिक्षां देहि इति वचनात् ॥१५॥ कोऽसि त्वं इति पृष्टः श्रमणोपासको इति भणति पंचसमितो त्रिगुप्तो लोकं भद्रं च कारयति ॥१६॥ यावत्ते एकादशमासान् करोति स श्रमणाणं सकलमाचारं कनिष्ठानां कृत्यं यद् तदुपरिमायां प्रकरोति ॥१७॥

जाविक्कारसमासे, कुणेइ समणाण सयलमायारं ॥ हिट्ठिल्लाणं किच्चं, जं तमुवरिमाइ पकुणेइ ॥१७॥

इत्येकादशप्रतिमाणां तपः कृत्वा सोऽस्थिचर्मावशेषशरीरो जातः. यथा यथा तस्य शरीरस्य शक्तिस्तपसा हीना जाता, तथा तथा तस्य मनो धर्मेऽधिकं वर्द्धितं. ततोऽसौ निजदेहस्थितिं हीनां ज्ञात्वा संलेखनां कृत्वानशनं गृहूणातिस्म.

एतस्मिन् समये वैराग्यरंगे वर्त्तमानस्य तस्यानंदस्यावधिज्ञानमुत्पन्नं. तेन स पूर्वदिशि पश्चिमदिशि दक्षिणदिशि च ज्ञानेन लवणसमुद्रस्य पंचशतयोजनानि यावत्क्षेत्रं जानाति पश्यति च. उत्तरदिशि लघुहिमवंतं पर्वतं जानाति पश्यति च. अधश्च प्रथमनरकपृथ्व्यां लोलकनामनरकावासं यावज्जानाति पश्यति च. उर्ध्वं सौधर्मदेवलोकं यावज्जानाति पश्यति च.

इतः श्रीवर्द्धमानस्वामिनः साधुपरिवारेणसहितास्तत्र समवसृताः, अर्हंतमागतं श्रुत्वा सकलोऽपि नगरीलोकस्तत्र वंदितुं समाययौ, भगवद्भिर्देशना दत्ता, तां श्रुत्वा सर्वेऽपि लोका निजनिजस्थानके संप्राप्ताः.

अथ प्रशांतचित्तश्चतुर्दशपूर्वधारको बहुविधलब्धिसंयुक्तः षष्टषष्टेन तपसा निरंतरं पारणं कुर्वन् श्रीगौतमस्वाम्यपि प्रभुणा सहैव तत्र समायात आसीत्. ततः स श्रीगौतमस्वामी षष्ठतपसः पारणके प्रथमपौरुष्यां स्वाध्यायं कृत्वा, द्वितीयस्यां ध्यानं ध्यात्वा, तृतीयस्यां च भगवत्पार्श्वे समागत्यादेशं लात्वा प्रासुकाहारार्थं वाणिज्यग्रामे संप्राप्तः, ततश्चाहारं गृहीत्वा पश्चाद्वलमानः कोल्लागसन्निवेशसमीपे गच्छतां लोकानां मुखात् श्रुतं यदानंदश्रावकेणानशनं गृहीतमस्तीति. तत् श्रुत्वा श्रीगौतमस्वामिना चिन्तितमहमपि तत्र गत्वानंदं पश्यामीति ध्यात्वा स पौषधशालायां गतः, आनंदोऽपि भगवंतं श्रीगौतममागच्छन्तं दृष्ट्वातीवहृष्टः, परमशक्तत्वादुत्थितुं न शशाक. तदा स श्रीगौतमस्वामिनं प्रति वदति हे भगवन् ! कृपां विधाय यूयं मम पार्श्वे

समागच्छत ? यथाहं भवत्पादौ शिरसा स्पृशामि. तत् श्रुत्वा गौतमस्वामी तन्निकटे गतस्तेन वंदितो नमस्कृतश्च.

अथानंदो भगवन्तं श्रीगौतमं पृच्छति ' हे भगवन् ! श्राद्धानां किमवधिज्ञानं समुत्पद्यते ? ' श्रीगौतमेनोक्तं भो आनंद ! उत्पद्यते'.

तदानंदेनोक्तं ' तर्हि हे भगवन् ! ममाप्यवधिज्ञानमुत्पन्नमस्ति, तेन चाहं लवणसमुद्रमध्ये त्रिदिक्षु पंचपंचयोजनशतानि-यावत्क्षेत्रं जानामि पश्यामि च. अधोलोके लोलकनरकावासं यावत्पश्यामि, उर्ध्वं च प्रथमदेवलोकं यावत्पश्यामि.'

तत् श्रुत्वा गौतमेनोक्तं 'भो आनंद ! अवधिज्ञानेन गृहस्था एतावन्मात्रं क्षेत्रं न जानन्ति, तेन त्वं मिथ्यादुष्कृतं देहि ?'

तदानंदोऽवादीत् 'हे भगवन् यो जिनवचनमन्यथा प्ररुपयेत्तस्य मिथ्यादुष्कृतं भवेद्वा सत्यप्ररुपकस्य मिथ्यादुष्कृतं स्यात्?'

गौतमेनोक्तं ' भो श्रमणोपासक ! असत्यप्ररुपकस्य मिथ्यादुष्कृतं स्यात्, नेतरस्य.'

तदानंदेनोक्तं 'हे भगवन् ! तर्हि यूयमेव मिथ्यादुष्कृतं यच्छथ ?'

तत् श्रुत्वा श्रीगौतमस्वामी शंकां प्राप्य ततो निवृत्य श्रीमहावीरसमीपे गत्वा वंदित्वा च पृच्छति ' हे सर्वज्ञभगवन् ! आनदस्य वचः सत्यं ? वा मम वचनं सत्यं ?

भगवानुवाच ' भो गौतम ! आनंदस्य वचः सत्यं. '

तत् श्रुत्वा स त्वरितं तत्र गत्वानंदं क्षमयित्वा मिथ्यादुष्कृतं दत्तवान्. ततः श्रीगौतमस्वामी आनंदं निर्यामयित्वा भगवत्पार्श्वं समागतः एवं स आनंदश्रावको विंशतिवर्षाणि यावज्जिनधर्मं पालयित्वा श्राद्धस्यैकादशप्रतिमा विधिना समाराध्य

संलेखनां कृत्वालोचितः प्रतिक्रांतो नवकारं स्मरन् कालं कृत्वा सौधर्मदेवलोकेऽरुणवरविमाने महर्द्धिकश्चतुःपल्यायुर्देवो जातः

अथ श्रीगौतमस्वामी भगवंतं पृच्छति 'हे भगवन्! ततश्च्युत्वा स आनंदः क्व यास्यति?' भगवानाह हे गौतम! स आनंदः प्रथमदेवलोकाच्च्युत्वा महाविदेहे महर्द्धिककुले उत्पद्य दीक्षां गृहीत्वा केवलज्ञानमुत्पाद्य मोक्षं यास्यति.

एवं भो भव्या आनंदस्य चरित्रं श्रुत्वा धर्मे उद्यमं कुरुत?

इति श्रीवर्द्धमानदेशनायां वाचनाचार्यश्रीरत्नलाभगणिशिष्येण राजकीर्त्तिगणिना गद्यबंधेन प्रणीतायामानंदश्रावकप्रतिबोधनामा प्रथमोल्लासः समाप्त ॥श्रीरस्तु॥

॥ प्रथमोल्लासः समाप्तः ॥

## श्री कामदेवश्रावकचरित्रम् ॥

अथ द्वितीयश्राद्धस्य कामदेवस्य चरित्रं प्रारभ्यते—जंबूस्वामी सुधर्मास्वामिनं पृच्छति. ततः श्रीसुधर्मास्वामी जंबूस्वामिनं प्रति कामदेवस्य चरित्रं कथयति—'अस्मिन् भरतक्षेत्रे चंपाभिधा नगरी वर्त्तते, तस्यां च जितशत्रुराजा राज्यं करोति. तत्र चैकं पूर्णभद्राख्यं चैत्यमस्ति. अथ तस्यां चम्पाया नगर्यां कामदेवनामैको गृही वसति, तस्य संपूर्णचंद्रवदना भद्रेत्यभिधा भार्यास्ति. तस्य श्रेष्ठिनः षट्स्वर्णकोट्यो वाणिज्ये, षट्स्वर्णकोट्यो व्याजे, षटस्वर्णकोटयश्च निधाने धरित्र्यां क्षिप्ताः संति. दश धेनूनां सहस्राण्येकस्मिन् गोकुले संति, ईदृशानि षड् गोकुलानि तस्य गृहे वर्त्तंते. अन्योऽपि बहुऋद्धिविस्तारस्तस्य गृहेऽस्ति. एवं मनुष्यसुखान्यनुभवन् स सुखेन कालं गमयति. अथैकदा श्रीवीरजिनेंद्रः पूर्णभद्र चैत्ये समागत्य समवसृतः देवैश्च तस्य महिमा कृतः, अथ तस्य भगवतो वंदनार्थं तत्र बहवो नगरलोका गच्छंति. तान् दृष्ट्वा कामदेवेनैकः पुमान् पृष्टो भो अद्य नगर्यां किमस्ति ? यदेते लोका बहिर्गच्छन्ति.' तदा सोऽवादीत् 'भो श्रेष्ठिन् शृणु ! देवाधिदेवः श्रीवर्द्धमानस्वामी अत्र पूर्णभद्र चैत्ये समयसृतोऽस्ति. तस्य वन्दनार्थमेते लोका गच्छंति.' तत् श्रुत्वा कामदेवोऽपि महद्धर्या तत्र गत्वा प्रभुं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वाग्रे उपविष्टः, जिनोऽपि मधुरवाण्या धर्मदेशनां ददाति. 'भो भव्यलोका यः पुमान् शुद्धश्रद्धया जिनधर्मं करोति स पुमानिह लोके परलोके च रत्नसारवत् सुखी भवति.' तदा श्रीगौतमस्वामी पृच्छति 'हे जिनेंद्र ! कोऽसौ रत्नसारः ? केन प्रकारेण च तेन जिनधर्मः कृतः ? कथं च स सुखी जातः ? तत्कृपां कृत्वा यूयं कथयत ? तदा श्रीभगवानुवाच 'भो गौतम ! त्वं सावधानतया शृणु ?'

रत्नविशालायां नगर्यां समरसिंहाभिधो राजा राज्यं करोति, तत्र नगरे वसुसारनामा च श्रेष्ठी वसति, तस्य च रत्नसाराभिधः पुत्रोऽस्ति. अन्यदा स रत्नसारो मित्रैः सह वनमध्ये गतः, तत्र विनयंधरनामानमाचार्यं दृष्ट्वा त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वोपविश्य हस्तौ संयोज्य सूरिं पृच्छति, 'हे भगवन्! मनुष्यैः सुखं कथं प्राप्यते? गुरुणोक्तं 'भो भद्र! इह लोके परलोके च सन्तोषाज्जीवैः सुखं प्राप्यते स च संतोषो द्विविधः प्रज्ञप्तः, देशात् सर्वतश्च, गृहस्थानां देशतो मुनीनां च सर्वतः संतोषो भवति. श्राद्धानां परिग्रहपरिमाणेन देशतः संतोषः कथितः, यदुक्तं—

**असंतोषवतः सौख्यं, न शक्रस्य न चक्रिणः। जंतोः संतोषभाजो यो, भव्यस्येह हि जायते ॥१॥**

तेन गृहस्थेन धनादीनां प्रमाणं विधेयं. तत् श्रुत्वा रत्नसारः सम्यक्त्वसहितं परिग्रहस्य परिमाणमकरोत्, तद्यथा—'हे भगवन्नेकलक्षरत्नानि मम मुत्कलानि, दशलक्षाः कांचनस्य मे मुत्कलाः, अष्टौ मूढकानि प्रत्येकं मुक्ताफलानां विद्रुमाणां च मे मुत्कलानि. तथा वृद्धनाणकानामष्टौ कोट्यो मे मुत्कलाः. षड् गोकुलानि. मुत्कलानि एकस्मिन् गोकुले च दश सहस्राणि धेनूनां ज्ञेयानि. पञ्चशतगृहाणि मे मुत्कलानि, शतवाहनानि मुत्कलानि, तुरगाणां सहस्रं, गजवराणां च शतं मे मुत्कलं, राज्यं च न गृह्णामि,'

एवं पंचातीचारैर्विशुद्धं पंचमाणुव्रतं तेन गृहीतं. ततोऽसावाचार्यं वंदित्वा गृहे समागत्य भव्यरीत्या श्राद्धधर्मं पालयामास.

अथान्यदा स मित्रैः परिवृतो वनमध्ये समागतः, इतस्ततः परिभ्रमन् स तत्रैकं किन्नरमिथुनमपश्यत्. हयमुखं मनुष्यशरीरमदृष्टपूर्वमश्रुतपूर्वं तद् दृष्ट्वा विस्मितोऽसौ हसित्वावदत्. यद्येतौ मनुष्यौ तर्हि तयोर्घोटकमुखं कथं? तत एतौ मनुष्यौ न

देवावपि न, किंतु द्वीपांतरप्रभवौ तिर्यंचावेव स्तः, अथवा कस्यचिद्देवस्य वाहने वर्तेते. तत् श्रुत्वा किन्नराऽवादीत् ' भो रत्नसार ! त्वं कुविचारैर्मा मुधा किं विडंबयसि ? मां स्वेच्छाचारिणं विलासवंतं व्यंतरं जानीहि ? किंच भो रत्नसार ! त्वमेव तिर्यग्तुल्योऽसि, यतः पित्रा त्वं वञ्चितोऽसि.'

तदा रत्नसारेणोक्तं 'हे किन्नर ! कथमहं पित्रा वंचितः ?' देवोऽवादीत् 'भो रत्नसार शृणु ? तव पित्रा द्वीपांतरादेकोऽश्वः प्राप्तोऽस्ति, सचाश्वो नीलच्छविः कृशो लघुकर्णोऽतिचपलः स्थूलस्कन्धो निजस्वामिनश्च जयकारी वर्त्तते. यदुक्तं—

**निर्मांसं मुखमंडले परिमितं मध्ये लघुं कर्णयोः । स्कंधे बंधुरमप्रमाणमुरसि स्निग्धं च रोमोद्गमे ॥**
**पीनं पश्चिमपार्श्वयोः पृथुतरं पृष्टे प्रधानं जवे । राजा वाजिनमारुरोह सकलैर्युक्तं प्रशस्तैर्गुणैः ॥१॥**

तदश्वारुढो जनो वायुवत् शतयोजनानि गच्छति, सप्तदिनमध्ये च पृथिव्यां भ्रमित्वा स पुनर्गृहे समागच्छति. इदृशोऽश्वस्तव पित्रा गृहमध्ये एकांते स्थापितोऽस्ति. रे मूढ ! तदश्वस्वरुपज्ञानवंचितस्त्वं कूटविकल्पैर्मुधा मां दूषयसि. ततस्त्वं यद्येनमश्वं प्राप्स्यसि तदैवाहं तव धीरत्वं वीरत्वं च ज्ञास्ये.' इत्युक्त्वा स किन्नरो गगने गतः,

अथ तत् श्रुत्वा दूनो रत्नसारो गृहे समागत्य चिन्तयामास नूनमहं पित्रा वंचितो यदीदृगश्वो गृहे स्थितोऽपि तेन मे न दर्शितः, इति ध्यात्वासौ गृहमध्ये प्रविश्य कपाटं दत्त्वा त्रुटितमंचकोपर्युपविष्टः. तदा जनकेनागत्य स संभाषितो ' हे पुत्र ! त्वं कपाटं पिधाय कथं त्रुटितमंचके सुप्तोऽसि ? या काचिद्व्याधिराधिर्वा तव भवेत्तां कथय, यथा तत्प्रतिक्रियां करोमि, यतः कथितं विना परैर्न ज्ञायते.' पितुरेतद्वचनेन संतुष्टोऽसौ कपाटमुद्घाट्य बहिर्निर्गत्य यथास्थमात्मीयभावं तमग्रे कथयामास.

तदा पित्रोक्तं ' हे वत्स ! शृणु ? यदेतदश्वारुढो मे पुत्रो नित्यं पृथ्व्यां भ्रममाणो वियोगदुःखं दास्यति. तेन हेतुना मयायमश्वो गोपितस्तव च न दर्शितः. अथाधुना तमश्वमहं ते समर्पयामि, ततो हे वत्स ! त्वं यथोचितं कुरु ?'

इत्युक्त्वा श्रेष्ठिना रत्नसाराय स तुरगः समर्पितः, तत्प्राप्त्यातीवहृष्टो रत्नसारस्तत्पृष्टे समारुह्य मित्रैः सह पुराद्बहिर्निर्गतः, इतस्ततश्च परिभ्रमन् स वेगेन गंतुं लग्नः.

इतः पंजरस्थः शुको वसुसारश्रेष्ठिनमवादीत् ' हे तात ! कुमारस्तुरगारुढो द्रुतं द्रुतं याति, ततो यदि तवादेशो भवेत्तदा कुमारस्य शुद्धयर्थमहं तत्पृष्ठे यामि, दैवयोगाद्विषमस्थानगतकुमारस्य च सहायीभविष्यामीति' शुकवचनं श्रुत्वा श्रेष्ठी मुदितः सन्नवादीत् 'भो शुक ! त्वया ममाग्रे साधूक्तं, अथ हे स्वच्छमते ! त्वं शीघ्रं गत्वा कुमारस्य सखा भव ?' तत् श्रुत्वा स शुकोऽपि निजात्मानं कृतार्थं मन्यमानः पंजरान्निःसृत्य वेगेन कुमारस्य मिलितः, कुमारेणापि स निजलघुभ्रातृवदुत्संगे स्थापितः, तस्य मित्राणि च सर्वाण्यपि पश्चाद्वलित्वा गृहे समागतानि.

अथ कुमारोऽश्वारुढः शुकयुतोऽटव्यां गंतुं लग्नः, इत एकस्मिन् स्थाने स एकं तापसकुमारं देवकुमारवद्दोलारुढं दोलायमानमपश्यत्. तं दृष्ट्वा स निजबांधवमिव स्निग्धलोचनाभ्यामेनं विलोकयामास, तदा स तापसकुमारोऽपि तं रत्नसारं कंदर्पाकारं दृष्ट्वातीवस्नेहेन चिन्तयति 'कोऽसौ मम प्राघूर्णकः समागतोऽस्ति ?' इति ध्यात्वा स दोलातः समुत्तीर्य तत्समीपे समागत्य तं प्रति वदति. 'हे सत्पुरुष ! को युष्माकं देशः ? किं नगरं ? किं कुलं ? का जातिः ? को जनकः ? का जननी ? के स्वजनाः ? किं नाम ? केन हेतुना च त्वमत्र परिवाररहितः समागतोऽसि ? किं च समीहसे ? अद्य त्वं मे प्राघूर्णकोऽसि.

अतोऽश्वादुत्तीर्य मे वचनानामुत्तराणि देहि ?' तत् श्रुत्वा हृष्टः कुमारोऽश्वादुत्तीर्य यावत्तत्प्रश्नानामुत्तराणि न ददाति, तावत्स वाचालः शुकोऽवादीत्, 'भो तापसकुमार ! कुलादिपृच्छायास्तव किं प्रयोजनं ? न ह्यस्माभिस्त्वया सह विवाहकार्यमारब्धमस्ति. अतस्त्वं प्राघूर्णकोचितं कृत्यं कुरु ? यतोऽतिथिः सर्वमुनीनामपि पूज्यः. उक्तं च—

**गुरुरग्निर्द्विजातीनां, वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः । पतिरेव गुरुः स्त्रीणां, सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥१॥**

एवं भो तापसकुमार ! यदि तव कुमारोपरि स्नेहो वर्त्तते, तदास्य प्राघूर्णकोचितमेव कार्यं कुरु ?' एवं शुकवचनानि श्रुत्वा स तापसकुमारोऽतीवहृष्टः सन् शुकस्य कंठे पुष्पमालां प्रक्षिप्य कथयामास, 'भो भो कुमार नूनं त्वं श्लाघ्यो धन्यश्चासि, यस्येदृशः शुकः सखा वर्त्तते. अथ भो कुमार ! त्वं मम प्राघूर्णको भव ? अहं तु तापसोऽस्मि. ततो भवतो मया कीदृशी भक्तिः क्रियते ? तथापि निजशक्त्याहं भवतो भक्तिं करिष्यामि.'

इत्युक्त्वा स रत्नसारं वनखंडे समानीय तस्य वृक्षफलादीनां नामानि श्रावयामास. ततस्तटाके स्नानकरणानंतरं तापसकुमारेण तस्मै पक्वानि सुधासदृशानि द्राक्षाम्रनालिकेरकदलिफनसखर्जूरराजादननारंगदाडिमजंबूजंबीरादिफलानि ढौकितानि. रत्नसारेणापि शुकेन सह तानि भक्षितानि. ततस्तेन तापसेन तस्मै एलालवंगजातिफलकर्पूरादियुतानि नागवल्लीपत्राणि मुखशुद्धये दत्तानि अथोचितानि ग्रासधान्यादिवस्तून्यप्यश्वाय दत्तानि. एवं स तत्र सुखेन तस्थौ.

अथ कुमारसंज्ञितः शुकस्तापसकुमारं प्रत्यपृच्छत् ' भो मित्र ! नवयौवनारंभेऽपि त्वयैतद्व्रतं कथं गृहीतं ? क्वैतत्ते रूपं कोमलं शरीरं च ? क्व चैतद्दुष्करं व्रतं ? पुनर्हे महाभाग ! तव चातुर्यं सौजन्यं चास्मिन्महारण्ये मालतीपुष्पवत्सर्वं निष्फलं

भवति. एतत्तव शरीरं दिव्यवस्त्राभरणैरलंकृतमेव शोभते, एतत्कर्कशकठिनवल्कलस्पर्शं त्वं कथं सहसे ? एषस्तव कज्जलोऽरिष्टरत्नवर्णसदृशः केशपाशोऽतिकोमलो जटाबंधेन न शोभते, एतत्तव लावण्यं नवयौवनं च नवनवभोगैरेव शोभते, अतस्त्वया वैराग्यादैववशाद्वा महादुःखात् किं तापसीवृत्तिर्गृहीता ?'

तत् श्रुत्वा स तापसकुमारोऽश्रुपूर्णलोचनो गद्गदस्वरेणोवाच 'भो कुमारशुकराजौ भवतोस्तुल्यः कोऽपि सज्जनः पृथिव्यां नास्ति, यतो मां दृष्ट्वा युवयोः करुणोत्पन्ना. किंचात्मीयदुःखेन सर्वेऽपि दुःखिताः संति, परं परदुःखेन दुःखिता विरला एव. यदुक्तं—

**शूराः संति सहस्रशः प्रतिपदं विद्याविदोऽनेकशः, संति श्रीपतयोऽप्यपास्तधनदास्तेऽपि क्षितौ भूरिशः ॥**
**किंत्वाकर्ण्य निरीक्ष्य चान्यमनुजं दुःखार्दितं यन्मन—स्तादृप्यं प्रतिपद्यते जगति ते सत्पूरुषाः पंचषाः ॥१॥**

अतो भो कुमार ! अवसरेऽहं सकलं निजचरित्रं यथाभूतं तवाग्रे कथयिष्यामि, यतो विश्वासप्राप्तानां सत्पुरुषाणां किमप्यकथनीयं नास्ति.' इतस्तत्र धूलिधोरणिमुच्छालयन् सर्वदिशोंधकारमयीः कुर्वन् घोरगर्जनं कुर्वन् झंझावातः प्रादुर्भूय तं तापसकुमारं हृत्वाग्रे धावितः, तदा स तापसकुमारः पूत्कारं कर्तुं लग्नः, भो सज्जनरत्नसारकुमार ! मां रक्ष रक्ष ? तत् श्रुत्वा कृपार्द्रमानसः कुमारोऽपि तत्पृष्टे धावित्वा कथयामास 'रे दुष्टवात ! त्वं मे प्राणप्रियं मित्रं हृत्वा क्व यास्यसि ?' इति ब्रुवतो द्रुतं द्रुतमग्रे धावमानस्य कुमारस्य कियद्दूरं गतस्य शुकोऽवादीत् 'भो रत्नसार ! इयता कालेन स तापसकुमारस्तु दुष्टवायुना लक्षयोजनानि यावद्दूरं नीतो भवेत्, ततस्त्वं पश्चान्निवर्त्तस्व ? तत् श्रुत्वा तीव्रदुःखितो रत्नसारो विविधविलापान् कुर्वन् पश्चाद्वलितः.

अथ विस्मितः शुको रत्नसारं प्रत्यवादीत् 'भो कुमार ! नूनमेष तापसकुमारः पुरुषो नास्ति, परं स्त्री वर्त्तते, केनापि देवेन दानवेन विद्याधरेण वा निजविद्यादिशक्त्या सैषा पुरुषीकृत्यैवं विडंम्ब्यते, तस्या मुखाकारेण गत्या च तां कन्यामेव त्वं जानीहि ? यदि चैषा एतस्माद्दुष्टसत्त्वान्मुक्ता भविष्यति तदा निश्चयेन त्वां वरिष्यति.

अथ तौ तं तापसकुमारमिष्टदेववत्स्मरंतौ शीघ्रप्रयाणेनाग्रे चलंतौ नानावृक्षमंडितमेकं वनखंडं ददर्शतुः. तत्र रत्नसारेणैकमुत्तुंगतोरणध्वजैरलंकृतं श्रीआदिनाथचैत्यं दृष्टं, ततो हृष्टोऽसावश्वादुत्तीर्य शुकयुतः पुष्पफलादि गृहीत्वा जिनमंदिरे समागत्य विधिना जिनवरं पूजयामास. ततोऽसौ प्रभुस्तवनामकरोत्, तद्यथा—

**१सिरिनाभिणामकुलगर-कुलकमलुल्लासणेगदिवसकर ॥ भवदुहलक्खविहंडण । जयमंडण णाह तुज्झ णमो ॥ १ ॥**

एवं जिनवरं स्तुत्वा चैत्यशोभां सर्वतः पश्यन्नेकस्मिन् गवाक्षे उपविष्टोऽसौ शुकं प्रति भणति, 'भो शुकराज ! अद्यपि तस्य तापसस्य शुद्धिः क्वापि न प्राप्ता.' शुकोऽवादीत् 'भो कुमार ! त्वं खेदं मा कुरु ? अद्यैव ते तस्य संगमो भविष्यति.'

इत एका कन्या देवांगनेव शिखंडिस्थिता तत्रागत्य चंदनपुष्पादिभिर्जिनेंद्रं पूजयित्वा जिनाग्रे नृत्यमकरोत्. तद् दृष्ट्वा कुमारशुकौ चित्ते चमत्कृतौ, सा कन्यापि कुमारस्य मनोहरं रुपं दृष्ट्वातीवविस्मिता. अथ कुमारेण तस्यै प्रोक्तं 'हे बाले ! त्वं कासि ? तव सर्वं वृत्तांतं श्रोतुमहमिच्छामि.' तदा सा कन्यावादीत् 'भो कुमार ! त्वं शृणु ? कनकपुरीत्यभिधैका नगरी वर्त्तते,

१ श्री नाभिकुलकर कुलकमलोल्लासनैकदिवसकरः भवदुःखलक्षविभेदक जगमंडन नाथ ! तुभ्यं नमः ॥

तस्यां च कनकध्वजाख्यो राजा राज्यं करोति. तस्य कुसुमश्रीनाम्नी राज्ञी वर्त्तते. अथान्यदा सा राज्ञी रात्रौ सुखसुप्ता स्वप्ने द्वे पुष्पमाले स्वोत्संगे समागते दृष्ट्वा जागरिता सती राज्ञः समीपे समागत्य निजस्वप्नं कथयामास. राज्ञापि विचिन्त्य तस्यै कथितं 'हे भद्रे! एतत्स्वप्नप्रभावेण कन्यायुगलं ते भविष्यति. तत् श्रुत्वा राज्ञी हृष्टा सती गर्भं धारयामास. पूर्णे च गर्भकाले राज्ञ्या कन्यायुगलं जनितं, क्रमेण च तयोरशोकमंजरीतिलकमंजरीति च नामनी दत्ते. पंचधात्रीभिर्लाल्यमाने च क्रमेण वृद्धिं प्राप्ते ते स्तोकदिनैरेव सर्वासु कलासु निपुणे याते.

क्रमेण च यौवनं प्राप्य रूपसौभाग्यलवणिमादिगुणोपेते ते त्रिभुवनजनमनांसि क्षोभयामासतुः. अथ तत्परस्परं परमस्नेहयुक्तं युगलमेकमेकं विना क्षणमपि स्थातुं न शक्नोति, यतः—

**[1]सह जग्गिराण सह सोयराण, सह हरिससोअवंताणं। नयणाणं धन्नाणं, आजम्ममकित्तिमं पिम्मं ॥१॥**

अथैकदा राजा स्वमनसि चिन्तयति यदेतयोर्मम पुत्र्योरेक एव वरो यदि भवेत्तदा भव्यं, पृथक्पृथग्वरकरणेनैते विरहान्नूनं मरिष्यतः, अथैनयोस्तुल्यगुणोपेतः को वरो भविष्यतीति राजा चिन्तातुरो बभूव. यतः—

**जातेति पूर्वं महतीति चिंता। कस्य प्रदेयेति ततः प्रवृद्धा ॥**
**दत्ता सुखं स्थास्यति वा न वेति। कन्यापितृत्वं किल हंत कष्टं ॥१॥**

अथान्यदा वसंतसमये ते द्वे अपि भगिन्यौ क्रीडार्थं वनमध्ये गते, वृक्षशाखायां रज्जुं बध्वा तत्रोपविष्टामशोकमंजरीं

१ सह जागृतानां सह सुप्तानां, सह हर्षशोकवताम् नयनानां धन्यानां आजन्माकृत्रिमं प्रेम ॥

तिलकमंजर्यादोलयति. तत्र मिलितो नगरजनोऽपि नानाकौतुकानि पश्यति.

इतश्च केनापि विद्याधरेण साशोकमंजरी हृता, तदा सा पूत्कर्तुं लग्ना ' भो भो लोका मां गृहीत्वासौ दुष्टो याति, ततो धावत धावत ?' तत् श्रुत्वा पार्श्वस्थिताः सुभटा धाविताः, परं तेषां पश्यतामेव स तां हृत्वा क्वापि गतः. क्रमेण राजा कन्याहरणं श्रुत्वातीवदुःखितो विलापं कृतवान्, 'हा वत्से त्वं क्व गतासि ? तव किं जातं ? अथाहं किं करोमि ?, तिलकमंजर्यपि मूर्च्छां प्राप्य धरित्र्यां पतिता, शीतलजलैश्चंदनैश्च सिक्ता सती सचेतनीभूय सा विलपितुं लग्ना, ' हे भगिनि ! त्वां विना मे प्राणाः कथं स्थास्यंति ?' इति विलपंत्यां तस्यां संध्यासमये सर्वेऽपि लोका निजनिजगृहे समाजग्मुः. राजा राज्ञी तिलकमंजरी चापि बहुदुःखमनुभूय प्रांते सुप्ताः.

अथ तिलकमंजरी पाश्चात्यरजन्यामुत्थाय चक्रेश्वरी देव्याश्चैत्ये गता, तत्र देवीं भक्त्या पूजयित्वैवं विज्ञपयामास ' हे देवि ! मम भगिन्याः शुद्धिं त्वरितं देहि ? अन्यथा मयेह भवे भोजनं त्यक्तं.' तत् श्रुत्वा सा देवी तद्भक्तितुष्टा सती प्रत्यक्षीभूय तां कथयामास, ' हे भद्रे ! तव भगिन्या भद्रं वर्त्तते, त्वं खेदं मा कुरु ? भोजनं च कुरु ? मासेन त्वं निजभगिन्याः शुद्धिं लप्स्यसे, , तदा च तव दैवयोगेन तस्याः संगमोऽपि भविष्यति.' तत् श्रुत्वा तिलकमंजर्या पुनः पृष्टं ' हे मातर्मे भगिनीसंगमः कथं कुत्र च भविष्यति ?' तयोक्तं ' हे बाले ! अस्या नगर्याः पश्चिमदिश्यतिदूरे एकाटवी वर्त्तते, तस्यां च मणिरत्ननिष्पन्नमेकं श्रीआदिनाथस्य चैत्यमस्ति, तत्र स्वर्णरत्नमयी च जिनप्रतिमा विद्यते, तदतिशययुतप्रतिमायाः पूजनविधौ त्वं तत्परा भव ? तत्र नूनं तव भगिन्या मेलापको भविष्यति. एकश्च मे सेवको मयूररूपं विधाय त्वां तत्र नेष्यति.'

इत आकाशादेको मयूरोऽपि तत्रागतः, अथ भो कुमार ! एवं देवीप्रसादादहमस्मिन्मयूरे समारुह्य प्रत्यहमत्र देवपूजार्थमागच्छामि. एवं निरंतरं कुर्वन्त्या मेऽद्यैको मासः संपूर्णीभूतोऽस्ति, परं मे भगिन्याः शुद्धिर्मया क्वापि न लब्धा. पुनर्हे महाभाग ! युष्माभिर्देशांतरे भ्रमणं क्रियते ततश्चेन्मत्तुल्यरुपा क्वापि चेन्मम भगिनी दृष्टा भवेत्तदा कृपां विधाय कथयत ?"

कुमारेणोक्तं ' भो सुंदरि ! विदेशे भ्रमता मया त्वत्तुल्यरुपा कन्या तु क्वापि न दृष्टास्ति, परमेकस्यामटव्यामतिदिव्यकांतियुतस्त्वत्तुल्यवयोरुपधारी तापसकुमार एको मया दृष्टोऽस्ति.' इतः शुकेनोक्तं ' भो सुंदरि ! नूनमद्य ते भगिनी मिलिष्यति.'

तत् श्रुत्वा हृष्टया तयोक्तं ' भो शुक ! चेदद्य मे सा मिलिष्यति, तदा त्वामप्यहं पूजयिष्यामि.' एवं तेषु परस्परं वार्तालापं कुर्वत्स्वेव कापि भयविह्वला कंपमानांगी हंसी गगनादागत्य कुमारोत्संगे समुपविश्य तन्मुखं पश्यन्ती मनुष्यभाषयोवाच. ' भो सत्पुरुष ! भो वीर ! भो शरणागतवत्सल ! भो करुणासागर ! दीनां हीनां च मां त्वं रक्ष रक्ष ? अहं तव शरणे समागतास्मि.' कुमारोऽपि दयया कराभ्यां तच्छरीरं स्पृशन्नवादीत्, ' भो मराले त्वं मा भैषीः ? मनुष्येंद्रः खेचरेंद्रः सुरेंद्रोऽसुरेंद्रो वापि मदुत्संगस्थितां त्वां लातुं कोऽपि न शक्तोऽस्ति.' ततः कुमारेण तस्याः शीतलजलं पाययित्वा सा निर्भयीकृता. ततः कुमारेण तस्यै पृष्टं ' हे मराले ! कासि त्वं ? कुतश्चात्रागता ? मनुष्यभाषया च कथं जल्पसि ? कस्माच्च तव भयं वर्त्तते ?' इति पृष्टा सा मराली यावदात्मीयवृत्तांतं कथयितुमुद्यता जाता, तावत्कलकलशब्दं कुर्वाणा सुभटानां श्रेणिराकाशादुत्तीर्णा. तदा शंकमानः शुकश्चैत्यद्वारे समागत्य स्थितः सन् तीर्थप्रभावात्कुमारभाग्याद्वा प्रचंडवाचालीभूय भाले भ्रुकुटीं

विधायावादीत्, ' रे सुभटा यूयं कुत्र धावथ ? अग्रे सुरासुरैरप्यगंजनीयं श्रीरत्नसारकुमारं किं न पश्यथ ? अस्मिन् कुमारे तु क्रुद्धे सति युष्माकं भूमिरपि दुर्लंघनीया भविष्यति.'

इति शुकवचनं श्रुत्वा सभयविस्मितैस्तैश्चिन्तितं ' नूनमेषः कोऽपि देवो वा दानवोऽस्ति, अन्यथास्माकं विद्याधराणामपि स कथं हक्कां कुर्यात् ? किं च यस्य कुमारस्यायं शुकोऽपि यद्यस्मत्तुल्यानां विद्याधराणामपि क्षोभयति, तर्हि को जानाति कीदृशः कुमारोऽग्रे स्थितोऽस्ति ? अतोऽज्ञातस्वरूपं युद्धं कः कुर्यात् ?' इति ध्यात्वा ते सुभटाः पश्चाद्वलित्वा तत्स्वरूपं निजस्वामिने कथयामासुः.

तत् श्रुत्वा स विद्याधरस्वामी मेघद्गर्वर्जन् हस्तावुल्लालयन् भाले भ्रुकुटिं विधाय सिंहनादं कुर्वन्नवादीत्, ' भो भो रंका भवतां धिगस्तु ? मुधा भयं कथमकार्षुः ? कोऽसौ कीरः कुमारो वा ? ममाग्रे सुरोऽसुरो वा कोऽपि स्थातुं न शक्नोति. पश्यताधुनैव मम पराक्रमं ?' इत्युक्त्वा स दशमुखी चतुर्भुजी च संभूय एकेन करेण खड्गं, द्वितीयेन खेटकं, तृतीयेन गदां, चतुर्थेन च धनुषं जग्राह. एवं निजं विकरालरूपं विधाय सिंहवद्गर्जन् द्रुतमागच्छन् स विद्याधरः शुकेन दृष्टः, तदा स शुकोऽपि भीतः सन् कुमारस्य शरणे गतः. ततोऽसौ खेचरः कुमारसमीपे समागत्य तं तर्जयामास, ' रे रे रंक ! त्वं दूरे व्रज ? अन्यथा मरिष्यसि, मम जीवितसर्वस्वरूपेमा हंसी त्वयोत्संगे कथं स्थापितास्ति ? चेत्तव जीवनाशा तर्हि द्रुतं तां मे समर्प्य त्वं दूरे याहि ? अन्यथा खड्गेनानेन तव मस्तकं छेत्स्यामि.' तत् श्रुत्वा शुककन्यामयूरमराल्यश्च कंपिताः स्थिताः.

अथ कुमारो हसन्नाह ' रे मूढ ! त्वं मुधा बालमिव मां किं भापयसि ? अहं तव वचनप्रहारतो न बिभेमि शरणा-

गतां चेमां मरालीं तव सर्वथाहं न दास्यामि. यतः करालफणिफणातो मणिं गृहीतुं को वांछेत ? अतस्त्वमितो दूरेऽपसर ? अन्यथा तव दशमस्तकैर्दशदिग्भ्यो बलिं दास्ये.'

इतश्च स देवो निजमयूररूपं विहाय देवरूपं कृत्वा विविधानि शस्त्राणि विकुर्व्य कुमारं प्रत्यवादीत्, 'भो कुमार ! त्वं स्वेच्छया निःशंकमनेन सह युद्धं कुरु ? अहं तव सहायिभूत शस्त्राणि पूरयन् तव शत्रुं चूरयिष्यामि,' तत् श्रुत्वा तस्य कुमारस्य द्विगुणोत्साहः संजातः, ततोऽसौ तां मरालीं तिलकमंजर्याः समर्प्य स्वयं चाश्वे समारुह्य देवदत्तं दिव्यधनुषं करे विधाय तस्य टंकारं कृतवान्.

तत् श्रुत्वा सर्वेऽपि विद्याधरसुभटाश्चमत्कृताः संतस्तस्योपरि जलधारामिव शरधोरणिं वर्षयामासुः, परं देवप्रभावेण तस्य रोमापि न पीडितं. कुमारोऽपि तेषामुपरि शस्त्रवृष्टिं चकार, तदा सर्वेऽपि विद्याधरसुभटाः कातरीभूय ततः पलायिताः, तद् दृष्ट्वा स दुरात्मा दशमुखः स्वयं कुमारेण सह युद्धं कर्त्तुं लग्नः, विद्याप्रभावाच्च स सहस्रभुजीभूय तेन सार्द्धमयुद्धयत, कुमारेण क्षुरप्राख्यबाणं गृहीत्वा तस्य सर्वाणि शस्त्राणि छेदितानि, ततो हृदि विद्धः खेचरो निर्गतरुधिरो मूर्च्छया धरित्र्यां पपात. पुनरपि लब्धचैतन्य उत्थाय बहुरूपाणि विकुर्व्य युद्धाय धावितः, परं तैरनेकै रूपैरपि कुमारो न भीतः, यतो धीराः कल्पांन्तेऽपि कातरा न भवंति.

अथ स खेचराधीशो निजानेकरूपैः कुमारं प्रति शस्त्रप्रहारं कर्त्तुं लग्नः, तदा स देवः कुमारं मनाक् संकटे पतितं विज्ञाय स्वयं मुद्गरं समुत्पाट्य खेचरं हंतुं धावितः, तं दृष्ट्वा खेचरेन्द्रोऽपि क्षुब्धः, अथ क्रुद्धेन सुरेण स मुद्गरप्रहारेण हृदि हतो

वज्राहतः पर्वत इव भूमौ पपात. तदैव तस्य बहुरूपिणीप्रभृतयः सर्वा अपि विद्या नष्टाः, तत्स्वरूपं दृष्ट्वा स विद्याधर उत्थाय जीवितमादाय ततो नष्टः, तं पलायितं विलोक्य सर्वे तस्य सुभटा अपि ततः पलायिताः,

एवं धर्ममाहात्म्येन कुमारेण स विद्याधरो जितः.

अथ स कुमारः सुरेण सह चैत्यमध्ये समायातः, कुमारस्याद्भुतं चरित्रं दृष्ट्वा हर्षेण पुलकिता तिलकमंजरी चिन्तयामास नूनमेष युवा कोऽपि पुरुषरत्नं वर्त्तते, ततो यद्येष मे भर्त्ता भवेत्तथैव मे भगिन्या अपि चेन्मिलनं भवेत्तदाहं मे महत्पुण्यं मन्ये. ततः कुमारेण सा मराली तिलकमंजरीपार्श्वाद् गृहीता.

अथ कुमारस्तां प्रत्यवादीत् 'भो हंसि! त्वं कासि ? खेचरेण च कथं हृता ? सर्वं तव वृत्तान्तं ममाग्रे कथय' हंस्योक्तं 'हे स्वामिन् यथाभूतं मम चरित्रं शृणु ?'

"वैताढ्यपर्वते रथनूपुराभिधं नगरं वर्त्तते, तत्र मदनाभिधः खेचरेशो राज्यं करोति. सोऽन्यदा कनकपुरीवनोपरितो गच्छन् दोलायमानामशोकमंजर्यभिधां राजकन्यां ददर्श. तां महारूपपात्रं दृष्ट्वा कामातुरः सन् द्रुतं जहार. ततो अतिकरुणस्वरं रुदंतीं तां बालां स विद्याधरोवादीत् 'हे सुंदरि! त्वं कथं विलापं करोषि ? अहं चौरो नास्मि, तव च किंचिदपि दुःखं नैव दास्ये. अहं सर्वदा तव किंकरीभूय स्थाष्यामि, सर्वखेचरीणां मध्ये त्वां स्वामिनीं विधायाहं परिणेष्यामि.'

तत् श्रुत्वाशोकमंजर्या चिन्तितं धिग् धिग् कामांधाना पुरुषाणां, कामाग्निना दग्धो जनो निर्विवेकीभूय निजजातिकुलादि किमपि न गणयति. इत्यादि चिंतयन्त्या तया यावत्प्रत्युत्तरं न दत्तं, तावत्तेन दुष्टेन विद्याधरेण चिन्तितं नूनमेषा-

धुना निजमातृपितृविरहबाधिता ज्ञायते, ततः पश्चात्सर्वं मे कथितं करिष्यतीति ध्यात्वा तेन निजविद्याबलेन सा तापसकुमाररूपा कृता. ततोऽसौ तं तापसकुमारं सत्कारपूर्वकं प्रियवचनैः सर्वदा संतोषयामास. परं तत्सर्वमुषरक्षेत्रे धान्यारोप इव निष्फलं जातं. तथापि स विद्याधरो न तस्या विरतोऽभवत्. यतः कामान्धानां कदाग्रहो दुर्लंघ्योऽस्ति.

अथान्यदा स विद्याधरः केनापि कार्येण मां तत्रैव मुक्त्वा निजपुरे गतः, इतस्तत्रागतस्य भवतो यावदहं निजचरित्रं कथयितुमुद्यताभवं तावत्स दुष्टस्तत्रागत्य झंझावातं विकुर्व्य मां निजपुरे नीतवान्. तत्र मणिस्वर्णमंडितदिव्यमंदिरे मां स्थापयित्वा भोगविलासाय प्रार्थयामास. तथापि मया यदोत्तरं न दत्तं, तदा स कुपितः सन्नुवाच, 'यदि त्वं मम कथनं न करिष्यसि तदानेन खड्गेनाहं त्वां हनिष्यामी' त्युक्त्वा तेन कोषात् खड्गो निष्कासितः, परं मया धैर्यमवलंब्योक्तं ' भो सत्पुरुष ! छलेन बलेन वा राज्यादिकमेव गृह्यते, संबंधस्तु स्नेहेनैव भवति. ततः परस्नेहं विना यो मूढो निजहठान्न न निवर्त्तते तस्मादपरो जगति को मूर्खोऽस्ति ?' तत् श्रुत्वातीवकुपितो विद्याधरोऽवादीत् ' रे दुष्टे ! त्वं मामपि निन्दसि, ततस्त्वां हनिष्याम्येव.' मयोक्तं ' रे दुष्ट ! अस्मादनिष्टसंबंधान्मरणमेव वरं, अतो द्रुतं मां मारय ? मा विचारय ?'

अथ तस्याः पुण्येन स विद्याधरो मनसि चिन्तयितुं लग्नो ' धिग् धिग् मयैतत्किमारब्धं ? प्रेमभरः सरलवृत्त्यैवोत्पद्यते, न तु हठात्.' इति ध्यात्वा खड्गं कोषे क्षिप्त्वा, मां च विद्यया मरालीं विधाय स्वर्णपंजरे क्षिप्त्वा नित्यं मिष्टवचनैः संतोषयामास.

अथैकदाहं मरालीरुपेण पंजरस्था तस्य कमलाभिधभार्यया दृष्टा. शंकितया तया निजविद्यायै मम वृत्तान्तः पृष्टः, तदा तया विद्ययापि सर्वो मे वृत्तांतस्तस्या अग्रे निरुपितः. स्वसपत्नीभावं विज्ञाय तयाहं प्रच्छन्नं पंजरान्निष्कासिता मुत्कलीकृता

च. अहमपि तस्य खेचरस्य भयेन द्रुतमुड्डीय गगनमार्गे चचाल. श्रान्ता सती च विश्रामार्थं तवोत्संगे समागता, इतः स दुष्टविद्याधरोऽपि ज्ञातमद्वृत्तान्तो मम पृष्टेऽत्र समाययौ, परं हे महाभाग ! मम पुण्ययोगेन त्वया स युध्धे जितः. एतद्वृत्तान्तं श्रुत्वा तिलकमंजरी विलपितुं लग्ना, 'हे भगिनि ! तापसभावं प्राप्य त्वं महारण्ये कथमेकाकिनी स्थिता ? तथाधुना त्वं तिर्यक्भावेऽपि कथं स्थिता ? पूर्वभवे त्वया किं पातकं कृतं ? यदेवंविधा शोचनीया तव स्थितिर्बभूव. अथ तवेदं तिर्यक्त्वं कथं दूरीभविष्यति ?' एवं तां विलपन्तीं दृष्ट्वा दयया तेन देवेन सा हंसी कन्यारूपा कृता. एवं ते द्वे अपि भगिन्यौ कौतुकपूर्वकं तत्र मिलिते.

अथ कुमारेण तिलकमंजरीं प्रत्युक्तं 'हे सुंदरि ! युवयोर्द्वयोरपि भगिन्योः परस्परं मिलनं संजातं' अथ त्वं वर्द्धापनिकायां मह्यं किं दास्यसि तद् द्रुतं वद ? यतो दाने विलंबकरणं युक्तं न. उक्तं च—

**लंचौचित्यादिदानर्ण–च्छेदे सूक्तभृति गृहे, धर्मे रोगे रिपुच्छेदे कालक्षेपो न शस्यते ॥१॥**

**क्रोधावेशे नदीपूर–प्रवेशे पापकर्मणि ॥ अजीर्णभुक्तौ भीस्थाने, कालक्षेपः प्रशस्यते ॥२॥**

तत् श्रुत्वा तिलकमंजर्योक्तं 'हे सत्पुरुष ! तवोपकारिणो यदि सर्वस्वमपि दीयते तर्ह्यपि स्तोकमेव. इत्युक्त्वा तया कुमारस्य कंठे मुक्ताहारः स्थापितः कुमारेणापि तस्या अत्याग्रहात्स गृहीतः, ततस्तया शुकस्यापि कमलादिपुष्पैः पूजा कृता.

अथ स देवः कुमारं प्रत्याह 'भो कुमार ! एते द्वे अपि कन्ये पूर्वं चक्रेश्वरीदेव्या तुभ्यं दत्ते स्तः, अथाधुनाहमपि ते दास्यामी' त्युक्त्वा देवेन तयोः कुमारेण सह पाणिग्रहणं कारितं. ततोऽसौ रूपांतरेण त्वरितं चक्रेश्वरीपार्श्वे गत्वा सर्वं वृत्तां-

न्तं निवेदयामास. तदा चक्रेश्वर्यपि विमानमारुह्य परिवारयुता तत्रागत्याशीर्वादपूर्वकं विवाहसामग्रीं समानीय महामहोत्सवेन तयोः कुमारेण सह पाणिग्रहणं कारयामास, ततस्तया नानागवाक्षमंडितः सप्तभौमप्रासादः कुमाराय निवासार्थं समर्पितः. कुमारोऽपि तत्र ताभ्यां सह विषयसुखानि भुञ्जानः सुखेनाऽतिष्ठत्.

अथ चक्रेश्वरीदेव्यादेशतः स सुरस्तयोः कन्ययोः पितरमेतत्समस्तवृत्तांतकथनेन वर्द्धापयामास. तत् श्रुत्वा प्रमुदितचित्तः कनकध्वजराजा मंत्रिसामंतश्रेष्ठिप्रमुखपरिवारयुतश्चतुरंगसेनया सह पुत्रीस्नेहेन तत्रायातः. कन्याशुककुमारप्रमुखा अपि सन्मुखं गत्वा राजानं नमश्चक्रुः. राजापि रत्नसारकुमारं दृष्ट्वातीवहृष्टो बभूव.

अथ कुमारेण देवसहायतो राज्ञो भोजनादिभिर्विविधा भक्तिः कृता. ततो राज्ञा कुमारं प्रति कथितं 'भो महाभाग ! अथ त्वं नगरे समागत्यास्मान् कृतार्थान् कुरु ?' इत्युक्त्वा राजा सर्वपरिवारयुतः कुमारेण सह नगरसमीपे समाययौ. ततस्तेन महोत्सवपूर्वकं जामातुर्नगरे प्रवेशः कारितः. तत्र राज्ञा दत्ते मनोहरे प्रासादे स्थितो रत्नसारकुमारस्ताभ्यां सह विषयसुखानि भुङ्क्ते. शुकोऽपि तत्र सुखेन स्वर्णपंजरे तिष्ठति.

अथैकदा रजन्यां कुमारो यावत् सुखेन सुप्तोऽस्ति तावत्कश्चिद्दिव्यरूपधारी दिव्याभरणविभूषितशरीरः करवालपाणिः पुरुषस्तत्रागत्य कोपारुणनेत्राभूय कुमारं प्रत्यवादीत्, 'रे कुमार ! यदि त्वं वीरोऽसि तदा सावधानो भव ? मया सह च युद्धं कुरु ? तव वणिग्मात्रस्य शृगालतुल्यस्य बलं सिंहतुल्यमदग्रे कियत्कालं स्थास्यति ?' इति ब्रुवन् द्रुतं शुकसहितं पंजरं गृहीत्वा स पलायितः.

तदा कुमारोऽपि कोषात्करवालं निष्कास्य तत्पृष्टे धावितः, एवं तस्य पृष्टे धावन् कुमारोऽतीव दूरं गतः. इतः स पुरुषो गगने समुत्पत्यादृश्यीभूतः. तदा विस्मितः कुमारो निजहृदि चिन्तयति,' 'नूनमेष मम वैरी कोऽपि विद्याधरो देवो दानवो वा वर्त्तते, यो मे शुकराजं लात्वा पलायितः. हा वीर धीर कीर ! त्वां विना मे का गतिर्भविष्यति ? पुनस्त्वं मे कथं लप्स्यसे ?' इति खेदं विधाय पुनर्धैर्यं धृत्वा स चिन्तयति ' रे जीव ! त्वं दुःखं मा कुरु ? दुःखकरणतो न कापि सिद्धिर्भवति, अत उद्यमं विधाय कथंचिदपि शुकं लब्ध्वैवाहं पश्चाद्वलिष्यामीति' ध्यात्वा स वनमध्ये इतस्ततो भ्रमन् शुकं विलोकयति, परं तेन कुत्रापि शुकस्य शुद्धिर्न लब्धा. दिनं यावद्वनमध्ये सर्वत्र भ्रांत्वा संध्यासमये स एकं विशालं नगरं ददर्श. तन्नगरं वप्रप्रतोल्यादिमंडितमुत्तुंगतोरणराजिविराजितमहेभ्यमंदिरैः शोभितं ध्वजपताकादिभिरलंकृतं महर्द्धियुक्तं च विलोक्य यावत्तत्प्रतोल्यां स प्रविशति तावद्वप्रोपर्युपविष्टैका सारिका तं प्रत्यवादीत् ' हे पुरुष ! त्वं नगरमध्ये मा प्रविश ?

तत् श्रुत्वा विस्मितहृदयेन कुमारेणोक्तं ' भो सारिके ! नगरप्रवेशाय त्वं मां कथं निवारयसि ?'

सारिकयोक्तं ' हे सत्पुरुष ! यदि त्वं ते सुखसमाधिं समीहसे तर्हि नगरमध्ये मा प्रविश ? एषा मां मुधा निवारयतीति त्वं मा जानीहि ? केवलं तव हितायैव त्वामहं निवारयामि. यदि च त्वं तत्कारणं श्रोतुमिच्छसि तदा शृणु ? इदं रत्नपुराभिधं नगरं वर्त्तते, अस्मिंश्च पुरंदराख्यो नृपो राज्यं कुरुते, सम्यग्रीत्या च स प्रजां पालयति. इतो नानावेषधारकः कोऽपि तस्करोऽत्र समागत्य नित्यं धनिनां गृहेषु क्षात्रं दत्वा द्रव्यं मुष्णाति. आरक्षकैः सुभटैश्चापि स गृहीतुं न शक्यते.

अथान्यदा नगर्याः सर्वे लोका मिलित्वा राज्ञः समीपे समागत्य प्रणम्य च राजानं विज्ञपयामासुः 'हे राजन् ! केनापि

चौरेणागत्येयं सर्वापि नगरी मुषिता, वयं च निर्धनीकृताः.' तत् श्रुत्वा कुपितो राजा कोट्टपालमाहूय तद्वृत्तांतं तस्मै कथयामास. कोट्टपालेनोक्तं 'स्वामिन् महाव्याधिवदसाध्योऽयं चौरोऽस्ति, तस्य ग्रहणे कोऽप्युपायो न सिद्ध्यति.' तत् श्रुत्वा राजा स्वयं करे खड्गं धृत्वा नित्यं रात्रौ चौरविलोकनार्थं निर्गच्छति. अथैकदा रात्रौ स चौरो नगरे कस्यापि धनिनो गृहं मुषित्वा द्रव्यग्रंथिं बध्ध्वा पथि धावमानो राज्ञा दृष्टः, राजापि तत्पृष्टे धावितः, परं स चौरो राज्ञो दृष्टिं वंचयित्वैकस्मिन् मठे प्रविश्य तत्र च तापसपार्श्वे ग्रंथिं विमुच्य क्वापि पलायितः. राजा तत्पृष्टे मठमध्ये समागत्य यावद्विलोकयति तावदेकस्तपस्वी तत्र सुप्तोऽस्ति, तस्य पार्श्वे च द्रव्यग्रंथिं विलोक्य स चिन्तयति नूनमेष एव चौरस्तापसवेषं विधाय सर्वामपि नगरीं मुष्णाति, अधुना चात्रागत्य कपटनिद्रया सुप्तोऽस्ति.

इति विचिन्त्य क्रुद्धो राजा तापसमुत्थाप्य कथयामास 'रे दुष्ट पापिष्ट ! तापसवेषेण सर्वां मम नगरीं मुषित्वाधुना कपटनिद्रया त्वं कथं सुप्तोऽसि ? सांप्रतं हुतमेव तव दीर्घनिद्रां दास्यामीत्युक्त्वा निःकारणं निःकरुणो राजा तं बध्ध्वा प्रत्यूषे मारणार्थमारक्षकाय समर्पयामास. आरक्षकोऽपि तं मुण्डितमस्तकं विधाय खरोपरि समारोप्य नगरे भ्रामयित्वा शूलायामारोपयामास. एवं स तापसो मृत्वा दुष्टराक्षसीभूतः क्रोधेनात्रागत्य राजानं मारयामास. ततस्तद्भयेनेतः सर्वेऽपि नगरीलोकाः पलायिताः संति. अद्यापि यः कोऽप्यत्र नगरे राज्ञोन्तःपुरे गच्छति तं स राक्षसो मारयति. तेन हेतुना हे सत्पुरुष ! तव पुरीप्रवेशमहं निवारयामि.

एवं सारिकाया वचनचातुरीं दृष्ट्वा कुमारोऽतीवविस्मितो वदति, ' भो सारिके ! तस्य राक्षसस्य मे मनसि मनागपि

भयं नास्ति.' इत्युक्त्वा कुमारो राक्षसस्य बलं ज्ञातुं रणभूमाविव पुरोमध्ये प्राविशत्. तत्र शून्यनगरे केचिद् हट्टास्तेन चंदनैर्भृताः, केचित्सुवर्णैर्भृताः, केचिद्धनसारराशिभिर्भृताः, केचित्पूगीफलैर्भृताः, केचिच्च नालिकेरादिभिर्भृता दृष्टाः. एवं निर्जनां शून्यां तां नगरीं विलोकयन् क्रमेण स राजमंदिरे सप्तभूम्युपरि प्राप्तः. तत्र तेनैका मनोहरातीवकोमला शय्या दृष्टा, तस्यां शय्यायामसौ निर्भीको निर्भरनिद्रया निजगृहे इव तत्र स्वपितिस्म.

इतो मनुष्यचरणप्रचारं दृष्ट्वा क्रुद्धः पलादस्तत्रागत्य सुखसुप्तं तं दृष्ट्वा चिन्तयामास, ' अरे यत्स्थानं मनसापि ध्यातुं न शक्यते तत्रास्मिन् स्थाने कोऽसौ धृष्टः समागत्य सुप्तोऽस्ति ? अथैनं धृष्टं कया रीत्याहं मारयामि ? किं फलत्रोटनमिवैनं त्रोटयामि ? वैनं नखाग्रैर्विदारयामि ? उत गदया चूरयामि ? अथवा चिर्भटवदेनं क्षुरिकया छेदयामि ? वैनं ज्वलदग्नौ क्षिपामि ? वा कन्दुकवद्गगने उल्लालयामि अथवैनमुत्पाट्य समुद्रे क्षिपामि ? अथवैवंविधचिन्तनेनालं. असौ मम गृहे प्राघूर्णकीभूयाद्य समागतोऽस्ति. तदेतस्य मारणं न शोभनं, गृहे समागतः शत्रुरपि न मारणीयः. यतः—

**आगतस्य निजगेहमप्यरे—गौरवं विदधते महाधियः ।**
**मानमात्मसदनमुपेयुषे भार्गवाय गुरुरूचतां ददौ ॥ १ ॥**

ततो यावदसौ न जागर्त्ति तावदस्य मया किमपि न कथनीयं, पश्चाद्यदुचितं तत्करिष्यामीति ध्यात्वा स ततो निर्गत्य बहून् पिशाचान् समाकार्य पुनस्तत्रागतः.

तथापि तं तथैव तत्र सुप्तं दृष्ट्वा स पलादस्तमुत्थाप्य कथयामास 'रे निर्लज्ज ! त्वं मम गृहाद् द्रुतं याहि ? अन्यथा

मया सार्द्धं युद्धं कुरु !'

तत् श्रुत्वा कुमारोऽब्रवीत् हे राक्षसेंद्र! मम निद्राविघ्नं त्वं कथं करोषि ? मे निद्राच्छेदं कुर्वन् त्वमपि निद्राच्छेदं प्राप्स्यसि. यतः—

**धर्मनिंदी पंक्तिभेदी निद्राछेदी निरर्थकं, कथाभंगी वृथापापी पंचैतेऽत्यंतपापिनः ॥ १ ॥**

ततोऽधुना त्वं नूतनसर्पिर्मिश्रितेनातिशीतलजलेन मम पादतलं संघट्टय ? यथा मे पुनरपि निद्रा समागच्छेत्. तत् श्रुत्वा कुणपेन चिन्तितं ' नूनमस्य जगत्यद्भुतं चरित्रं वर्त्तते, यदसौ सिंहपार्श्वान्मृग इव मम पार्श्वात्स्वपादसंघट्टनमभिलषति. अहो ! अस्य कीदृक् साहसिकत्वं धैर्यं च वर्त्तते ! सांप्रतं तु मयैतत्कथनं करणीयं,' इति विचिन्त्य राक्षसः सुरभिघृतमिश्रितवारिणा तत्पादतलं घर्षयामास. अहो ! पुण्यप्रभावाज्जगति दुर्लभमपि किं किं न प्राप्यते ? धर्मात्सर्वमपि वांछितं लभ्यते. एवं भृत्यवन्निजपादतलघर्षणं कुर्वन्तं पलादं दृष्ट्वा रत्नसारकुमार उत्थाय तं प्रति कथयामास ' हे देव ! मनुष्यमात्रेणापि यन्मया तुभ्यमाज्ञा दत्ता तत्क्षम्यतां ? तव भक्त्याहं तुष्टोऽस्मि, अतस्त्वं वरं वृणु ? यत्किंचिदपि तव दुःसाध्यं कार्यं भविष्यति तत्सर्वमप्यहं करिष्यामि.'

तत् श्रुत्वा विस्मितचित्तो राक्षसश्चिन्तयति, ' अहो ! एतत्तु सर्वं विपरीतं जातं, यन्मम सुरस्योपरि मनुष्योऽयं तुष्टः असौ च यन्मम दुःसाध्यं कार्यं कर्त्तुं समीहते, तदपि सेवकपार्श्वात्कल्पवृक्षः समीहितं वांछति. अस्य मनुष्यस्य समीपे देवस्य मम किं वस्तु प्रार्थनीयं भवेत् ? तथाप्येतत्परीक्षार्थमहं किंचित्प्रार्थयामीति ' ध्यात्वा स मधुरवचनैस्तं प्रत्युवाच. ' यः परप्रा-

र्थितार्थं करोति स पुमान् त्रिभुवनेऽपि दुर्लभो वर्त्तते. ततस्त्वं चेत्प्रार्थनाभंगं न कुर्यास्तदाहं त्वां प्रार्थयामि, यतः—

[1]तिण लहुअं तुस लहुअं। तिणतुसउ हु पत्थगा लहुआ ॥ ताओ हु पुण लहुओ। पत्थणभंगो कओ जेण ॥१॥
परपत्थणा पवन्नं। मा जणणी जणेसु एरिसं पुत्तं ॥ मा उयरेवि धरिज्जसु। पत्थियभंगो कओ जेण ॥२॥

तत् श्रुत्वा कुमारोऽवादीत् 'भो राक्षसेंद्र ! यत्कार्यं मया कर्त्तुं शक्यं तत्त्वं सुखेन वद ?' तत् श्रुत्वा राक्षसेनोक्तं 'तर्हि त्वमस्या नगर्या राज्यं गृहाण ? अहं त्वां योग्यं ज्ञात्वा राज्यं यच्छामि, ततस्त्वं स्वेच्छया राज्यसुखं भुंक्ष्व ! अहं तव सर्वदिव्यभोगान् पूरयिष्यामि, भृत्यवच्च नित्यं तव सेवां करिष्यामि. सर्वे राजानस्तव वशवर्तिनो भविष्यन्ति.'

तत् श्रुत्वा कुमारो हृदि चिन्तयति 'असौ राक्षसेन्द्रो मे राज्यं ददाति, राज्यं च नूनं पुण्यत एव प्राप्यते, परं पूर्वं मया परिग्रहपरिमाणव्रतग्रहणसमये राज्यग्रहणनियमः कृतोऽस्ति, अस्मै राक्षसाय च मया प्रार्थनाभंगाऽकरणाय वचनं दत्तमस्ति, अतोऽधुना विषमसंकटे पतितोऽहं किं करोमि ? एकतः प्रार्थनाभंगो भवति, अन्यतश्च व्रतभंगो भवति', इति विचिन्त्य तेनोक्तं 'भो राक्षसेंद्र ! त्वमपरप्रार्थनां कुरु ? यतो राज्यग्रहणे मम नियमोऽस्ति. अतः किं तेन दाक्षिण्येन ? येन गृहीतव्रतभंगः स्यात्. किंच तेन कांचनेनापि किं ! येन कर्णविनाशः स्यात्.'

१ तृणं लघुकं तुषं लघुकं. तृणतुषाभ्यां प्रार्थना लघुका ताभ्योऽपि पुनः लघुकः प्रार्थनाभंगः कृतो येन। परप्रार्थनाप्रपन्ना मा जननी जनय एतादृशं पुत्रं। उदरेऽपि मा धर प्रार्थनाभंगो कृतो येन।

राक्षसेनोक्तं ' हे सज्जन ! सुकृतिनस्तु स्वीकृतकार्यनिर्वाहे निजजीवितव्यमपि त्यजन्ति.' कुमारोऽवक् ' हे राक्षसेंद्र ! त्वया युक्तमुक्तं, परं मया गुरुपार्श्वे नियमो गृहीतोऽस्ति, अतः पापस्थानरूपेणानर्थकारकेणानेन राज्येन किं क्रियते ? यतो विराधितो नियमः प्राणिनां तीव्रदुःखाय भवति. अतो हे महाभाग ! अपरं दुःकरमपि कार्यं त्वं मे समादिश ?'

अथ कुपितो राक्षसोऽवादीत् ' रे मूढ ! यदि त्वं मे पूर्वप्रार्थनां वृथा करोषि तर्हि नूनं त्वं स्वात्मोपर्येव कुपितो दृश्यसे, यत्र क्रोधेन युद्धं विधाय जीवसंहारः क्रियते तत्रैव पापं स्यात् न तु सुरदत्तराज्यकरणे पापं. किंच रे मूर्ख ! त्वं घृतपानावसरे प्रत्युत किं बूत्कारं करोषि ? मम गृहे समागत्य निःशंकं मे शय्यायां शयनं करोषि, मम पार्श्वे निजपादतलमुन्मर्षयसि, तथापि यदि त्वं मम कथनं न करोषि तर्हि पश्य तत्फलं' इत्युक्त्वा स कुमारं केशेष्वाकृष्याकाशे उल्लालयामास. पुनरप्याकाशात्पतंतं तं गृहीत्वा स कथयति 'रे मूढ ! कदाग्रहाद् वृथा त्वं किं म्रियसे ? दीयमानां राज्यश्रियं कथं न गृह्णासि ! त्रिदशेनापि मया त्वयोक्तं निंदनीयकार्यमपि कृतं, त्वं मूढस्तु मदुक्तं रुचिरमपि कार्यं न करोषि. अतोऽधुनापि त्वं राज्यं स्वीकुरु ? अन्यथा महत्यां शिलायां रजकवस्त्रवत्त्वामास्फाल्य मारयिष्यामी' त्युक्त्वा तं कुमारं गृहीत्वा स शीलापार्श्वे समागत्य पुनरप्युवाच ' अधुनापि मम वचनं कुरु ? वृथा मा म्रियस्व ?'

कुमारेणोक्तं ' भो राक्षसेंद्र ! यत्ते रोचते तत्कुरु ? पुनः पुनः किं पृच्छसि ?' तत् श्रुत्वा सोऽतीवहृष्टो निजराक्षसरूपं त्यक्त्वा दिव्यरूपं प्रकटीकृत्य कुमारोपरि पुष्पवृष्टिं चकार. ततोऽसौ जयजयशब्दं कुर्वन् कुमारसमीपे समागत्यावादीत् ' भो कुमार ! सत्त्ववतां मध्ये त्वमेव धन्योऽसि, त्वत्तुल्येन पुरुषेणेयं पृथ्व्यपि रत्नगर्भोच्यते. धर्मविषये तव दृढतां विलो-

क्याहं विस्मितोऽस्मि.'

अथ त्वं मम वृत्तांतं शृणु ? एकदा सौधर्मदेवलोके ईशानदेवलोके च नूतनाविन्द्रौ समुत्पन्नौ, तयोरेकविमाननिमित्तं परस्परं कलहो जातः, द्वात्रिंशल्लक्षविमानानि सौधर्मे सन्ति. अष्टाविंशतिलक्षाणि चेशाने संति. अथ तयोरेकविमानकृते विविधानि युद्धानि संजातानि, इह लोके नरवरा युद्धयमाना मनुष्यैर्निवार्यन्ते, देवाश्च देवैर्वार्यंते, परमिंद्रा युद्धयमानाः केन निवारयितुं शक्याः ? अथैकदा वृद्धदेवैस्तयोरुक्तं, माणवकस्तंभे या जिनदंष्ट्राः संति, तत्स्नात्रवारिणा महावैरादयो दोषा उपशाम्यंति. तत् श्रुत्वा महत्तरदेवैस्तत्स्नात्रवारिणा तौ द्वावपीन्द्रौ सिक्तौ, तेन तौ गतमत्सरौ परस्परं महाप्रीतियुतौ जातौ.

इतश्चंद्रशेखराभिधेन देवेन्द्रेणसेनापतिर्हरिणैगमेषी देवः पृष्टः, 'भो मित्र ! मनुष्यलोकेऽपि किं कोऽपि सर्वथा गतलोभोऽस्ति?' तदा हरिणैगमेषिदेवेन तव प्रशंसां कृत्वोक्तं 'यद्वसुसारश्रेष्ठिनो रत्नसाराभिधः पुत्रो मनुष्यलोके निःस्पृहोऽस्ति, स त्रिदशैरपि दीयमानं राज्यं न समीहते' तत् श्रुत्वाहं चंद्रशेखरो देवोऽश्रद्दधानस्त्वत्परीक्षार्थमत्रागत्य राक्षसरूपं विधाय त्वामनेकप्रकारैरखेदयं, अथेमं मेऽपराधं त्वं क्षमस्व ? अहं तव सत्त्वेन तुष्टोऽस्मि, अतस्त्वं वरं वृणु ? यतो देवदर्शनं निष्फलं न स्यात्.'

तत् श्रुत्वा कुमारेणोक्तं ' भो देव ! जिनधर्मप्रसादान्मम सर्वमपि वर्त्तते, कापि न्यूनता नास्ति, तथापि मद्वचसाधुना त्वया नंदीश्वरतीर्थे यात्रा कर्त्तव्या. एवमस्त्वित्युक्त्वा स कुमाराय शुकपंजरं समर्प्य तं चोत्पाट्य कनकपुर्यामुंचत्. तत्राप्यसौ देवो नृपादीनामग्रे कुमारस्य माहात्म्यं प्रकाश्य, तस्मै च बहुमानं दत्त्वा स्वस्थाने गतः.

अथ स रत्नसारकुमारोऽपि राजानमापृच्छ्य द्वाभ्यां निजभार्याभ्यां युतः स्वनगरं प्रति प्रस्थितः. स्थाने स्थानेऽनेकनरप-

तिभिः सत्क्रियमाणः कियद्भिर्दिवसैः स विशालायां नगर्यां प्राप्तः,

एवं तस्य समृद्धिविस्तारं दृष्ट्वा समरसिंहराजा तस्य सन्मुखं समागतः, ततो वसुसारादीभ्यसहितो राजा महामहोत्सवेन तं नगरे प्रवेशयामास. ततस्तेन शुकराजेन नृपादीनां पुरतः कुमारस्याखिलं चरित्रं कथितं. तत् श्रुत्वा सर्वे लोकाश्चमत्कृतास्तस्यातीवप्रशंसां चक्रुः. एवं स रत्नसारकुमारस्तत्र स्थितो विविधानि मानुष्यसुखानि भुंक्ते.

अथान्यदा तन्नगरोद्यने श्रीधर्मसूरय आगत्य समवसृताः, तदा नृपरत्नसारप्रमुखा नगरलोकास्तेषां वंदनार्थं तत्र गताः, सूरीन् वंदित्वा च यथास्थानमुपविष्टाः, आचार्यैरपि देशना दत्ता, देशनांते राज्ञा पृष्टं, ' हे भगवन् ! रत्नसारस्य पूर्वभवं कथयत ? अनेन पूर्वभवे किं सुकृतं कृतं ? यथेह तेनेदृशी समृद्धिः संप्राप्ता.'

अथ चतुर्ज्ञानयुतास्ते गुरवः कथयंति, " अस्मिन् भरतक्षेत्रे राजपुराभिधं नगरमस्ति, तत्र जिनशत्रुनामा राजा राज्यं करोति. तस्य राज्ञः श्रीसाराभिधः पुत्रोऽस्ति, तस्य श्रीसारस्य च त्रीणि मित्राणि संति, एकः क्षत्रियपुत्रो, द्वितीयोऽमात्यपुत्रस्तृतीयश्च श्रेष्ठिपुत्रः, एतेषां परस्परमतीव स्नेहो वर्त्तते,

अथैकदा राज्ञीगृहे चौरेण क्षात्रं दत्वा धनं गृहीतं. कोट्टपालेन दृष्टोऽसौ बध्वा राज्ञे समर्पितः, राज्ञा कथितमेष हन्यतां तदा कोट्टपालेन वधाय नीयमानः स चौरः श्रीसारकुमारेण दृष्टः. कुमारेण कोट्टपालं प्रति पृष्टं कोऽसौ जनोऽस्ति ?' तेनापि तस्य सर्वो वृत्तांतः कथितः, तदा कुमारेणोक्तं ' मम मातुर्द्रव्यहर्त्तायमस्ति, अतोऽहं स्वयमेवास्य दंडं करिष्यामि.' इत्युक्त्वा तस्य पार्श्वात्तं चौरं गृहीत्वा स बहिराजगाम. ततः कृपायुतः कुमारस्तस्य चौर्यकरणशपथं दत्त्वैकांते तं मोचयामास. महतां हि

सापराधेऽपि जने कृपैव स्यात्.

अथ केनापि कुमारवैरिणा राज्ञोऽग्रे समागत्य कुमारस्य चौरमोचनादिस्वरूपं राज्ञे निवेदितं, तदा राजा कुमारमाकार्य निर्भर्त्सयामास, ' रे कुपुत्र ! त्वया ममाज्ञा कथं भंजिता ?' तत् श्रुत्वातीवदूनः श्रीसारकुमारो नगरान्निर्गतः. मानवतां पुरुषाणां मानहानिः प्राणहानितुल्या भवति. तस्य मित्रत्रयमपि स्नेहवशेन तेन सहैव चचाल. यतः—

**जानीयात्प्रेषणे भृत्यान् । बांधवान् व्यसनागमे ॥ मित्रमापदि काले च । भार्यां च विभवक्षये ॥१॥**

अथ ते चत्वारोऽपि ततः केनचित्सार्थेन सह चलिताः, परं मार्गे सार्थाद् भ्रष्टा दिनत्रयं भ्रांत्वा चतुर्थदिने कस्मिंश्चिद् ग्रामे प्राप्ताः, रसवतीं विधाय यावत्ते चत्वारोऽपि भोजनायोपविशंति. तावदेकः कश्चिज्जिनकल्पी मुनिस्तत्र समागतः, तदा प्रकृत्या भद्रको राजपुत्रो वर्द्धितभावेन मुनये आहारदानं दत्त्वा विपुलं भोगकर्मार्जयामास. तदा द्वाभ्यां मित्राभ्यां तद्दानं भावपूर्वकमनुमोदितं. परं हीनसत्त्वेन क्षत्रियपुत्रेणोक्तं ' भो मित्र क्षुधातुराणामस्माकं कृते रक्षयित्वा शेषं त्वया मुनये देयं, एवं दानांतरायतस्तेन भोगांतरायकर्म बद्धं.' क्रमेण प्रशांतकोपो राजा तान् पश्चादाहूय श्रीसारकुमाराय राज्यं दत्तवान्. कियता कालेन ते सर्वेऽपि मृताः, तेषु श्रीसारः सुपात्रदानप्रभावतोऽयं रत्नसारो जातः, श्रेष्ठिपुत्रमंत्रिपुत्रौ च तस्य भार्ये जाते, क्षत्रियपुत्रस्तु दानांतरायतोऽयं शुको जातः. श्रीसारकुमारेण पूर्वभवे यश्चौरो मोचितः स तापसव्रतं गृहीत्वा मृत्वा स चंद्रचूडाभिधो देवो रत्नसारस्य सहायदाता जातः." तत् श्रुत्वा नृपप्रमुखा जनाः सुपात्रदानाभिलाषिणः संतो जिनधर्मविषये सावधाना बभूवुः. श्रीरत्नसारकुमारः पूर्वपुण्यप्राग्भारं वहन् भार्यायुतस्तत्र विविधान् भोगान् भुंक्ते. क्रमेणासौ धर्मविषये तत्परीभूय रथयात्रातीर्थयात्रा-

स्वर्णरूप्यमयजिनबिंबजिनमंदिरादिविधानतः शासनस्य प्रभावनामकरोत्. एवं तस्य संसर्गात्तस्य भार्ये अपि जिनधर्मविषये दृढपरिणामयुते जाते. क्रमेणायुःक्षये रत्नसारकुमारः पंडितमरणेन कालं कृत्वाच्युतकल्पे देवो जातः, ततश्च्युत्वा महाविदेहे जिनधर्ममाराध्य स मुक्तिं यास्यति. एवं मुनिदानप्रभावख्यापकं परिग्रहपरिमाणव्रतग्रहणफलनिरूपकं श्रीरत्नसारकुमारदृष्टांतं श्रुत्वा भो भव्या यूयं धर्मविषये आदरं कुरुत ? इति जिनमुखादुपदेशं श्रुत्वा कामदेवोऽप्यानंदवत्प्रभुमुखात् श्राद्धधर्मं जग्राह. ततोऽसौ गृहे गत्वा निजभार्यायै भद्रायै स्वधर्मप्राप्तिं कथयामास. तत् श्रुत्वा प्रमुदितया भद्रयापि शिवानंदावज्जिनधर्मः प्रतिपन्नः, एवं जिनोपदिष्टं जिनधर्मं कुर्वतोस्तयोश्चतुर्दशवर्षाण्यतिक्रांतानि.

अथैकदा स कामदेवश्राद्धश्चिन्तयति 'इयत्कालं मया कुटुंबं पालितं, अथ श्रावकस्यैकादशप्रतिमा अप्यहमाराधयामि.' इति ध्यात्वा निजस्वजनानाहूयाशनपानखादिमस्वादिमादिभिः संतोषयित्वा स पृच्छति, 'भो स्वजना युष्माकं यद्यादेशो भवेत्तदा ज्येष्ठपुत्रे कुटुंबभारं समारोप्याहमेकादशप्रतिमाः समाराधयामि. इति स्वजनानापृच्छ्य ज्येष्ठपुत्रे च कुटुंबभारं समर्प्य स्वयं च पौषधशालायां समागत्य स्थानं प्रमार्जयित्वा दर्भसंस्तारकं विधाय तत्रोपविश्यानंदवत् श्रीजिनध्याने स तत्परो बभूव, क्रमेणैकादशप्रतिमाश्च समाराधयामास.

अथैकदा निशायां कोऽपि मिथ्यादृष्टिः सुरः पौषधशालायां समागत्य भयंकरं पिशाचरूपं विधाय तं विविधानुपसर्गान् कृतवान्. तस्य पिशाचस्य हस्तिकुंभतुल्यं मुखं, अतीवकृशौ चरणौ, अप्रशस्तं मस्तकं, कपिलाः केशाः, सूर्पतुल्या नखाः, खिसकिलीपुच्छसदृशे भ्रूलते, अग्निवद्देदीप्यमाने नयने, कदालतुल्या दंता, चिर्पटा नाशिका, श्यामवर्णो देहः, गर्गरीतुल्यं

जठरं, नकुलसर्परूपे च कर्णाभरणे स्तः. एवंविधो भयंकररूपधारी स पिशाचः किलकिलशब्दं कुर्वन्, मुखाच्च जिह्वां निष्कासयत् अट्टट्टहासं कुर्वन् हस्ते खड्गं विधाय कायोत्सर्गस्थितं कामदेवं प्रत्यवादीत् 'भो कामदेव! त्वं प्रत्यक्षाणि विषयसुखानि त्यक्त्वा श्रावकव्रतानि कथं समाचरसि? मदाज्ञया त्वं श्रावकव्रतानि त्यक्त्वा भोगान् भुंक्ष्व? अन्यथानेन खड्गेन तव मस्तकं छेत्स्यामि. ततश्चाकाले मृत्वा त्वमनंतदुःखानि लप्स्यसे.' तत् श्रुत्वा कामदेवस्तु स्वध्यानस्थ एव मौनेन स्थितः, तदा स देवोऽपि तं कामदेवं स्थिरचित्तं विज्ञाय द्वित्रिवारं तथैव कथयामास, तथापि स ध्यानान्न चचाल,

तदासौ देवः क्रोधेन भीषणां भ्रुकुटिं विधाय कामदेवं प्रति खड्गप्रहारानकरोत्. परं कामदेवस्तया तीव्रवेदनयापि निजशुभध्यानान्न चचाल. यतः—

**[1]धीराण कायराण य। कसवट्टो संकडे समावडिए ॥**
**नियमपरिपालणेसु सुत्थावत्थो य सव्वोवि ॥ १ ॥**

अथ विलक्षीभूतोऽसौ देवो गजरुपं विकुर्व्य घोरगर्जारवं कुर्वन् शुंडादंडमुल्लालयन् कथयामास, 'रे कामदेव! अधुनापि त्वं मद्वचनं कुरु? अन्यथा त्वां गगने समुच्छाल्य पादेन मर्दयिष्यामि.' तत् श्रुत्वापि ध्यानादचलितं कामदेवं स त्रिवारं गगने समुच्छालयामास, पतंतं च तं दंताग्रेण गृहीत्वा पादेन मर्दयामासः. एवंविधां दुस्सहवेदनां सहमानोऽपि कामदेवो ध्यायान्न चलितः.

१ धीराणां कातराणां कषपट्टः संकटे समापतिते नियमपरिपालनेषु सुस्थावस्थश्च सर्वोऽपि.

ततोऽसौ सर्परूपं विकुर्व्यातिप्रलंबकायो रक्तनेत्रयुगलः फूत्कारं कुर्वन् तत्समीपे समागत्यावदत् 'भो कामदेव! अद्यापि त्वं व्रतानि त्यक्त्वा भोगान् भुंक्ष्व?' अन्यथा त्वामहं दष्ट्वा नूनं मारयिष्यामि, मृत्वा च त्वं दुर्गतौ यास्यसि. तच्छ्रुत्वा निश्चलचित्तः कामदेवस्तु विशेषेण धर्मध्यानमकरोत्.

तदासौ क्रुद्धोऽहिस्तस्य ग्रीवां वेष्टयित्वा दंशप्रहारान् ददौ, तथापि तं निश्चलचित्तं विज्ञाय विस्मितो देवो स्वकीयं मनोहरं दिव्यरूपं प्रकटीकृत्यावादीत् भो कामेदवश्रावक! त्वं धन्योऽसि, तव जीवितं सफलं वर्त्तते, जिनधर्मे तवातिदृढतां विलोक्याहं प्रसन्नोऽस्मि, मया त्वं घोरोपसर्गैर्बहुपीडितोऽसि, तत्सर्वं मयि कृपां विधाय त्वं क्षमस्व? प्रथमदेवलोकेन्द्रस्त्रिदशसभायां सत्यामेव तव प्रशंसां करोति. यथा भरतक्षेत्रे चंपानगर्यां यः कामदेवाभिधः श्राद्धवर्यो वसति, स केनापि धर्माच्चालयितुं न शक्यते. एवंविधमिन्द्रवचनं श्रुत्वाप्यश्रद्दधानोऽहममर्षेणात्रागत्य तवोपसर्गान् कृतवान्, परं तव मनो मेरुचूलावन्मनागपि न चलितं.' इत्युक्त्वा तं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वा स देवः स्वस्थाने प्राप्तः.

अथ कामदेवः स्वं निरुपसर्गं विज्ञाय कायोत्सर्गं पारयामास. प्रभाते च तत्र श्रीवीरजिनेंद्रमागतं श्रुत्वा स तद्वंदनार्थं गतः, वंदित्वा च यथास्थानमुपविष्टः, जिनेंद्रेणापि धर्मोपदेशो दत्तः, देशनांते च सुरनराणां पर्षदि श्रीवीरजिनेंद्रोऽवादीत्, 'भो कामदेव! गतरात्रौ देवेन पिशाचगजसर्परूपाणि विकुर्व्य तव बहव उपसर्गाः कृताः, परं त्वं धर्मध्यानान्न चलितः, अतस्त्वं श्राद्धवर्योऽसि.' इत्युक्त्वा प्रभुणा साधुसाध्वीभ्यः कथितं,'भो साधुसाध्व्यः! एवं श्रमणोपासकेनापि यद्येवंविधा दुस्सहपरीषहाः सोढास्तर्हि युष्माभिस्तु ते विशेषेण सहनीयाः.' तच्छ्रुत्वा हृष्टः कामदेवो वीरप्रभुं कानिचिद्धर्मवि-

षयाणि प्रश्नानि पृष्ट्वा वंदित्वा च स्वगृहेऽगच्छत्. श्रीवर्द्धमानजिनोऽपि ततोऽन्यत्र विजहार.

एवमानंदवत्समाराधितैकादशप्रतिमः कामदेवश्राद्धो विंशतिवर्षाणि यावज्जिनधर्मं प्रतिपाल्य मनसि श्रीवीरजिनं स्मरन धर्मध्यानलीनः प्रांते चैकमासिकीं संलेषणां विधाय मृत्वा प्रथमदेवलोकेऽरुणाभे विमाने चतुःपल्योपमायुर्देवो जातः.

तदा गौतमेन पृष्टं हे स्वामिन्नसौ कामदेवश्राद्धः सौधर्मदेवलोकाच्च्युत्वा कुत्र यास्यति ?' स्वामिनोक्तं भो गौतम! ततश्च्युत्वासौ मदाविदेहे महर्द्धिककुले समुत्पद्य चारित्रं गृहीत्वा शाश्वतसुखानि प्राप्स्यति.' इति कामदेवचरित्रं श्रुत्वा भो भव्या यूयं धर्मे आदरं कुरुत ?

॥ इति श्रीवर्द्धमानदेशनायां वाचनाचार्यश्रीरत्नलाभगणिशिष्येण राजकीर्त्तिगणिना गद्यबंधेन प्रणीतायां कामदेवश्रावकप्रतिबोधो नाम द्वितीयोल्लासः समाप्तः ॥ श्रीरस्तु ॥

## तृतीय चुलनीपिताश्रावकचरित्रम्

अथ श्रीसुधर्मस्वामी जंबूस्वाम्यग्रे श्रीवीरजिनोक्तं चुलनीपितुः श्रावकस्य चरित्रं कथयति—अस्मिन् भरतक्षेत्रे वाराणस्यभिधा नगरी वर्त्तते, तस्यां च जितशत्रुनामा राजा राज्यं करोति. तस्यामेव नगर्यां चुलनीपिताख्यो गृहपतिर्वसति. तस्य श्यामाभिधा च भार्यास्ति. तत्रैकं कोष्टकाभिधयक्षस्य चैत्यमस्ति. तस्य श्रेष्ठिनोऽष्टौ कोट्यः स्वर्णस्य भूमौ क्षिप्ताः संति, अष्टौ कोट्यो व्यापारे नियोजिताः संति, अष्टौ कोट्यश्च कलांतरे संति. तस्यगृहे अष्टौ गोकुलानि संति, अन्योऽप लक्ष्मीविस्तार आनंदस्येव तस्य गृहे वर्त्तते. एवं स निजश्यामाभार्यया सह विविधानि मनुष्यसुखानि भुंक्ते.

अथान्यदा तत्र श्री वर्द्धमानजिनस्तस्मिन् कोष्टकचैत्ये समवसृतः, पर्षदो मिलिताः, तदा स चुलनीपितापि श्री जिनागमनं श्रुत्वा वंदनार्थं तत्रागतः प्रभुं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वा च स यथास्थानमुपविष्टः. जिनो धर्मदेशनामदात्, "यथा भो भव्याः! स्वजनधनभवनयौवनप्रमदादेहादिकं सर्वमनित्यं ज्ञात्वा यूयं जिनधर्मं कुरुत? स धर्मश्च द्विविधः साधुश्रावकधर्मभेदाभ्यां सम्यक् क्रियमाण इहलोकपरलोकसुखानि यच्छति. यः प्राणी जिनधर्मसुधया हृदयमध्ये नित्यं स्नानं करोति सोऽतिपापमलिनोऽपि सहस्रमल्लवत् शुद्धयति."

अथ श्रीगौतमस्वामी पृच्छति 'हे जिनवरेंद्र! कोऽसौ सहस्रमल्लः? कथं च पापपंकेन मलिनोऽपि शुद्धो जातः? तच्छ्रुत्वा श्रीजिनवरेन्द्रोऽवादीत् वत्सदेशे कोशांब्यभिधा नगरी वर्त्तते, तस्यां नगर्यां सहस्रमल्लाभिधो वणिकपुत्रः परिवसति. स परवंचनतत्परो मृषावादी सप्तव्यसनरतः सकललोकानामहितकारको दुष्टात्मा चौर्यरतो नानादेशभाषानानावेष-

करणकुशलो महामायावी च वर्त्तते.

अथ तत्रैव नगरे रत्नसाराभिधो रत्नानां व्यापारी श्रेष्ठ्येकः परिवसति. अन्यदा स मायावी सहस्रमल्लस्तस्य हट्टे वणिग्वेषं विधाय समागत्य श्रेष्ठिनमपृच्छत्, 'भो श्रेष्ठिन् किं संति तव पार्श्वे रत्नानि ? श्रेष्ठिनोक्तं बहूनि संति. तेनोक्तं तर्हि मे दर्शय ? श्रेष्ठिनापि तस्य दर्शितानि. ततः पुनरपि तेनोक्तं 'किमेतावंत्येव रत्नानि संति ?' श्रेष्ठिनोक्तमन्यान्यपि बहूनि संति. इत्युक्त्वा लोभवशेन श्रेष्ठिना सर्वाण्यपि रत्नानि तस्य दर्शितानि मूल्यं च तेषां कथितं. सहस्रमल्लेनोक्तं 'हे श्रेष्ठिन् ! अहं सर्वाण्यपि तव रत्नानि गृह्णामि. परं तेषां मूल्यं कल्येऽर्पयिष्यामि.' तदा श्रेष्ठिनोक्त महमुद्धारके कस्मा अपि न यच्छामीत्युक्त्वा तेन रत्नानि यथास्थाने स्थापितानि.

अथ सहस्रमल्लस्तद्रत्नस्थानकं सम्यग्गरीत्या दृग्गोचरीकृत्य स्वगृहे समागतः. क्षपायां च चौरवेषं विधाय स तस्यापणे गत्वा क्षात्रं दत्तवान. तत्र क्षात्रमुखे तेन प्रथमं स्वचरणौ क्षिप्तौ. इतस्तत्र सुप्ताः श्रेष्टिपुत्रा जागरिताः, तैश्च तस्य चरणौ गृहीतौ. तेषां परस्परमाकर्षणं कुर्वतां सहस्रमल्लस्य शरीरं भृशं घर्षितं, रुधिरधारा च निर्गता, ततः श्रेष्ठिपुत्रैः स दयया मुक्तो नष्ट्वा स्वगृहे गतः, सर्वं व्यतिकरं निजजनन्यै कथयामास. ततोऽसौ वेदनाक्रांतो गाढं पूत्कारं कर्तुं लग्नः, तदा मात्रा भणितं 'हे पुत्र ! यः परद्रव्यं हरति तेन सर्वमपि सहनीयं भवेत्, यथा सारणद्यूतकारेण सोढं.' तेनोक्तं हे मातः ! 'कोऽसौ सारणः ? कथं च तेन चौर्यं कुर्वता वेदना सोढा ?'

साऽवददवंत्यां सारणाभिध एको द्यूतकारो वसति, तेन सर्वं द्रव्यं द्यूते हारितं. अथैकदा रजन्यां चौर्यार्थं परिभ्रमन्

स कस्यचिद्वणिजो गृहे संप्राप्तः, तत्र च गुप्तं स्थितो जनकपुत्रयोः परस्परं वार्त्तालापं शृणोति. पुत्रं प्रति श्रेष्ठी वदति 'हे पुत्र! सांप्रतं दशसहस्रदीनाराणि कुत्रापि निधानीकृत्य स्थाप्यंते, येन तानि कस्मिंश्चिदापत्काले सहायरूपाणि स्युः, पुत्रेणोक्तं हे तात ! भवता तत्सुष्ठु विचारितं, अथ तानि यदि स्मशानमध्ये स्थाप्यंते तदा भव्यं.' तच्छ्रुत्वा स द्यूतकारस्ततो द्रुतं स्मशानमध्ये गत्वा महायोगीव श्वासोच्छ्वासं संरुध्य मृतकवत्पतितः.

इतस्तौ श्रेष्ठिपुत्रावपि धनं गृहीत्वा तत्र समागतौ. श्रेष्ठिना पुत्राय कथितं 'रे पुत्र ! त्वं स्मशानांतः सर्वत्र सम्यक् पश्य ? यतश्चेदत्र कोऽपि महाधूर्त्तो गुप्तं स्थितो भविष्यति तर्ह्यस्माकं मनोरथो मूलादेवोच्छिन्नो भविष्यति.' तच्छ्रुत्वा स श्रेष्ठिपुत्रः स्मशानमध्ये सर्वत्र भ्रमन् सम्यक् प्रकारेण विलोकयामास.

इतस्तेन स सारणद्यूतकारो मृतकवृंदमध्ये मृतकवत् पतितोऽक्षतशरीरो दृष्टः, तदा श्रेष्ठिपुत्रेण तस्य सर्वं शरीरं सम्यग् विलोकितं, मुखनासिकयोरपि श्वासोच्छ्वासरहितो दृष्टः, ततस्तं परावृत्त्यापि दृष्टवान्.

अथ तं गतप्राणं दृष्ट्वा स ततो निर्गत्य जनकाय कथयामास, 'हे तात ! मया श्मशानमध्ये सर्वत्र विलोकितं, सर्वेऽप्यत्र विनष्टशरीरा मृतकाः पतिताः संति, तेषां मध्ये च मयैको मृतकोऽक्षतशरीरो दृष्टः,' तदा पित्रोक्तं 'हे पुत्र! नूनं स कश्चिन्महाधूर्त्तो भविष्यति. अतः पुनरपि गत्वा तस्य सम्यग् निरूपणं कुरु ?' तदा तेन पुनरपि तत्र गत्वा सम्यग् निरूपितं, पादौ धृत्वा स आकर्षितः, परं तं निश्चेतनं विज्ञाय पितुः पार्श्वे समागत्य तत्स्वरूपमुक्तवान्. तदा पुनरपि पित्रा तस्मै प्रोक्तं 'हे पुत्र ! तर्हि तस्य नासिकां कर्णौ च छेदयित्वा समानय ? यथा मम निश्चयो भवेत्.' पुत्रोऽपि तत्र गत्वा

तस्य नासिकां कर्णौ च छेदयित्वानीय पितुः समर्पयामास. एवं दुःखं सहमानेनापि तेन धूर्त्तेन धनलोभतः किमपि न जल्पितम्.

अथ तौ तत्र धरित्र्यां धनं क्षिप्त्वा गृहे समागतौ. तदनंतरं स धूर्त्त उत्थाय तद्धनं गृहीत्वा गृहे समागत्य स्वेच्छया तद्विलसतिस्म.

अथैकदा तेन श्रेष्ठिना पुत्रो भणितः, 'हे पुत्र! त्वं श्मशाने गत्वास्माकं तद्धनं विलोकय?' तेनापि तत्र गत्वा विलोकितं परं धनं न दृष्टं पश्चादागत्य तेन पित्रेस्तत्स्वरूपं कथितं. द्वितीयदिने श्रेष्ठी स्वयं गत्वा तत्र विलोकयामास, परं धनमदृष्ट्वा खिन्नो गृहमागत्य पुत्रंप्रत्यकथयत्, 'भो पुत्र! नूनं तेन धूर्त्तेन वयं मुष्टाः, अथावां नगरमध्ये तं छिन्ननासिककर्णं विलोकयाव' इति विचिन्त्य तौ नगरमध्ये भ्रमितुं लग्नौ.

अथैकदा तौ तमेव छिन्ननासिककर्णं सहस्रमल्लं विलोकयामासतुः, संजातनिश्चयेन श्रेष्ठिना स करे गृहीत्वैकांते समानीय प्रोक्तः, 'भो त्वयातीवदुष्करं कृतं, सत्ववतां मध्ये त्वं धुर्योऽसि,' धूर्त्तेनोक्तं 'भो सुंदर! धनार्थं किं किं कष्टं पुरुषैर्न सह्यते?' ततः श्रेष्ठिना तस्मै प्रोक्तं 'भो वीर! अथाधुना त्वं भुक्तशेषं मम धनं पश्चात् समर्पय?' धूर्त्तेनोक्तं 'भो श्रेष्ठिन्! भुक्तशेषं तव धनं त्वं सुखेन गृहाण? परं राज्ञोऽग्रे त्वयैष वृत्तांतो न कथनीयः.' इत्युक्त्वा भुक्तशेषं धनं तेन तस्मै पश्चात्समर्पितं. श्रेष्ठ्यपि तं द्यूतकारं संतोष्य विसृष्टवान्. अतो हे पुत्र! यः परधनं गृह्णाति स बहुवेदनामपि सहते. ततस्त्वमपि कातरभावं मुंच? एवं जनन्योक्तं सत्यं मत्वा स हृष्टः सन् क्रमेण पटुशरीरो जातः पुनरपि चौर्यं कर्तुं लग्नः.

अथैकदा स पुरोहितगृहे गत्वा क्षात्रं दत्वा प्रचुरं धनं गृहीत्वा जनन्यै समर्पयामास. जनन्योक्तं "हे पुत्र ! एतावद्धनं त्वया कुतो लब्धं ?' तेनोक्तं 'हे अंब ! एतया चिन्तया तव किं ? प्रत्यूषे त्वया नगरे गत्वा लोकवाणीं श्रुत्वा मदग्रे तत्सर्वं कथनीयम्.'

अथ सापि नगरमध्ये गता, तत्रैकस्थाने भूरिस्त्रियो मिलितास्तया दृष्टाः, तत्र गत्वा सा तासां वार्त्तालापं शुश्राव. ताः परस्परं कथयंति अद्य तु पुरोहितगृहं केनापि तस्करेण मुषितं. तदैकया पृष्टं 'चौरस्य शुद्धिर्जाता न वा ?' अपरावादीत् 'पुरोहितेन गत्वा राज्ञे तन्निवेदितं. राज्ञा चारक्षकं आकार्य निर्भर्त्सितः. तदा धनसारश्रेष्ठ्यवादीत् हे स्वामिन् नूनं स चौरो बहुद्रव्यमानीय मम हट्टे प्रवरवस्त्रग्रहणार्थमायास्यति, तदा चाहं तं गृहीष्यामि. तच्छ्रुत्वा तत्रस्थेनैकेन दिवाकीर्तिनोक्तं शिरोनखशुद्ध्यर्थं ध्रुवं स मे गेहेऽपि समागमिष्यति. तदाहमपि तं गृहिष्यामि भवद्भ्यश्च समर्पयिष्यामीति' स्त्रीणामालापं श्रुत्वा चौरजननी गृहे समागत्य तत्सर्वं स्वपुत्राय कथयामास.

ततः स चौरो वणिग्वेषं विधाय तस्य नापितस्य गृहे समागतः, नापितोऽपि तं महाश्रेष्ठिनं विज्ञाय मनोहरमासनं दत्वा तस्याग्रे समुपविष्टः, ततस्तेन तस्य शिरोनखशुद्धिं विधाय स्नानं कारितं. स्नानांतरमुत्थितः सहस्रमल्लो नापितं प्रत्युवाच 'भो नापित ! तवैनं पुत्रं मया सार्थं प्रेषय ? यथा ममापणात्तव सेवामूल्यं तस्मै यच्छामि.' तेनापि द्रव्यार्थं तेन सार्थं निजपुत्रः प्रेषितः. ततोऽसौ नापितपुत्रयुतो धनसारश्रेष्ठिनो हट्टे गतः, श्रेष्ठिनापि तद्वेषेण तं महाव्यापारिणं परिज्ञायासनं दत्तं, ततस्तेन श्रेष्ठिने प्रोक्तं 'चेत्तव पार्श्वे बहुमूल्यानि वस्त्राणि स्युस्तर्हि दर्शय यथाहं गृह्णामि.' श्रेष्ठि-

नापि तस्य महामूल्यानि चीवराणि दर्शितानि, मूल्यं च तेषां कथितं. तदा सहस्रमल्लेनोक्तं 'हे श्रेष्ठिन्! यावदहं गृहे गत्वा मूल्यस्य द्रव्यमानयामि तावत्त्वयासौ बालो ग्रहणके रक्षणीयः,' मुग्धत्वेन श्रेष्ठिनापि तत्प्रतिपन्नम्.

अथ सहस्रमल्लो वस्त्राणि समादाय गृहे गत्वा स्वजनन्यै समर्पयामास, कथितं च तेन तस्यै 'हे मातः! अथ पुनरपि त्वं नगरमध्ये गत्वा लोकानां वचनानि श्रुत्वा तत्स्वरूपं मे निवेदय?' सापि तत्र गत्वा नगरचर्चां ज्ञात्वा पुत्राऽग्रेकथयत्, 'हे पुत्र! श्रेष्ठिना नापितेन च राजा विज्ञप्तो 'हे राजन्नद्य तु वयमपि तेन चौरेण मुषिताः,' अत्रावसरे एकेनाश्वव्यापारिणा राज्ञे निवेदितं 'हे स्वामिन् स चौरः प्रधानाश्वग्रहणार्थं नूनं मम पार्श्वे समागमिष्यति, तदा च तमहं गृहीत्वा भवते समर्पयिष्यामि. पुनः कामपताकाख्या वेश्यापि तदा जगाद 'हे राजन् नूनं स चौरो मद्गृहं त्यक्त्वाऽन्यत्र कुत्रापि न स्थास्यति, ततो निश्चयेनाहं तं गृहिष्यामि.'

इति जननीवचनानि श्रुत्वा सहस्रमल्लेन सार्थवाहस्य वेषो गृहीतः, ततोऽसौ तस्याश्वव्यापारिणः समीपे प्राप्तः, तेनापि तस्यासनं दत्तं, तत्रोपविष्टोऽसौ विविधवार्त्तालापं कुर्वन् तस्मै व्यापारिणेऽवादीत् 'भो व्यापारिन् त्वया नगराद्बहिः कथं निवासः कृतः?' तेनोक्तं 'भो महाभाग! अस्माकं नगरमध्ये गृहं नास्ति, तेन नो बहिरेव निवासो भव्यः.' सहस्रमल्लेनोक्तं तर्हि त्वं मम गृहे समागच्छ? व्यापारिणोक्तं परगृहनिवासान्महती शंका स्यात्. चौरेणोक्तं सज्जनगृहे तिष्ठमानेन सज्जनेन कापि मनसि शंका न करणीया. शंकमानस्य सज्जनस्य सज्जनत्वं कृत्रिममेव गीयते, येन सार्द्धं च मनो मिलितं तस्य गृहे निवसने निजगृहवन्न कापि शंका करणीया.' तच्छ्रुत्वा तेनाश्वव्यापारिणा चिन्तितमहोऽस्य सज्जनत्वं विनयित्वं

चापूर्वं विलोक्यते. नूनमेषः कोऽपि सत्पुरुषोऽस्ति, अतो मयास्य प्रार्थनाभंगो न कार्यः, इति विचिन्त्य तेन तद्गृहगमनं स्वीकृतम्.

अथ सहस्रमल्लोऽग्रे भूत्वा कामपताकावेश्याया गृहे समागत्य तस्यै कथयामास, भो भो कामपताके ! अद्य महाधनी एको विदेशी अश्वव्यापारी तव गृहे निवासार्थमायाति, अतस्तस्य वासार्थं त्वं शीघ्रं गृहं देहि ? तच्छ्रुत्वा द्रव्याभिलाषिणी सापि हृष्टा सती सन्मुखं गत्वा तं व्यापारिणं महतादरेण निजगृहे प्रावेशयत्. भव्यस्थानके निजाश्वान् बद्ध्वा स तस्या गृहे सुखेनातिष्ठत्. अथ पुनः सहस्रमल्लो वेश्यासमीपे समागतः, तदा तयापि तस्मा आसनं दत्वा तत्पादक्षालनमारब्धं. तदा सहस्रमल्लेनोक्तं 'हे भद्रे ! सांप्रतं चरणक्षालनेनालं, अधुना मे राज्ञो मिलनाय मुहूर्त्तं वर्त्तते, अतो मुहूर्त्तं यावत्त्वाभरणानि मे समर्पय ? यथा तानि परिधाय राजानं मिलित्वा तत्क्षणमेवागत्य तेऽहं समर्पयामि. बहुद्रव्यप्राप्तिमनोरथैकमानसया तयापि तस्मै निजाभरणानि दत्तानि. ततोऽसौ तस्य व्यापारिणः पार्श्वे समागत्य कथयामास 'भो बांधव ! सांप्रतं मे राज्ञो मिलनाय मुहूर्त्तं वर्तते, अतस्तत्र गंतुकामोऽस्मि, ततो मुहूर्त्तं यावत्त्वाश्वमध्यात्मधानमेकमश्वं मह्यं देहि ? मुहूर्त्तांतरहं पश्चात्समेष्यामि.' तच्छ्रुत्वा विश्वस्तेन तेन व्यापारिणापि तस्मै प्रधानाश्वो दत्तः. अथ सहस्रमल्लस्तमश्वमारुह्याभरणभूषितो निजगृहे समागत्याभरणादि स्वजनन्यै समर्पयामास. इतो बहुवेलयापि तस्याऽनागमनेन विह्वलीभूतया कामपताकया राजद्वारे गत्वा कश्चित्पृष्टो, 'भो पुरुष ! अत्र कोऽपि तुरगारूढो व्यापारी समागतो न वा ?' तेनोक्तमत्र कोऽपि समागतो नास्ति. तदातीवव्याकुलया तया गृहे समागत्य सोऽश्वव्यापारी पृष्टः, 'अरे ! अधुनापि स कथं

नायातः ?' तेनोक्तं ' स तु ममाप्यश्वं गृहीत्वा गतोऽस्ति,' वेश्ययोक्तं ' अरे ! स वैधेयो ममाप्याभरणानि गृहीत्वा गतोऽस्ति, अरे नूनमावां द्वावपि तेन दुष्टेन मुष्टौ स्वः.' अथ ताभ्यां राज्ञोऽग्रे गत्वा स्ववृत्तांतो गदितः, क्रुद्धेन राज्ञा नगररक्षकमाकार्य प्रोक्तं, अथ त्वं पंचदिनमध्ये चौरं गृहीत्वा मे समर्पय ? तेनापि तत्प्रतिपन्नम्.

अथ चौरमाता तत्स्वरूपं विज्ञाय पुत्राय कथयामास. ' हे पुत्र ! अद्य तु राज्ञा त्वद्गृहणाय कोट्टपालो नियुक्तोऽस्ति, अतस्त्वया निजात्मा यत्नेन रक्षणीयः.' सहस्रमल्लेनोक्तं ' हे मातस्त्वया न भेतव्यं, अहं तस्यापि सर्वस्वं गृहीत्वा गृहे समेष्यामि. '

अथ स ब्राह्मणवेषं विधाय नगरमध्ये गतो देवकुलादिषु द्यूतं रमयामास. इतः कोट्टपालोऽपि तत्रागत्य तेन सार्द्धं द्यूतमरमत. हारितेन कोट्टपालेन तस्मै निजनामांकिता मुद्रिका दत्ता. इतो राज्ञो द्वारपालेन तत्रागत्य कोट्टपालायोक्तं राजा भवंतं शीघ्रमाह्वयति. तदा स दंडपाशिकोऽपि द्रुतं राज्ञः समीपे गतः.

इतः सहस्रमल्लोऽपि तलारक्षस्य गृहे गत्वा तद्भार्यायै कथयामास, ' हे भद्रे ! गृहमध्यात्सर्वं सारं धनं मे तूर्णं समर्पय ?' तयोक्तं ' त्वं केन प्रेषितोऽसि ?' तेनोक्तं ' कोट्टपालेन,' तयोक्तं ' स क्वाऽस्ति ?' तेन प्रोक्तं ' स तु राजपुरुषैर्दृढबंधनेन बद्ध्वा राज्ञः समीपे नीतोऽस्ति. ' मार्गे व्रजता तेन ममेत्युक्तं ' भो भद्र ! त्वं मम धनं गृहीत्वा त्वद्गृहे स्थापय ! यतो राजा ममोपरि रुष्टोऽस्ति. अभिज्ञानार्थं च तेनैषा निजनामांकितमुद्रिका मह्यं दत्तास्ति, अतस्त्वं विलंबं मा कुरु ?' मुद्रिकां विलोक्य भयभीतया तया तस्मै गृहसर्वस्वं समर्पितं. तद्गृहीत्वा सहस्रमल्लस्तु स्वगृहे समागतः.

अथ कियता कालेन स दंडपाशिकोऽपि निजगृहे समायातः, तदा तद्भार्यया प्रोक्तं 'हे नाथ! त्वं कथं मुक्तो जातः?' विस्मितेन तेनोक्तं 'केन बद्धोऽहं?' तयोक्तं 'राज्ञा,' तेन प्रोक्तं 'हे भद्रे! तवाग्रे तत्केन कथितं?' तयोक्तं 'त्वत्प्रेषितमनुष्येण, किंच तव हस्तमुद्रापि तेन मे दर्शिता, कथितं च गृहसर्वस्वं मे देहि? यथा मम गृहेऽहं तत्स्थापयामि.' तच्छ्रुत्वातीवदुःखितेन दंडपाशिकेनोक्तं 'रे मुग्धे! मया तु कोऽपि मुक्तो नास्ति, ध्रुवं तेन धूर्तेनाहमपि मुष्टः.' अथ खिन्नो दंडपाशिको राज्ञोऽग्रे गत्वा निजस्वरूपं निवेदयामास. राज्ञोक्तं 'अरे! यूयं सर्वेऽप्यथ दूरे तिष्ठत? अहं स्वयमेव तं चौरं गृहीष्यामि. चेत् स पाताले आकाशे वा समुद्रेऽपि यास्यति तदा ततोऽप्यहं तं गृहीष्यामि.' तच्छ्रुत्वा तलारक्षकेणोक्तं 'स्वामिन्नत्र कः संदेहः? यतो जलदे वर्षति दुर्भिक्षं कियत्कालं स्थास्यति?'

अथ पुत्रप्रेषिता जननी लोकमुखात्तत्स्वरूपं विज्ञायागत्य पुत्राय कथयामास, 'हे पुत्र! अथाद्य तव जीवितव्यस्य संशयो वर्त्तते, यतः कुपितेन राज्ञा स्वयं तव ग्रहणाय प्रतिज्ञा कृतास्ति. तच्छ्रुत्वा चौरेणोक्तं 'हे अम्ब! त्वया मनागपि न भेतव्यम्.'

अथासौ रजन्यामंगमर्दकवेषं कृत्वा नृपद्वारे गत्वा द्वारपालं प्रति वदति, 'भो द्वारपाल! त्वं गत्वा राज्ञे कथय? यदेशांतरात्कोऽपि कलाकुशलोंगमर्दकः समागतोऽस्ति, द्वारि च तिष्ठति, यद्याज्ञा चेत्तर्हि समागच्छेत्.' तच्छ्रुत्वा द्वारपालेन गत्वा राज्ञे तन्निरूपितं, राज्ञोक्तं 'तं शीघ्रं मध्ये प्रवेशय?'

अथ तेन प्रवेशितः सहस्रमल्लो राज्ञोऽग्रे गत्वा विनयेन कथयामास 'भो राजन् त्वं मे कलाकौशलं पश्य?' इत्यु-

क्तेन राज्ञा निजाभरणानि समुत्तार्य पार्श्वे स्थापितानि, ततोऽसौ पल्यंकोपरि सुप्तः. अथ चौरेण तस्यांगमर्दनं निजकलया तथा प्रारब्धं यथा द्रुतमेव राज्ञो निद्रा समागता. एवं तं सुखप्रसुप्तं विज्ञाय तदाभरणानि गृहीत्वा स द्रुतं राजमंदिरान्निर्गतः. द्वारपालेनापि सोऽमर्दको विज्ञाय न निवारितः. एवं स गृहे समागत्य तान्याभरणानि निजमात्रेः समर्पयामास.

अथ प्रगे प्रबुद्धो राजांगमर्दकमाभरणानि चाऽदृष्ट्वा विलक्षीभूतः प्रातःकृत्यानि कृत्वा गतप्रमोदः सभायामागत्योपविष्टः.

इतः सामंतामात्यादयः सर्वेऽपि तत्र समागताः- राज्ञो मुखाकृतिं दृष्ट्वामात्येन पृष्टं 'हे स्वामिन्नद्य यूयं कथं विलक्षभूताः स्थ?' तदा राज्ञा सर्वोऽपि रात्रिवृत्तांतः कथितः. अमात्येनोक्तं 'स्वामिन्नेष चौरः कोऽपि गूढमतिर्दृश्यते, अतस्तस्य ग्रहणे कोऽप्युपायः क्रियतां?' राज्ञोक्तमथ क उपायः कार्यः? मंत्री प्राह 'स्वामिन् धर्माचार्यानाहूय तेषां मंत्रादिज्ञानबलेनास्य चौरस्य शुद्धिः कार्या.' राज्ञापि तत्प्रतिपन्नं. अथ मंत्रिणाहूतो जिनचंद्राभिधः श्वेतांबरो मुनिर्जिनरक्षिताख्यश्राद्धेन सह राज्ञः सभायां समागत्य धर्मलाभं दत्तवान्. राज्ञापि वंदनपूर्वं तस्मै आसनं प्रदत्तं, ततस्तत्रोविष्टं मुनिं प्रति मंत्री प्राह 'हे भगवन्! कश्चिच्चौरो नित्यं नगरीं मुष्णाति, अतो यूयं ज्ञानबलेन विलोक्य तं प्रकटं कुरुत?' तदा मुनिनोक्तं 'भो मंत्रिन्नेष ह्यस्माकमाचारो नास्ति.' तच्छ्रुत्वा मंत्रिणोक्तं 'भो मुने राज्ञो वचनेन त्वयाऽनाचारोऽपि कर्त्तव्यः.' इतस्तेन जिनरक्षितश्रावकेण कथितं मम पार्श्वे एको मंत्रोऽस्ति, तेन ज्ञात्वाहं कथयिष्यामि. मंत्रिणोक्तं तर्हि त्वमेवैतत्कार्यं कुरु? ततो विसृष्टा गुरवो निजस्थाने गताः,

अथ स चौर एतद्वृत्तांतं विज्ञाय कपटश्रावकीभूयोत्तरासंगं विधाय पुष्पभृत्करंडकं करे कृत्वा चैत्यवंदनां कुर्वन् क्रमेण

श्रीवीरजिनमंदिरे प्राप्तो जिनरक्षितश्राद्धेन दृष्टः साधार्मीकरागेण भाषितश्च. 'भो श्राद्धोत्तम ! त्वं कुतः समागतः ? कुत्र च गमिष्यसि ?' तेनोक्तं 'जिनदासाख्यः श्राद्धोऽहमस्मि, चंपानगर्यां च वसामि, मे चारित्रग्रहणमनोरथो वर्त्तते, सांप्रतं तीर्थयात्रां करोमि, श्रीशत्रुंजयरैवतगिरिसम्मेतशिखरमथुरायोध्याकलिकुंडादिस्थानेषु तीर्थयात्रां विधायाधुनात्र समागतोऽस्मि.' तच्छ्रुत्वा जिनदत्तस्तं वंदित्वा प्रशशंस, 'भो श्राद्धोत्तम ! त्वं धन्योऽसि कृतपुण्योऽसि, त्वज्जीवितं च सफलं जातमस्ति, यज्जिनदर्शने तवेदृशी मतिर्वर्त्तते किंच भो श्राद्ध ! अद्य त्वया मद्गृहे चैत्यवंदनं कार्यमित्युक्त्वा जिनरक्षितस्तं निजगृहे समानयत्. तत्र चैत्यवंदननकरणानंतरं तेन स निमंत्रितो 'भो श्राद्ध ! अद्य त्वया मद्गृहे भोजनं कार्यम्।' तेन धूर्त्तेनोक्तं 'परगृहे मे भोजनं कर्त्तुं युक्तं न.'

जिनरक्षितोऽवादीत् 'भो श्राद्ध ! जिनधर्मवासितांतःकरणैर्निजगृहपरगृहांतरं न गणनीयं.' तच्छ्रुत्वा तेनापि तस्य गृहे भोजनकरणं प्रतिपन्नं. ततो जिनरक्षितेनोक्तं 'भो श्राद्धोत्तम ! भवतो यावदत्र स्थिरता भवेत्तावन्मम गृहे एव भवद्भिर्भोक्तव्यं शयनीयं च,' धूर्त्तेनापि तस्य महताग्रहेण प्रतिपन्नं. ततो जिनरक्षितेनोक्तं 'भो श्राद्ध अद्य राज्ञा मम चौरविलोकनार्थमादेशो दत्तोऽस्ति. तेनाहं स्वयं मंत्रजापं करोमि, त्वं चात्र पल्यंके सुखेन शयनं कुरु ? इत्युक्त्वा स एकांते गत्वा मंत्रजापमकरोत्. ततोऽवसरं प्राप्य सहस्रमल्लस्तद्गृहसारं सर्वं मुषित्वा नष्टः. प्रत्यूषे च गृहं मुषितं ज्ञात्वा जिनरक्षितेन तत्स्वरूपं राज्ञे निवेदितं,

ततो नृपादेशेन मंत्रिणा विमलकीर्त्तिनामा दिगंबराचार्यः समाकारितः, सोऽपि तत्रागत्य धर्मवृद्धिर्भवत्विति कथ-

यित्वा नृपदत्तासने समुपविष्टः. तदा मंत्रिणा तस्मै प्रोक्तं ' भो आचार्य यूयं भवतः कैवलिकायां विलोक्य चौरस्वरूपं प्रकटयत ?' तेनोक्तं निशायां विलोक्य कथयिष्यामि. ततो राज्ञा विसृष्टोऽसौ निजस्थानके समागतः.

अथ तं व्यतिकरं विज्ञाय सहस्रमल्लो विमलकीर्त्तिपार्श्वे समागत्य मुनीन् वन्दयामास. मुनिभिरपि धर्मवृद्धिर्भवत्विति निगदितं. तत ऋषिणा पृष्टं ' कोऽसि त्वं ? कुतश्च समायातः ?' तेनोक्तं ' श्वेतांब्या अहं समागतोऽस्मि, संसारभयादुद्विग्नो भवत्समीपे च प्रव्रज्याग्रहणोत्सुकोऽस्मि.' मुनिनोक्तं ' तर्हि त्वमत्र कतिचिद्दिनानि छात्रत्वेन तिष्ट ? पश्चाद् ज्ञास्यते.'

अथ मुनिना रात्रौ चौरज्ञानार्थमेकांते गत्वा मंत्रजापः प्रारब्धः, शिष्याणां च निद्रा समागता. ततोऽसौ सहस्रमल्लो यत्किंचिच्चैत्यमध्ये आसीत्तत्सर्वं गृहीत्वा पलायितः. इतः पाश्चात्यरात्रौ जागरिताः शिष्यास्तं नवीनं छात्रमपश्यंतो गुरुभ्यस्तन्निवेदयामासुः. गुरुणोक्तं विलोक्यतामुपकरणादिकमस्ति न वा ? तैर्विलोक्योक्तं ' हे भगवन् ! भवत उपकरणादिकं किंचिदपि नास्ति.' तच्छ्रुत्वा गुरुणोक्तं ' हा हा धिग् धिग् तेन धूर्त्तेन वयमपि विगुप्ताः' ' कट्ठं रे कट्ठं नट्ठं रे सव्वमवि नट्ठं ' इत्युक्त्वा मूर्छया स धरित्र्यां पतितः, शिष्यैश्च शीतलोपचारैः सावधानीकृतः, ततस्ते शिष्या अंजलिपूर्वकं गुरून् विज्ञपयामासुः ' हे भगवन् ! भवद्भयो नमोऽस्तु, प्रसादं कृत्वा कथ्यतां ? भवतः किं बहुमूल्यं वस्तु तेन चौरेण गृहीतं, येन भवतो मूर्छा समागता.' दिगंबराचार्यो ऽवादीत् ' भो शिष्य मम उपध्यंतर्गोपितानि विंशति दीनाराणि गतानि, एवं तेन पापिष्टेन तस्करेण धनं हरता मम प्राणा अपि हृताः. तदा गुरोः खेददूरीकरणार्थं वृद्धशिष्येणोक्तं ' हे भगवन् ! चंद्रगृहस्थस्य जलधौ प्रवहणे भग्ने तस्य सर्वं धनं गतं, तेन विषादपरस्य तस्य यया गाथया भवद्भिर्धर्मोपदेशो दत्तस्तां

गाथां कृपां विधाय कथयत ? गुरुरुवाच—

**[1]फलसंपत्तीए समो। गयाइं तुंगाइं फलविवत्तीए॥ हिअया सुपरिसाणं। महातरूणं व सिहराइं ॥१॥**

ततो गुरुणोक्तं 'हे वत्स ! त्वयाहं सम्यक् स्मारितः, अथ मयापि विषादस्त्यक्तः. ततोऽसौ दिगंबराचार्यः शिष्ययुतो राजद्वारे गतः, राज्ञापि वंदनपूर्वकं तस्यासनं दत्तं. अमात्येनोक्तं ' भगवन्नद्य यूयमुपकरणरहिताः कथं समागताः ?' गुरुणोक्तं ' तेन चौरेण वयमपि मुषिताः, अस्माकमपि सर्वस्वं गृहीत्वा स पलायितः.' ततो राज्ञा विसृष्टः स दिगंबराचार्योऽपि स्वस्थाने समागतः।

अथ मंत्रिणा चौरस्वरूपज्ञानाय नारायणाभिधश्चतुर्वेदपारंगामी सन्यासी समाकारितः, सोऽपि तत्रागत्य राज्ञे चाशीर्वादं दत्वा नृपदत्तासने समुपविष्टः, मंत्रिणोक्तं ' भो सन्यासिन् ! ज्ञानेन विलोक्य तस्करस्वरूपं कथयत ?' तेनोक्तं मंत्रबलेन विलोक्य कथयिष्यामि.' ततो राज्ञा कृतसन्मानः स सन्यास्यपि स्वस्थाने समागतः.

अथ जननीमुखात्तद्वृत्तांतं श्रुत्वा सहस्रमल्लो बटुकब्राह्मणवेषं विधाय नारायणपार्श्वे समागतः, नारायणेन पृष्टं 'कोऽसि त्वं ? कुतश्चात्र समागतः ?' तेनोक्तं विप्रोऽहमस्मि. भवतश्च वेदपारगान् श्रुत्वा भवत्समीपे वेदपाठाय समागतोऽस्मि.' सन्यासिनोक्तं ' त्वया सुखेनात्र स्थितेन वेदपाठः, कर्तव्यः अन्यत्र कुत्रापि न गंतव्यमि' त्युक्त्वा तेन स भोजितः. दिवसे तद्विनयतुष्टेन सन्यासिना रात्रौ स निजाश्रमे शयनं कारितः, स्वयं चैकांते गत्वा मंत्रजापमकरोत्. सर्वेषु शिष्येषु सुप्तेषु

१ फलसंपत्त्या समः गतायां तुङ्गानि फलविवर्त्या हृदयानि सुपुरुषाणां महातरूणां च शिखराणि

सहस्रमल्ल आश्रमसारं सर्वं गृहीत्वा रात्रावेव पलायितः. प्रभाते निजाश्रमं मुषितं विज्ञाय सन्यासी राज्ञोऽग्रे गत्वा निजवृत्तांतं कथयामास.

अथ राजा तमपि विसर्ज्य शिवधर्माभिधं शिवोपासकं विप्रं समाहूय चौरगवेषणार्थं कथयामास. तेनाप्युक्तं 'प्रभाते ज्ञानेन ज्ञात्वा कथयिष्यामि.' ततो राज्ञा सन्मानपूर्वकं विसृष्टोऽसावपि निजस्थाने समागतः. जननीमुखात्तत्स्वरूपं ज्ञात्वा स नवीनं वेषं विधाय शिवाचार्यसमीपे समागतः. 'ॐ नमः शिवायेति' कथयित्वा हस्तौ संयोज्योवाच 'हे भगवन् यद्यहं शिवधर्मयोग्यः स्यां तर्हि मे भवद्दीक्षा दीयतां ?' आचार्येणापि 'धर्मस्य त्वरिता गतिः' इति स्मृत्वा स द्रुतं दीक्षितः.

अथ रजन्यां तस्मिन्मंत्रजापोद्यते शेषेषु शिष्येषु सुप्तेषु स मठसारं गृहीत्वा पलायितः. प्रभाते सोऽपि नृपसमीपे गत्वा निजवृत्तांतं कथयामास. राज्ञापि सविसृष्टो निजमठे गतः.

अथ मंत्री मंज(जु)श्रीनामानं बौद्धाचार्यमाकार्य चौरगवेषणकृते तथैव कथयामास. तेनाप्युक्तं 'मम ज्ञानेन ज्ञात्वा नूनमहं प्रगे तत्स्वरूपं कथयिष्यामि. राज्ञा विसृष्टः सोऽपि निजस्थाने समागतः. तद्वृत्तांतं विज्ञाय सहस्रमल्लोऽपि बौद्धश्रावकवेषं विधाय तत्समीपे समागत्य वंदित्योपविष्टः. तदाचार्येणोक्तं 'भो श्रावक त्वं कुतः समागतोऽसि ? तेनोक्तमहं दक्षिणदेशतः समागतोऽस्मि, अद्य च मया नियमः कृतोऽस्ति, यद्भिक्षुकेभ्यो भोजनं दत्त्वैव मया भोक्तव्यं.' आचार्येणापि तत्प्रतिपन्नं. ततोऽसौ कांदविकापणतो मोदकघृतपूरादिस्वादिष्टभोजनानि लात्वा सर्वेभ्यो बौद्धभिक्षुकेभ्यो भोजयामास. तेन च ते सर्वेऽपि तस्योपर्यतीव प्रसन्ना बभूवुः. अथ रात्रौ गुरौ मंत्रजापे समुद्यते सति शिष्यैस्तस्मै भक्तिमते श्राद्धाय पृष्टं, 'भो

श्राद्धोत्तम ! अद्य त्वं कुत्र शयनं करिष्यसि ? तेनोक्तमद्य तु भवत्पादमूलेऽत्रैव शयनं करिष्यामि. तैरपि तत्प्रतिपन्नं. अथ तेषु सर्वेषु सुप्तेषु सोऽपि तद्विहारसर्वस्वं मुषित्वा स्वगृहे गतः, प्रगे विहारं मुषितं विज्ञाय बौद्धाचार्यो विषण्णो नृपसमीपे गत्वा सर्वं वृत्तांतं कथयामास. ततोऽसावपि विसृष्टो निजस्थाने गतः.

अथ मंत्री कपिलभक्तं परमहंसनामानमाचार्यमाहूय चौरप्रकटनार्थं कथयामास. सोऽपि प्रभाते कथयिष्यामीत्युक्त्वा स्वस्थाने समागतः. अथ तत् वृत्तांतं विज्ञाय सहस्रमल्लोऽपि कुलपुत्रकवेषं कृत्वा तत्रागत्य स्वर्णपुष्पैश्च परमहंसपादौ पूजयित्वा तच्चरणयोः पतितः. कथितं च तेन 'हे भगवन् ! भवत्समीपेऽहं ध्यानाभ्यासं कर्तुमिच्छामि.' गुरुणोक्तं 'भो उत्तम ! प्रथमं त्वं मम हंसाभिधशिष्यपार्श्वे तदभ्यासं कुरु ?' ततोऽसौ तस्य समीपे गतः, हंसेनोक्तं ध्यानाभ्यासो रजन्यामेव स्यात्.

अथ रात्रौ स परमहंसो मंत्रजापे स्थितः, सहस्रमल्लोऽपि हंसकथितलेशमात्रध्यानाभ्यासे स्थितः. ततः सर्वेषु सुप्तेषु स सर्वं मुषित्वा स्वगृहे गतः. प्रभाते परमहंसेन तत्स्वरुपं विज्ञाय राज्ञे प्रोक्तं, ततो राज्ञा विसृष्टोऽसावपि स्वस्थाने समायातः.

अथ मंत्री सुरप्रियनामानं भूतवादिनं पाखंडिनमाह्वयामास. सोऽपि नृपसमीपे समागतः. राज्ञा तस्मै प्रोक्तं 'प्रथमं त्वं स्वमतं प्रकटय ?' तेनोक्तं 'पुण्यं पापं जीवः परलोको मुक्तिर्वा किमपि नास्तीत्यस्माकं मतं वर्त्तते.' ततो नृपदत्तासनोपविष्टाय तस्मै मंत्रिणा चौरप्रकटनार्थं कथितं, तेनोक्तं प्रभाते मंत्रादिना विलोक्य कथयिष्यामि, अथ राज्ञा विसृष्टः

सोऽपि स्वस्थाने समायातः. अथ सहस्रमल्ल एतद्व्यतिकरं विज्ञायैकाया नवयौवनाया दिव्यरूपाया वेश्यायाः समीपे गतः, तस्यै कर्पूरमिश्रितं तांबूलं दत्वा तेन कथितं चेत्त्वं मम कार्यं करोषि तर्हि ते दश दीनाराणि बहुमूल्यवस्त्राणि च दास्यामी त्युक्तया तयापि लोभेन तत्प्रतिपन्नं. ततस्तेनोक्तं त्वया मया सह समागत्य यदहं वदामि तत्सर्वं मौनेन कर्त्तव्यं. अथ तत्प्रतिपत्त्यनंतरं स तां लात्वा तस्य सुरप्रियस्य समीपे गतः, तं नमस्कृत्याग्रे चोपविश्य कथयामास 'हे भगवन् ! एषा मम भगिनी भवत्समीपे दीक्षितुं समीहते, तद्रूपादिमोहितेन तेनोक्तं युक्तमिदमस्ति, परमस्मद्दीक्षाया एवंविध आचारो वर्त्तते.

'प्रथममेकः पशुर्हन्तव्यः, ततो मया सह मद्यपानमेकभाजने कर्त्तव्यं, निजपतिरिवाहं तया द्रष्टव्यः. तेनोक्तं मम भगिनी तत्सर्वं करिष्यति. ततस्तेन स सर्वोऽपि विधिः कृतः, ततस्तयाचार्येण शिष्यैश्च सह रात्रौ मद्यपानं कृतं. अतिमद्यपानात्सर्वेऽपि विकलत्वं प्राप्ताः, नष्टविवेका वस्त्राणि विधूय धरित्र्यां पतिताः, तदा सहस्रमल्लस्तन्मठसर्वस्वं मुषित्वा स्वगृहे समागतः. प्रभाते स सुरप्रियो लब्धचेतनो नृपाग्रे गत्वा सकलं निजोदंतं कथयामास. ततो राज्ञा विसृष्टः सोऽपि निजस्थाने गतः.

एवं स्तोकेनापि कालेन तेन सर्वं नगरमपि मुषितं. राजा चिन्तातुरो जातः, सर्वे मंत्रिणोऽपि तद्ग्रहणे मतिरहिता जाताः. सहस्रमल्लस्तु बहुजीववधं करोति, परकलत्राणि भुनक्ति, परं तं गूढमायाविनं न कोऽपि जानाति, एवं स नित्यं नरकगतिप्रायोग्यानि कर्माणि करोति.

अथैकदा तत्र नगरे विशुद्धाभिधः केवली समागतः, तद्वंदनार्थं राजाद्याः सर्वे लोकास्तत्र समागताः, सहस्रमल्लो-

ऽपि वेषांतरं विधाय तत्रायातः. अथ भगवता देशना दत्ता, यः परजीवं विनाशयति, मृषावादं जल्पति, परधनानि हरति, परकलत्राणि च सेवते, महारंभं च करोति स मृत्वा नूनं महानरके गत्वा तत्र तीव्रवेदनां सहते. तच्छ्रुत्वा सहस्रमल्लश्चिन्तयति धिग् धिग् एतानि सर्वाणि कर्माणि मया कृतानि, तेन ध्रुवमागामि जन्मनि मम नरकावासो भविष्यति. अथ निश्चयेनैतस्माद्घोरपापादसौ साधुरेव मां तारयिष्यति, अतोऽस्य पादयोरेव शरणं करोमि.

अथ ते नगरलोकाः सर्वेऽपि धर्मं श्रुत्वा स्वस्वस्थानके गताः, तदा सहस्रमल्लो भवोद्विग्नः सन् केवलिनमेवमवादीत्, 'हे भगवन् जगति तत्कुकर्म नास्ति यदद्यावधिपर्यंतं मया न कृतं, अथ सांप्रतं भवतामुपदेशश्रवणेनाहं भवादुद्विग्नोऽस्मि. यदि योग्योऽहं तर्हि मे जिनदीक्षां यच्छत ?' केवलिनोक्तं 'भो सुंदर! तर्हि त्वं मा प्रतिबंधं कुरु ? योगशुद्धिं विधायात्मानं निर्मलं कुरु ?' सहस्रमल्लेनोक्तं भगवन् राजा ममोपरि कुपितोऽस्ति, ततोऽन्यत्र गत्वा मां दीक्षत ?' केवलिनोक्तं 'भद्र ! त्वया न भेतव्यं, प्रभाते च त्वया पुनरत्रागंतव्यं, राज्ञि चात्र समागते सर्वं भव्यं भविष्यति.'

अथ प्रभाते नृपतिर्नगरलोकयुतः पुनः केवलिवंदनार्थं तत्र समागतः, चौरोऽपि समागत्य केवलिपार्श्वे समुपविष्टः. केवलिना देशना प्रारब्धा, नृपादीनामतीतानागतवर्त्तमानकालविषयाः संदेहा दूरीकृताः.

अथ राजा केवलिनमपृच्छत् 'हे भगवन् स तस्करः कुत्रास्ति ?' केवलिनोक्तं 'हे राजन् ! सोऽधुना तव वामपार्श्वे स्थितोऽस्ति, अथाधुनाऽस्योपरि त्वया कोपो न कर्तव्यः, अथैतस्य मनः कुकर्मकरणतो निवर्त्तितमस्ति, कृतकर्मविनाशार्थं स चारित्रग्रहणस्पृहयालुर्वर्त्तते. ततो मोक्षमार्गे प्रस्थितस्यास्य त्वं सान्निध्यं कुरु ?' राज्ञोक्तं 'हे भगवन् यथा भवदाज्ञा

तथाहं विधास्ये.' ततः सहस्रमल्लो राज्ञा सह निजगृहे समागत्य सर्वं धनं निजं निजं लोकेभ्यः समर्पयामास. ततोऽसौ जननीयुतः केवलिनः समीपे समागत्य दीक्षां जग्राह.

ततस्तेन गुरुभ्यो विज्ञप्तं ' हे भगवन्! भवदाज्ञा चेत्तर्हि यावज्जीवमहं मासक्षमणाभिग्रहं गृह्णामि. गुरुणापि तं योग्यं ज्ञात्वा तथाकरणायाज्ञा दत्ता. एवं स नृपादिभिः प्रशंसितो द्विविधशिक्षां गृहीत्वा जितेंद्रियो जातः, क्रमेण तपस्तप्यमानेन तेन दुर्गतिहेतुकं कर्म क्षयं नीतं, शुभध्यानाग्निना कर्मेंधनानि भस्मसात्कृत्वा क्रमेणासौ लोकालोकप्रकाशकं केवलज्ञानमुपार्जयामास. सुरकृतकनककमलोपविष्टश्च स दयाप्रधानं जिनधर्मोपदेशं लोकेभ्योऽकथयत्, ततः कियत्कालं पृथिव्यां विहृत्य योगनिरोधेन शैलेशीकरणेन स मुक्तिं ययौ.

एवं घनघोरकर्मकर्ता स सहस्रमल्लोऽपि जिनधर्मादरेण संसारादुद्धृतः, तस्माद् भो भव्या यूयं भावपूर्वकं जिनधर्मं कुरुत ?

॥ इति सहस्रमल्लकथा समाप्ता ॥ श्रीरस्तु ॥

अथ स चुलनीपितैवं धर्मोपदेशं श्रुत्वानंदतस्तत्सम्यक्त्वसहितं श्राद्धधर्मं जग्राह. आत्मानं च कृतार्थं कृतपुण्यं च मन्यमानो जिनं नत्वा स स्वगृहे समागत्य निजभार्यायै कथयामास, ' हे भद्रे ! मयाद्यालब्धपूर्वो जिनधर्मो लब्धः, अतस्त्वमपि प्रभुपार्श्वे गत्वा तं जिनधर्मं लभस्व ?' तच्छ्रुत्वा प्रमुदिता सापि जिनपार्श्वे गत्वा प्रभुं च नत्वा श्रावकधर्मं स्वीकृत्य गृहे समागता. एवं तस्य श्राद्धधर्मं पालयतश्चतुर्दश वर्षाणि गतानि,

अथैकदा स चुलनीपिता निजहृदि चिन्तयति इयत्कालं यावन्मया कुटुंबभारो निर्वाहितः, अथाधुना प्रतिमारूपं

श्रावकधर्मं समाराधयामि. यतः—

कालक्षेपो न कर्त्तव्य, आयुर्याति दिने दिने । न करोति यमः क्षांतिं, धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥१॥

इति विचिन्त्य स पौषधशालायां गत्वा सर्वाः प्रतिमा भावेन वहतिस्म.

अथान्यदैकः सुरः खड्गं करे धृत्वार्द्धरात्रौ तस्याग्रे प्रकटीभूयैवमवादीत् ' रे चुलनीपितश्चेदद्य त्वं श्रावकधर्मं पौषधव्रतं च न त्यजसि तदाहं तव ज्येष्ठपुत्रमत्रानीय तव समीपे मारयित्वा तस्य मांसं शूलाप्रोतं विधायाग्नितप्ततैलकटाहे क्षेप्स्यामि, तस्य रुधिरेण च तव शरीरे सेचनं करिष्यामि,' एवं च त्वमार्त्तध्यानादकालमरणेन मृत्वा दुर्गतिं यास्यसि.

एवं द्वित्रिवारं तद्वचनानि श्रुत्वापि निर्भयोऽसौ यावन्निजध्यानान्न चलति तावत्क्रोधातुरः स देवस्तस्य ज्येष्ठपुत्रं तद्गृहादानीय तन्मासं शूलायामारोप्य तप्ततैलकटाहे पाचयामास, तद्रुधिरेण च तस्य चुलनीपितुः शरीरमसिञ्चत्, तथापि स निजध्यानान्न चलितः. ततोऽसौ देवस्तथैव द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं पुत्रं च तस्य तत्र समानीय तथैव कृतवान्. तद् दृष्ट्वापि चुलनीपिता तु तथैव प्रत्युताधिकतरं धर्मध्याने तत्परो बभूव. तदातीवकुपितेन तेन देवेनोक्तं ' रे दुष्ट ! सांप्रतमपि चेत्त्वं तव पौषधव्रतं न त्यक्षसि तर्हि तव जननीं भद्रामत्रानीय त्वदग्रे मारयिष्यामि, तस्या अपि मांसं कटाहे क्षिप्त्वा तद्रुधिरेण तव शरीरे सेचनं करिष्यामि, एवं चार्त्तध्यानेन निश्चितं त्वं दुर्गतिं यास्यसि. तच्छ्रुत्वा स चुलनीपिता निजमनसि चिन्तयति अरे ! एषः कोऽप्यनार्यो दुष्टो मनुष्यो ज्ञायते येन पापिना मम पुत्रा हतास्तेषां मांसं च पाचितं, तद्रुधिरेण चाहं सिक्तः.

अथैष दुष्टस्तीर्थरूपां मे मातरमपि मारयिष्यतीति चिन्तयन् यावदसौ स्थितस्तावत्स देवस्तस्य मातरमपि तत्रानीय हंतुमुद्यतोऽभवत्. तद् दृष्ट्वा चुलनीपिता तस्य निग्रहार्थं तत्पृष्टे धावितः, तत्क्षणमेव स देवोऽपि विद्युद्वदाकाशे समुत्पतितः. तदा स चुलनीपिता कोलाहलं कर्तुं लग्नः, तत् श्रुत्वा तन्माता भद्रा तत्रागत्य तमवदत् 'हे पुत्र ! त्वं कोलाहलं कथं करोषि ?'

तदा तेन सर्वोऽपि रजनीवृत्तान्तस्तस्या अग्रे निरूपितः, तच्छ्रुत्वा तयोक्तं हे पुत्र ! केनापि देवेन दानवेन वा तवायमुपसर्गः कृतोऽस्ति, तव चत्वारोऽपि पुत्रा गृहमध्ये सुखसुप्ताः संति, अतस्त्वमेतत्सर्वं सुरकृतोपसर्गमेव जानिहि ? अतो भग्नव्रतस्त्वं गुरुसमीपे गत्वालोचनां कुरु ?' ततोऽसौ जननीवचनं तथेति मत्वा गुरुपार्श्वे समालोच्य प्रतिक्रम्य च तपोविषये सावधानोऽभूत्.

एवमानंदवदेकादश प्रतिमाः समाराध्य संलेषणां च कृत्वा, सर्वजीवांश्च क्षामयित्वा शुभध्यानं ध्यायन् अनशनं विधाय मृत्वा सौधर्मदेवलोकेऽरुणप्रभविमाने चतुःपल्योपमायुः स देवो जातः. तच्छ्रुत्वा श्रीगौतमस्वामी श्रीवर्द्धमानस्वामिनं पृच्छति हे भगवन् ! स चुलनीपिता ततश्च्युत्वा क्व यास्यति ?' प्रभुणोक्तं 'भो गौतम ! स ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यति,' इति चुलनीपितुश्चरित्रं श्रुत्वा जंबूस्वामी संवेगं प्राप्य सुधर्मस्वामिनं वंदते नमस्करोति च.

इति श्रीवर्द्धमानदेशनायां वाचनाचार्यश्रीरत्नलाभगणिशिष्येण श्रीराजकीर्त्तिगणिना गद्यबंधेन प्रणीतायां चुलनीपिताश्रावकप्रतिबोधो नाम तृतीय उल्लासः समाप्तः ॥ श्रीरस्तु ॥

# अथ चतुर्थोल्लासः

## ॥ श्री सुरादेवश्राद्धचरितम् ॥

अथ श्रीसुधर्मस्वामी जंबूस्वामिपुरतः सुरादेवश्राद्धस्य चरित्रं कथयति. अस्मिन् जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे वाराणस्यभिधा नगरी वर्त्तते. तत्र कोष्टकाभिधयक्षस्यैकं चैत्यं वर्त्तते, तस्यां नगर्यां जितशत्रुनामा राजा राज्यं करोति. तत्र चैकः सुरादेवाख्यः श्रेष्ठी वसति, सोऽतीवधनवानस्ति. तस्य व्यापारे भूमिनिधाने च षट्षट्कोट्यः स्वर्णस्य संति, षट् च गोकुलानि तस्य गृहे वर्त्तंते. धन्नेत्यभिधा तद्भार्यास्ति.

अथैकदा श्रीवर्द्धमानस्वामी तत्र कोष्टकचैत्ये समवसृतः, पर्षदो मिलिताः, प्रभोरागमनं श्रुत्वा स सुरादेवो गृहपतिरपि प्रभोर्वंदनार्थं तत्र समायातः. प्रभुर्धर्मदेशनां ददाति, भो भो भव्या यूयं सर्वादरेण धर्मं कुरुत ! यतो धर्मादेव जीवः संसारे सुखी भवति तस्मात्सुखार्थिभिर्धर्मविषये आलस्यं न कर्त्तव्यं. घनविघ्नसमुद्रे पतिता अपि प्राणिनो धर्मेणोद्धरिताः संतो धिष्टवत् सुखिनो भवंति. तच्छ्रुत्वा सुरादेवेन पृष्टं 'हे भगवन् कोऽसौ धिष्टः ? कथं च स विघ्नसमुद्रं तीर्त्वा सुखस्थानं प्राप्तः ? भगवानाह 'भो सुरादेव ! त्वं सावधानमना लोके महाश्चर्यकारकं तस्य चरित्रं शृणु ?

अस्मिन्नेव जंबूद्वीपे भरक्षेत्रेऽवंतीदेशे धारापुर्यभिधा नगरी वर्त्तते, तत्र सूराभिधो धनवान् राजपुत्रो वसति, तस्य चतुराभिधा च भार्या वर्त्तते, सातीवप्रचंडा कटुकभाषिणी नित्यं निजपतिं कटुवचनैः संतापयति. अथैकदा तेन सूरेण

मनसि चिन्तितमनया भार्यया मे किं प्रयोजनं ? यतः पुरुषेण दुष्टा भार्या विघ्नकारिणी विद्या च त्याज्ये. इति ध्यात्वा स द्वितीयभार्याकरणार्थं नित्यं नगरे ग्रामेषु च विलोकयति.

अथवंत्यां नगर्यामेका वृद्धा निजयौवनोपेतया पुत्र्या सह वसति, सूरस्तस्या अग्रे तत्पुत्रीं प्रार्थयामास. वृद्धयोक्तमेतां मे पुत्रीं तव दास्यामि, परमहमपि तव गृहे समेष्यामि, यतोन्यथा मम गतिर्नास्ति. सूरेणापि तत्प्रतिपन्नं ततोऽसौ तां परिणीय वृद्धया युतो निजगृहे समाययौ. अथ खिन्ना सा चतुरा निजसपत्नीभावेन तया सह कलहं करोति. तदा सूरेण सा नवपरिणीता सुंदरी पृथग्गृहे रक्षिता, तदा सा चतुरा तस्या गृहे गत्वा तस्यै दुष्टगालिमयच्छत्. एवं ते द्वे अपि नित्यं दंतादंति मुष्टामुष्टि नखानखिप्रभृति युद्धं कुरुतः. जनैर्निवारितापि सा दुष्टा चतुराधिकतरं कलहं करोति.

अथोद्विग्नेन सूरेण सा सुंदरी चतुरागृहतो दशक्रोशान् दूरे ग्रामांतरे तज्जननीयुता स्थापिता. ततश्चैकदा सूरेण चतुरायै कथितं, अद्याहं सुंदर्या गृहे गच्छामि, चतुरयोक्तं 'हे स्वामिन्! तत्र गत्वा त्वया निजप्रियां भार्यां सुंदरीं दानमानभोगादिभिः प्रीणयित्वा पुनस्त्वरितमत्रागंतव्यमित्युक्त्वा तया दुष्टया मंत्रितचूर्णमिश्रिता मोदकास्तस्मै मार्गे संबलार्थं दत्ताः.

अथ हृष्टोऽसावपि संबलयुतस्ततश्चलितः, अंतरा च नदी समागता, तत्र मुखधावनस्नानकरणानंतरं तेन संबलं भक्षितं. तत्प्रभावात्तत्क्षणमेव स श्वा बभूव, पश्चाद्धावित्वा च गृहे समागतः, तदा सा दुष्टा चतुरा तं दृढबंधनैर्बध्वा निबिडं ताडयंती कथयामास 'रे दुष्ट! किमथ यास्यसि पुनरपि सुंदरीगृहे?' ततस्तं मृतप्रायं ज्ञात्वा तं पुरुषरूपं विधाय साऽमुञ्चत्, ततस्तत्कृतविविधौषधोपचारैः स पटुशरीरो जातः. मासांते पुनरपि तेन चतुरांप्रत्युक्तमथाहं सुंदरीगृहे यामि ततः संबलं

कुरु ? ततस्तया दुष्टयापि तस्मै करंबः समर्पितः तं गृहीत्वा स ततश्चचाल, मार्गे च तस्या एव नद्यास्तीरे स भोक्तुमुपविष्टः, तावत्तत्र महाजटाधारी कोऽपि सन्यासी समागत्य तमुवाच, भो सत्पुरुष ! दिनद्वयादहं क्षुधितोऽस्मि ततो मे करंबं देहि ?' तेनापि सर्वः करंबस्तस्मै दत्तस्तेन च भुक्तः, तत्क्षणमेव स सन्यासी रासभीभूय पूत्कारं कुर्वंश्चतुरागृहे गतः, तत्पृष्टे स खरोऽपि चलितः.

अथ सा दुष्टा तं गर्दभं बध्वा कशाप्रहारैस्ताडयामास. भयभ्रांतः स खरोऽपि दुःखेन पूत्कारं करोति । सापि किमथ यासि सुंदरीगृहे इति तं वारंवारं निर्भर्त्सयति. प्रांते तं मरणोन्मुखं ज्ञात्वा सा पुरुषरूपं विधाय मोचयामास. इतस्तं जटाजूटमंडितं भस्मविलिप्तशरीरं सन्यासिनं दृष्ट्वा भयभ्रांता चतुरा तत्पादयोः पतित्वा तं क्षामयामास. सन्यासिनोक्तं 'मुग्धे एतदाभाणकं नूनं सत्यं जातं, यद्यः करंबमश्नाति स विडंबनामपि सहते.' ततः सा दुष्टा तं बहु द्रव्यं दत्वा विसर्जयामास.

ततस्तयाचिन्तितमथ मे चरित्रं मत्पतिना ज्ञातं, अतो भिन्नहृदययोरावयोरथ स्नेहो न भविष्यति, तस्मादथोपायेनैनं मारयामीति विचिन्त्य सा स्नानं कृत्वा गोमयेन मंडलमकरोत्, ततः सा नैवेद्यं ढोकयित्वा श्वेतवस्त्राणि च परिधाय, घृतधूपागुरुगुग्गलरक्तकणवीरादिभिर्होममकरोत्. होमांते चैको राक्षसः सर्परूपेण प्रकटीभूय तमुवाच 'हे मुग्धे कुतोऽहं त्वया स्मृतः ? तुष्टोऽस्मि वरं वृणु ? तदा सा दुष्टात्मावदत् 'परस्त्रीलंपटं मम पतिं त्वं भक्ष्य ?' [illegible] षड्मासां ते तव पतिर्मरिष्यति.' ततस्तं विसर्ज्य सा स्वस्थानके गता. कुड्यांतरस्थितेन सूरेण तत्सर्वं विलोकितं चिन्तितं च महिलानां हि चरित्रं गहनं वर्तते, अरेऽनयाहं बहु विडंबित' इति ध्यात्वा स सुंदरीसमीपे गत्वा तया सह नित्यं विषयसुखानि भुंक्ते.

सुंदरी गीतहास्यादिभिस्तं संतोषयितुमिच्छति. परं चिन्तातुरः सूरः प्रमोदं न प्राप्नोति.

अथैकंदा श्वश्रूरेकांते जामातरं पृच्छति भो तव का चिन्ता वर्त्तते ? तेनोक्तं ' हे मातरसमर्थस्याग्रे दुःखं किं कथ्यते तयोक्तं ' मे सर्वमपि सामथ्यमस्ति, अतस्त्वं कथय ? यतो ज्ञातस्य व्याधेः प्रतिक्रिया स्यात्.' तदा सूरेणोक्तं ' षड्मासां ते सर्पान्मम मरणं भविष्यति.' इत्युक्त्वा तेन पूर्वभूतः सकलोऽपि निजवृत्तांतस्तस्यै कथितः, तयोक्तं ' हे पुत्र ! त्वं माभैषीः, यथा तव मम पुत्र्याश्च सुखं भविष्यति तथा करिष्यामि.'

अथ त्वं शंकां विमुच्य सततं भोगान् भुंक्ष्व ? तत् श्रुत्वा किंचित्स्वस्थी भूतः सूरो भोगानि भुंक्ते, परं मरणशंकात स्तस्य भययुतानि दिनानि गच्छंति.

अथ तस्य श्वश्रा स्वस्य पुत्र्याश्च गृहद्वारभित्तौ द्वौ मयूरावालेखितौ चित्रमयावपि प्रत्यक्षं जंगमौ दृश्येते. माता पुत्र्यौ च शुचीभूय तौ मयूरौ पूजयतः. अथ षष्टमासस्यांतिमो दिवसः समायातस्तदा सूरेण निजभार्यायै कथितं ' नूनमद्य मे मरणं भविष्यति.' सुंदर्योक्तं ' स्वामिन् भयं मा कुरु ? अस्मत्सामर्थ्यं पश्ये ' त्युक्त्वा तया गोमयेन गृहं विलिप्य मध्य भागे चासनं संस्थाप्य तत्र निजपतिरुपावेशितः, ततो मातापुत्र्यौ शुचिवस्त्राणि परिधाय करयोरक्षतानि गृहीत्वेतस्ततः पश्यतःस्म.

इत एकं कृष्णसर्पं गृहमध्ये समागतं विलोक्य ताभ्यां स चित्रितमयूरोऽक्षतैश्छटितः, तत्क्षणमेव स मयूरो भित्तेरुत्तीर्य तं सर्पं द्वेधा कृत्वा मुखे गृहीत्वा केकारवं कुर्वन् गगने गतः, तद् दृष्ट्वा विस्मितोऽसौ चिन्तयति अहो एतयोर्मातापुत्र्यो-

रपूर्वा मंत्रशक्तिर्वर्त्तते. ततोऽसौ स्नानं विधाय महोत्सवपूर्वकं निजं नवीनं जन्म मन्यमानो याचकेभ्यो दानं यच्छन् सुखानि भुंक्ते.

अथैकदा तद्ग्रामादागतस्य कस्यचिन्मनुष्यस्य चतुरापृच्छत् 'भो पुरुष! तत्र सूरः किं करोति! तेनोक्तं स तत्र दानं यच्छन् सुखेन निजकालं गमयति.' तत् श्रुत्वा दुष्टा सा श्वेतमार्जारीरूपं विधाय मत्सरेण सुंदरीभवने समागत्य कटुशब्दानि चकार. तां दृष्ट्वा मातापुत्रीभ्यां कृष्णमार्जारीरूपं विधाय तया सह युद्धं प्रारब्धं. परस्परं नखादिभिर्गाढप्रहारान् यच्छंति. ततः सा चतुरा निजमंत्रबलेनैते द्वे अपि जर्जरीकृत्य गगने नृत्यंती गता. तद् दृष्ट्वा भीतः सूरस्तयोरपृच्छत् यूयं युद्धं कथं कुरुथ? सा च श्वेतमार्जारिका कास्ति?' तत् श्रुत्वा सुंदरी प्राह भो स्वामिन्नेषा मे सपत्नी चतुरासीत्, आवाभ्यां सह सपत्नीवैरेण च युद्धं कर्तुं समागताभूत्, किं चास्मत्तस्तस्या मंत्रशक्तिर्बहुवर्त्तते, ततः सावां जित्वा गता.' तत् श्रुत्वा सूरेण चिन्तितं धिग्धिग् अहं महाक्रूराणां प्रत्यक्षशाकिनीतुल्यानामासां वशे पतितोऽस्मि, अथ किं करोमि? क्व च गच्छामीति चिन्तातुरोऽसौ तत्र स्थितः. इतो मासांते पुनरपि सा चतुरा श्वेतमार्जारीरूपं विधाय ताभ्यां युद्धं कर्तुं तत्र समायाता. मातापुत्रीभ्यामपि कृष्णमार्जारीरूपं कृत्वा तया सह युद्धं कृतं, परं ते द्वे अपि पराजिते।

अथ चतुराया गमनानंतरं चिन्तातुराय निजस्वामिने सुंदर्या प्रोक्तं, "हे स्वामिन् अथ यदा सा चतुरात्र समागच्छेत्तदा त्वया प्रकटाक्षरमेवं वाच्यं यद् 'भो कृष्णे एनां श्वेतमार्जारीं मारयतं? इति च त्वयोक्ते सत्यावयोर्महाशक्तिर्भविष्यति, तया च शक्त्यावां तां मारयिष्यावः," इतश्चतुरा श्वेतमार्जारीरूपा तत्रागत्य ताभ्यां सह युद्धं कर्तुं लग्ना, तदा सूरोऽवादीत् 'भो

कृष्णे इमां श्वेतां मारयतं ?' इति तेनोक्ते सा श्वेता मार्जारी धरित्र्यां पतिता, तत्क्षणं कृष्णाभ्यां सा ग्रीवायां गृहीता. अथ तां श्वेतां म्रियमाणां दृष्ट्वा सूरेण चिन्तितं मम पुण्येन वचनमात्रेणव श्वेता मरिष्यति, अथ मम वचनात्कृष्णे अपि चेन्मरिष्यतस्तदा भव्यं, इति विचिन्त्य सूरेण प्रकटं जल्पितं,' हे श्वते त्वमिमे कृष्णे अपि मारय ?' तत्क्षणं श्वेतया ते अपि मारिते, स्वयमपि च मृता. तदा हृष्टेन सूरेण चिंतितमतीव भव्यं जातं, औषधं विनैव मे व्याधिर्गता.

अथ तासामूर्ध्वक्रियां कृत्वा स गृहान्निर्गतः, यत्र च ग्रामे निजवृद्धभ्रातावसत्तत्र तद्गृहे समायातः, तदास्य भ्राता गामांतरे गतोऽभूत्, तेन स भ्रातृजायां प्रणम्य तत्र स्थितः, भ्रातृजायापि तस्य बह्वीं भक्तिमकरोत्.

अथैकदा सा भ्रातृजाया सूरस्य मस्तके तैलं क्षिप्त्वा यावत्कंकपत्रिकां वाहयति तावत्तत्क्षेत्रात्तद्धालिकः समागत्य तस्यै कथयामास ' हे मातः सोऽस्माकं मिंढाख्यो बलिवर्दो मृतः, हलवेला च याति, अतोऽधुनैवैकस्य वृषभस्य बहु प्रयोजनमस्ति.' तत् श्रुत्वा तया दुष्टया द्रुतं सूरस्य मस्तके चूर्णं क्षिप्तं तत्क्षणमेव स वृषभो जातः, तदा स हालिकस्तं रज्जूबद्धं विधाय क्षेत्रे समानीय हले नियुक्तवान्. एवं स दीनो दुःखितश्च तत्र हलं वाहयति.

अथैकदा तस्य नत्था त्रुटिता, तत्क्षणं स पुरुषो जातः शीघ्रं च ततः पलायितः, पृष्टे स हालिको धावितः परं शीघ्रतया गच्छन् सोऽग्रे गतः, हालिकः पश्चाद्गलितः, इतो मार्गे तस्य भ्राता मिलितः, सूरं दृष्ट्वा स उवाच भो भ्रातर्व्रणादिभिर्जर्जरितदेहस्त्वं क्व यासि ? तव शरीरे चैतत्किं जातं ? अथ मम गृहे समेहि ? तत्र च सुखेन तिष्ट ? सूरः प्राह हे बांधव त्वमेव त्वद्गृहे याहि ? तव भार्या साक्षात् शाकिनी वर्त्तते, तयाहं वृषभीकृत्येयत्कालं हले वाहितः, ततोऽहं तत्र नागमिष्यामि,

अधुना तु वनमेव मम शरणं गृहे गृहे शाकिन्यो वर्त्तन्ते.

इत्युक्त्वा सूरोऽग्रे गच्छन् महारण्ये पतितः. तत्रासौ षट् पुरुषानतिपुष्टान् शिरसि तृणभाराक्रांतान् दृष्ट्वा तत्पार्श्वे गत्वाऽपृच्छत्, 'भो अस्मिन्निर्मानुष्ये वने मणिमाणिक्यसुवर्णाभरणालंकृतशरीरा यूयं के ? तृणभारं च कथं वहथ ?' तैरुक्तं 'भो पुरुष शृणु ? अस्मिन् वनखंडे ह्येका जराजर्जरितदेहा वृद्धा वसति, सोऽस्मत्पार्श्वान्नित्यं तृणभारानानायति, अस्माकं च सान्नवस्त्राभरणानि ददाति, सा प्रत्यक्षा कल्पवल्लीव दृश्यते.' तत् श्रुत्वा सूरेण चिन्तितं तर्ह्यहमपि तत्र गत्वा तत्स्वरूपं पश्यामीति ध्यात्वा सोऽपि तृणभारं गृहीत्वा तैः सार्द्धं चलितः, तैः पुरुषैस्तस्मै पृष्टं भो 'तव नाम किमस्ति ?' तेनोक्तं 'मम नाम धिष्टकः,' ततस्ते सर्वेऽपि तत्र गताः, सप्तमं पुरुषं नवीनं दृष्ट्वा तया पृष्टं 'भो एषोऽतिकृषः सप्तमः कोऽस्ति ? तैरुक्तं 'मातरेष वनमध्येऽस्माकं मिलितः, मातुः पाददर्शनार्थं च समागतोऽस्ति.'

तत् श्रुत्वा वृद्धया तस्य पृष्टे हस्तं दत्वोक्तं 'वत्स ! स्वागतं ते, त्वमतीवकृशोऽसि, अतस्त्वमत्रैव मत्पार्श्वे स्थित्वा निःशंकं सुखेन तिष्ठ भुंक्ष्व च ?' धिष्टेनोक्तं 'मातरहं जन्मदुःखितोऽस्मि, अतस्तवैव पार्श्वे स्थास्यामि.' ततः सा तस्य स्नानानंतरं चारुवस्त्राणि परिधाप्य विविधव्यंजनोपेतं मनोहरं भोजनं कारयामास।

अथ धिष्टेन चिन्तितमेषा तृणभारैः किं करोति ? तन्मयाद्य द्रष्टव्यमिति ध्यात्वा रात्रौ स तैः सर्वैः पुरुषैः सह कपटनिद्रया सुप्तः, अथार्द्धरात्रौ सा वृद्धोत्थाय प्रकटं जजल्प, 'अरे ! युष्मासु कोऽपि जागर्त्ति न वा ?' परं कोऽपि न जजल्प. तदा सा वृद्धा कुमंत्रेण स्वयं घोटिकीभूय तृणभारान् भक्षयित्वाभरणादिभिरलंकृतातीवतरुणी कामिनीरूपा जाता. ततः

सा चेतो निर्गता, धिष्टकोऽपि प्रच्छन्नं तत्पृष्टे निर्गतः,

अथ सातिदूरे गत्वैकस्मिन् विवरे प्रविष्टा, तत्र स्थिताः काश्चिद्योगिन्यस्तां दृष्ट्वोत्थाय कथयामासुर्हे मातः स्वागतं ते, इत्युक्त्वा तां नत्वासने चोपाविश्य तास्तस्याः सेवां कर्तुं लग्नाः, ततस्ताभिरूक्तं ' हे मातस्थास्माकं निजसुतानां बलिं कदा दास्यसि ?' वृद्धयोक्तं ' हे पुत्रिका यूयं धीरा भवथ ? युष्मदर्थं सप्त पुरुषान् हत्वा बलिमानयिष्यामि. परमेकः सप्तमः पुरुषो योऽद्य प्राप्तोऽस्ति, सोऽतीवकृशो वर्त्तते. अतश्चतुर्दशीं यावत्तिष्टत ? तावत् सोऽपि पुष्टो भविष्यति. '

इत्युक्त्वा सा ताभिः समं मांसादिकं भक्षयित्वा पश्चादागता. धिष्टोऽपि स्तंभांतरे स्थित्वा तत्सर्वं विलोक्य तस्याः पूर्वं तत्रागत्य सुप्तः, इतः सापि तत्रागत्य वृद्धारूपं विधाय मंचकोपरि सुप्ता,

अथ धिष्टश्चिन्तयति नूनमेषा दुष्टास्मान् विश्वास्य मारयिष्यति, हा हा पुनरपि शाकिनीसंकटेऽहं पतितः, यत्र यत्र व्रजामि तत्र तत्र मे शाकिनीसंयोगो भवति.

अथ सूर्योदये ते सप्तापि तृणनिमित्तं वनमध्ये गताः, मार्गे धिष्टेन तेषां पणामप्यग्रे रात्रिवृत्तांतः कथितः, तैरुक्तमस्माभिस्तु मातुरेवंविधं चरित्रं कदापि न दृष्टं, त्वया तु कथं दृष्टं ? धिष्टेनोक्तं यूयं सुखलुब्धास्तत्र तिष्टत ? अहं त्वग्रे यास्यामि, तैरुक्तं हे भ्रातरेकां निशां यावच्चं विलंबं कुरु ? अद्य चास्माकं तस्याश्चरित्रं दर्शय ? तेनापि तत्प्रतिपन्नं.

अथ ते तृणभारानानीय तत्रागत्य दिनकृत्यं कृत्वा रात्रौ तस्याश्चरित्रविलोकनार्थं पूर्ववत्कपटनिद्रया सुप्ताः. ततस्तै रजन्यां तस्याः सर्वं चरित्रं विलोकितं. जातप्रत्ययैस्तैरुक्तमथाधुनास्माभिः किं कर्त्तव्यं. धिष्ट उवाच भो एषा द्रुतं मारणीयैव.

ततो द्वाभ्यां तस्याः पादौ गृहीतौ, द्वाभ्यां च हस्तौ गृहीतौ, द्वाभ्यां च तस्याः शिरो धृतं, एकेन च लकुटेर्भृशं कुट्टिता सामरणं प्राप्ता.

अथेतस्ते निर्भयचित्ता अग्रे चलंत एकस्यां महाटव्यामेकं महानगरं सिप्राख्यनदीतटेऽपश्यन्. तन्नगरं त्रिदशनगरसन्निभं चामीकरकृतप्रतोलीप्राकारविराजितं नारंगनागपुन्नागजंबीरहिंतालतालकेसरकदल्यादिवृक्षैः शोभितं वापीकूपतटाकैश्च मंडितमासीत्. तत्र गृहश्रेणिरपि विमानश्रेणिरिव मनोहरा शोभते, जिनमंदिराणि च स्वर्णकलशशोभितानि चारुगवाक्षैश्च मण्डितानि विराजंते, परं तत्र कोऽपि मनुष्यो दृष्टिपथं नायाति, सर्वमपि तन्नगरं मनुष्यरहितं शून्यमेवासीत्-

अथ ते सर्वे नगरमध्ये प्रविश्याग्रे चलंतः सहस्रशिखरमंडिते महा- मनोहरे राजभुवने प्राप्ताः, तत्र द्वाराग्रे ते चैकां वृद्धां छिन्ननासिकामुपविष्टामपश्यन्. स्थूलशरीरा सा वृद्धा तान् दृष्ट्वा उवाच 'भो पुरुषाः स्वागतं युष्माकं, यूयमत्र स्थिताभिः सुरूपाभिः सप्तकन्याभिः सार्द्धं विषयसुखानि सेवध्वं.' तत् श्रुत्वा धिष्टोऽग्रे भूत्वा तां पृच्छति 'हे मातः का एताः कन्याः ? कुतश्च समागताः संति ?' तयोक्तमेते सप्तापि विद्याधरसुताः संति, एकदा स विद्याधरेणैको नैमित्तिकः पृष्टो मम पुत्रीणां को वरो भविष्यति ? तेनोक्तं तवैताः पुत्र्यस्त्वया छिन्ननासिकायाः समर्पणीयाः, तत्र चैषां वराः स्वयमेव समेष्यंति. अतो मयैताः सर्वा अत्र युष्माकं पाणिग्रहणाय रक्षिताः संति, एते हंसतूलिकायुताः पल्यंकाः संति, एता युष्मत्कृते चित्रशालाः संति, एते सुरभिद्रव्यादिभिभृता अपवरकाः संति, अतोऽत्र स्थिता यूयं कन्याभिः सह विषयसुखानि सेवध्वं ? किंचैते सप्त पवनवेगगामिनस्तुरगा युष्मदर्थं संति, तदुपर्यारुह्यैकां पूर्वदीशं मुक्त्वा स्वैरं विहारं कुरुत ?' तत् श्रुत्वा ते सर्वे विषयलोलुपा हृष्टाः संतस्तत्र चित्रशालासु ताभिः सह विषयसुखानि सेवंते, कदाचिद्दोलासु क्रीडां कुर्वन्ति, वने गत्वा च पुष्पाणि

चिन्वंति, कदाचिच्च जलक्रीडामपि कुर्वन्ति.

अथैकदा ते मिलित्वा परस्परं विचारं कुर्वन्ति, एतया वृद्धयास्माकं पूर्वदिग्गमनं कथं निवारितमस्ति ? ततस्तत्र गत्वा विलोक्यते. इति ध्यात्वा ते सप्तापि सूर्योदये तुरगारूढाः पूर्वदिशं प्रति चलिताः, तत्र कियद्दूरं गतैस्तैर्योजनं यावन्मनुष्यशीर्षैर्व्याप्तं भूवलयं दृष्टं. तद् दृष्ट्वा यावत्ते विस्मिताः परस्परं पश्यंति तावदश्वखुराहतैका मनुष्यतुंबिका हसित्वैवमवादीत्, 'भो एते एव तुरगाः, एताश्चैव स्त्रियोऽस्माभिरपि पूर्वं भुक्ताः.' तत् श्रुत्वा विस्मितो धिष्टः पृच्छति 'भो कथय ? एते के घोटकाः ? इमाश्च काः स्त्रियः ? इयं च भूर्मनुष्यशीर्षैः कथमाकीर्णास्ति ?' तुंबिकयोक्तं 'सा गतनाशिका सिद्धशाकिनी-वर्त्तते, तयैव च वयं मारिताः स्मः, अतो यूयमितः शीघ्रं गच्छत यावत्सा न पश्यति.'

अथ ते सप्तापि ततो भयभ्रांतास्तुरगारूढाः पलायितुं लग्नाः. अथ मध्याह्नेऽपि तानागतान् वीक्ष्य ताः सप्तापि कन्यास्तां छिन्ननाशिकां प्रति कथयामासुः, हे मातरद्यापि ते पुरुषा गृहे न समागताः संति, तत् श्रुत्वा सा गतनाशिका चंगं (वाद्यविशेषः) गृहीत्वा गृहोपरि समारुह्य तांस्तुरगारुढान् गच्छतोऽपश्यत्. 'भो भो चंगैतानश्वान् पश्चाद्वालयेत्युक्त्वा सा चंगं पुन पुनः स्ताडयामास.

अथ तेन चंगशब्देनैते अश्वाः पश्चाद्वलिताः, ते पुरुषा अश्वेभ्य उत्तरितुमिच्छंति परं तया कीलिता नोत्तरितुं शक्नुवंति. तदा ते भयभ्रांताश्चिन्तयामासुर्हीही अथास्माकं का गतिर्भविष्यति ? एवं भयभ्रांता अश्वैर्नीयमानाः क्रमेण ते गृहे समागताः

अथ सा छिन्ननाशा क्रोधातुरा तानब्रवीत् 'रे पापिष्टा यूयमथ मत्सकाशात्क्व यास्यथ ?' इत्युक्त्वा यमजिह्वातुल्यं

खड्गं करे गृहीत्वा प्रथमं पिष्टमेव धरित्र्यां पातयित्वा तस्य हृदये च पादं स्थापयित्वावदत्, 'रे दुष्ट ! अश्वमारुह्य त्वं क्व चलितोऽभूः ? इदानीमेव त्वां हनिष्यामि, अतस्तवेष्टदेवं त्वं स्मर ?' तदा स साहसिक उवाच 'रे निर्नाशिके प्रथमं त्वं ममैकप्रश्नस्योत्तरं देहि ? केन वीरपुरुषेण तव नाशिका छेदिता ?'

तत् श्रुत्वा सा प्रसन्ना सती तं मुक्त्वा प्राह 'हे वत्स ! शृणु ? अस्मिन् भरतक्षेत्रे मनोरमाभिधं नगरं वर्त्तते, तत्र मनोरथाभिधो राजा राज्यं करोति. तस्य मणिमालाभिधा राज्ञी वर्त्तते, तया च राज्ञ्यानुक्रमेण सप्त पुत्रा जनिताः, अष्टमे गर्भे चाहं पुत्री जनिता. क्रमेण पंचधात्रीभिर्लाल्यमानाहं सर्वकलासु प्रविणीभूय यौवनं प्राप्ता. मंत्रतंत्रादिषु मे महानभिलाषो जातः, तेन वशीकरणमोहनस्तंभनोच्चाटनराक्षसीविद्याशाकिनि, मारणविद्याबलिविधिसूर्यचंद्रग्रहाद्याकर्षणपातालप्रवेश-स्वर्गगमनादिविद्यानां महामंत्राण्यहं जानामि. मृतसंजीविन्यादिविद्या अपि मया शिक्षिताः संति.

अन्यदा मया सुराधिपस्य महामंत्रः साधितः, स च मे सफलो जातः, तत्प्रभावेण चाहमिंद्रभवने गता, तदेंद्रस्याग्रे हाहाहूहूतुंबरुरंभाद्यैर्नाटकं प्रारब्धमासीत्, मयापि तन्नाट्यविधिः शिक्षितः, ततश्चैकदा मयापींद्रस्याग्रे नृत्यं कृतं, तदा हृष्टेनेंद्रेणोक्तं त्वं वरं वृणु ? मयोक्तं 'हे प्रभो यदि तुष्टोऽसि तर्हि त्वं मे भर्त्ता भव ?' इन्द्रेणापि तत्प्रतिपन्नं, एवं ममेन्द्रेण सह संयोगो जातः, एवं नित्यमहं देवलोके गृहे च गमनागमनं कर्त्तुं लग्ना.

अन्यदैकेन मालाकारेण मह्यमुक्तं भो भद्रे मम मनसि देवलोकमिंद्रं तव नाटकं च द्रष्टुं महानभिलाषोऽस्ति, तेन मां तत्र त्वया सह नय ? मया गाढं निवारितोऽपि स निजाग्रहं नामुंचत्. ततोऽहं तमलिरूपं विधाय मद्वक्त्रिमले च क्षिप्त्वा

स्वर्गेऽनयं, तत्र मया नाटकं प्रारब्धं, सुचिरं नृत्यंत्या मया भारखिन्नया शिरसि हस्तः क्षिप्तः, तदा नृत्यतालो भग्नः, तद् ज्ञात्वा क्रुद्धेनेंद्रेण मम नाशिकां छेदयित्वा शापो दत्तो, हे पापे त्वमतःपरं मनुष्यलोके एव वस ? प्रमादस्य फलं च भुंक्ष्व ? तदा खिन्नया मया तत्पादयोः पतित्वोक्तं हे स्वामिन् ममास्य शापस्य कदांतो भविष्यति ? तेनोक्तं मनुष्यमांसं भक्षयंत्यास्तव यदि कोऽपि पुमान् स्वयमेव ' हे छिन्ननाशिके केन तव नाशिका छेदिता ?' इति पृच्छेत्तदा त्वया तव शापांतो ज्ञेयः. ततो मयात्रागत्य सर्वोऽपि पुरलोकः स्त्रीतुरगैर्विप्रतार्य भक्षितः, अत्रागता विदेशिजना अपि मया भक्षिताः. परं हे वत्स ! अद्यावधि केनाप्यहं पूर्वोक्तं प्रश्नं न पृष्टा. अद्य त्वयैव तत्पृष्ट्वाहं शापात्मुत्कलीकृता, अतो हे वत्स ! त्वमेतदश्वकन्याभिर्युतोऽत्र सुखेन राज्यं कुरु ? इत्युक्त्वा तया संजीविनीविद्यया सर्वेऽपि नगरलोकाः सजीवाः कृताः, एवंसा निर्नाशिकाधिष्टाय तन्नगरराज्यं दत्वा स्वयं स्वस्थाने स्वर्गे गता.

अथ धिष्टस्तानि षडपि निजमित्राणि मंडलिकपदे संस्थाप्य स्वयं सम्यक् प्रकारेण राज्यं चकार. इत एकः सूरिः साधुपरिवारपरिवृतस्तन्नगरोद्याने समवसृतः, वनपालेनागत्य राज्ञे विज्ञप्तं ' हे स्वामिन् भवतां वनखंडे साधुपरिवारयुतः सूरिरेकः समवसृतोऽस्ति.' तत् श्रुत्वा राजा शुद्धभावेन परिवारयुतो गुरूवंदनार्थं चलितः, तत्रागत्य गुरुं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वा च यथास्थानमुपविष्टः, गुरुणापि मधुरवाण्या धर्मोपदेशो दत्तः, यः प्राणी मनुष्यभवं लब्ध्वापि धर्मं न करोति स हस्तगतमपि चिंतामणिरत्नं प्रमादेन महासमुद्रे पातयति. देशनांते राजा गुरुमपृच्छत् ' हे भगवन् अस्माभिः पूर्वभवे किं कर्म कृतं ? येनात्र शाकिनीसंकटे पतिताः. सूरिः प्राह हे राजन् ! शृणु ?

प्रतिष्ठानपुरे हरिदत्ताख्य एको विप्रोऽवसत्, स शाकिनीनामाकर्षणाय यंत्रमंत्रतंत्रादिभिर्नित्यं मंडलानि मंडयामास. तस्य षड्भृत्याश्च तत्र गायनं कुर्वंतस्तत्कार्ये तस्य सहायमयच्छन्. एवं स शाकिनीनां निग्रहमकरोत्.

अथैकदा ते सप्ताप्येकेन मुनिना धर्मोपदेशदानपूर्वकं जिनधर्मे स्थापिताः, एवं जिनधर्मं समाराध्य प्रांते च संलेखनां कृत्वा शुभभावेन मृत्वा स हरिदत्तजीवस्त्वं धिष्टको जातः, ते तव भृताश्चैते मंडलाधिपा जाताः पूर्वभवे भवद्भिः शाकिन्यः कदर्थितास्तेनात्र भवे भवंतोऽपि शाकिनीसंकटे पतिताः तत् श्रुत्वा तस्य राज्ञस्तेषां मंडलाधिपानां च जातिस्मरणं समुत्पन्नं. प्रव्रज्यां गृहीत्वा च ते सर्वेऽपि स्वर्गे जग्मुः. ततो भो भव्या यूयं जिनधर्मे विशेषेणादरं कुरुत ? यत्प्रभावाद्वः स्वर्गापवर्गसुखानि सुलभानि स्युः, धर्मप्रभावाच्च प्राणिनां पदे पदे विपुलाः श्रियो भवंति, तस्मात् सर्वप्रकारेण धर्म एव कर्त्तव्यः. धर्मस्य मूलं च सम्यक्त्वं, तच्च श्रद्धारूपं वर्त्तते, सा श्रद्धा द्विधा, एका गुरूपदेशेन जीवादिनवतत्वविषया, द्वितीया च गुरुपदेशं विनैव मरुदेवादिवत्. यतः—

सव्वाइं जिणवरभासियाइं । वयणाइं नान्नहा हुंति ॥ इय बुद्धि जस्स मणे । सम्मत्तं निच्चलं तस्स ॥१॥
अंतोमुहुत्तमित्तंपि । फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं ॥ तेसिं अवड्ढपुग्गल-परियट्टो होइ संसारो ॥२॥

इति श्रीधिष्टकथासमाप्ता ॥ श्रीरस्तु ॥

---

सर्वाणि जिनवरभाषितानि वचनानि नाऽन्यथा भवन्ति, इति बुद्धिर्यस्य मने सम्यत्क्वं निश्चलं तस्य॥ अर्न्मुहूर्त मात्रमपि स्पर्शितं भवति यैः सम्यक्त्वं, तेषां अपार्धपुद्गल परावर्तः भवति संसारः ॥

इति श्रीवर्द्धमानस्वामिनो मुखाद्धर्मं श्रुत्वा संवेगयुतमानसः सुरादेवो भावेन श्रावकधर्मं जग्राह. ततोऽसावात्मानं कृतार्थं मन्यमानः परिवारयुतः स्वगृहे समागत्य सम्यक् प्रकारेण जिनधर्ममाराधयति. एवं धर्मध्यानं कुर्वतस्तस्य चतुर्दशवर्षाणि गतानि.

अथैकदार्द्धरात्रौ धर्मध्याने वर्त्तमानस्य तस्याग्रे एको देवः प्रकटीभूय जगाद, रे मूढ त्वमैहिकसुखानि त्यक्त्वा तपःक्लेशादियुतं श्रावकधर्मं कथं पालयसि ? ततश्चेदात्मनः कल्याणमिच्छसि, तदा श्रावकव्रतानि मुंच ? अन्यथा तव ज्येष्टपुत्रमत्रानीय मारयित्वा तन्मांसं तप्ततैलकटाहे क्षिप्त्वा तद्रुधिरेण त्वां सेचयिष्यामि, ततश्चार्त्तध्यानेन मृत्वा त्वं दुर्गतिं यास्यसि एवं तस्य द्वित्रिवारं कथनतोऽपि सुरादेवो निजध्यानान्न चचाल. तदा सुरेण तज्जेष्टपुत्रं तत्रानीय मारयित्वा तन्मांसं तप्ततैलकटाहे पाचितं, तद्रुधिरेण च तच्छरीरं लिप्तं. एवं तेन तस्य द्वितीयतृतीयचतुर्थपुत्राणामपि तथैव कृतं, परं स ध्यानान्न चलितः. तदा तेन देवेनोक्तं ' भो सुरादेव अधुनापि चेच्चं व्रतानि न त्यजसि तर्हि तव देहेऽहं कुष्टादिषोडशरोगान् क्षेप्स्यामि. ' एवं तस्य द्वित्रिवारं कथनानंतरं सुरादेवेन चिंतितं नूनमेषः कोऽपि चांडालो दुष्टकर्मकारको दृश्यते, येन मम चत्वारोऽपि पुत्रा मारिताः, अथैनं दुष्टं गृह्णामीति ध्यात्वा तन्निग्रहाय यावत्स उत्थितस्तावत् स देवो विद्युद्वदाकाशे समुत्पतितः तदा बहिरागत्य तेन कोलाहलः कृतः, तत् श्रुत्वा तस्य धन्नाभिधा भार्या तत्रागत्योवाच ' भो आर्यपुत्र ! यूयं कथं कोलाहलं कुरुथ ? ' तदा सुरादेवेन तस्या अग्रे समस्तं स्वरूपं निवेदितं. तत् श्रुत्वा धन्ना प्राह ' हे स्वामिन् अस्माकं ते चत्वारोऽपि पुत्राः स्वस्वशयनगृहे सुखेन सुप्ताः संति, तथैव भवदीयशरीरेऽपि कोऽपि रोगो नास्त्युत्पन्नः. केनापि देवेनागत्यात्र भवता-

मुपसर्गः कृतोऽस्ति, 'ततो गुरुपार्श्वे तदालोच्य प्रतिक्रम्य च मिथ्यादुष्कृतं यच्छत ! तत् श्रुत्वा सुरादेवस्तद्वचनं तथेति मत्वा गुरुसमीपे आलोच्य शुद्धो जातः, एवं स विंशतिवर्षाणि यावत्सम्यक् प्रकारेण जिनधर्मं कृत्वा क्रमेणैकादशप्रतिमाः समाराध्य सर्वजीवराशिं क्षामयित्वा मासं यावदनशनं कृत्वा पंचपरमेष्ठिनमस्कारं स्मरन् मृत्वा सौधर्मदेवलोकेऽरुणाभविमाने चतुःपल्योपमायुर्देवो जातः,

अथ श्रीगौतमस्वामी वीरप्रभुं पृच्छति 'हे भगवन् ! स सुरादेवस्ततश्च्युत्वा क्व यास्यति ? प्रभुरुवाच भो गौतम ! स ततश्च्युत्वा महाविदेहे समुत्पद्य मुक्तिं यास्यति. ॥ इति श्रीसुधर्मस्वामिना जंबूस्वामिनोऽग्रे सुरादेवश्राद्धस्य चरितं कथितं ॥

**इति श्रीवर्द्धमानदेशनायां वाचनाचार्यश्रीरत्नलाभगणिशिष्येण राजकीर्त्तिगणिना गद्यबंधेन विरचितायां सुरादेवश्रावकप्रतिबोधो नाम चतुर्थ उल्लासः समाप्तः ॥ श्रीरस्तु ॥**

## ॥ चुल्लगशतक ॥

अथ सुधर्मस्वामी जंबूस्वाम्यग्रे चुल्लगशतकस्य चरित्रं कथयति—

अस्मिन्नेव भरतक्षेत्रे सर्वनगरीषु प्रसिद्धा लंभिकाख्या नगरी वर्त्तते, तस्यां जितशत्रुनामा राजा राज्यं करोति. तत्र नंदनवनतुल्यमतिमनोहरं शंखवनाभिधमुद्यानमस्ति. तत्रैव नगर्यां चुलगशतकाख्यो धनाढ्यो गृहपतिर्वसति, तस्य बहुलाभिधा च भार्याऽस्ति सा सुशीला चारुभाषिणी च वर्तते तस्य स्वर्णस्य षट्कोट्यो भूम्यां, षट्कोट्यो व्याजे, षट्कोट्यश्च

व्यापारे संति. पुनः षट् गोकुलानि तस्य गृहे संति. अथान्यदा श्रीवर्द्धमानस्वामी तत्र शंखवनोद्याने समवसृतः, देवैः समवसरणं कृतं, द्वादश पर्षदो मिलिताः, चुल्लशतकोऽपि प्रभोरागमनं श्रुत्वा निजगोत्रियैः सह प्रभुवंदनार्थं तत्र समायातः, वंदित्वा च यथास्थानमुपविष्टः. प्रभुणा देशना दत्ता, भो भो भव्यलोका लोके यच्चक्रवर्त्तिपदवी देवेंद्रपदवी स्वर्गसुखं तीर्थंकरसंपत् मनुष्यसुखानि च, तत्सर्वं धर्मस्यैव फलं ज्ञेयं, स च धर्मो दानशीलतपोभावभेदैश्चतुर्धास्ति, पुनः स एवाभयदानसुपात्रदानानुकंपादानोचितदानकीर्त्तिदानभेदैः पंचधाप्यस्ति. सर्वजीवानामभयदानेन तेषां प्रत्यात्मवद्यद्वर्त्तनं तदभयदानमुच्यते, तत्सर्वथाभयदानं साधव एव दातुं समर्था भवंति, तदभयदानेन च बहवः साधवो मोक्षे गता गच्छंति गमिष्यंति च. अतः सर्वजीवानामभयदानं देयं. कालवेलायां साधुभ्यः शुद्धाहारवस्त्रादेर्यद्दानं तत्सुपात्रदानं ज्ञेयं. यः सुपात्रदानं ददाति स धनदेवधनमित्रवन्मनुष्यसुखानि भुक्त्वा मोक्षसुखानि प्राप्नोति.

तथाहि—अस्मिन् जंबूद्वीपे सिंहलनामा द्वीपोऽस्ति, तत्र सिंहलेश्वराख्यो राजा वर्त्तते, तस्य सिंहलाख्या भार्या सिंहलसिंहाख्यश्च पुत्रोऽस्ति. स कुमारोऽन्यदा वसंतमासे वनमध्ये क्रीडार्थं गतः, तत्र रममाणोऽसावेकायाः कन्यकाया हाहारवं शुश्राव. 'हे तात मां रक्ष रक्ष ? हे जननि ममोपरि करुणां कुरु ? हे कुलदेव्योऽस्मिन् समये यूयं क्व गताः ?' इत्यादि तस्याः करुणस्वरं श्रुत्वा परदुःखदुःखितः स सिंहलकुमारश्चिन्तयति किं तया जनन्या ? यज्जनितपुत्रस्य हृदये परोपकारो न विभाति. इति ध्यात्वा स कुमारस्तच्छब्ददिशि धावितः, तत्रैकेन गजेन गृहीतां रुदंतीं कन्यां दृष्ट्वा सोऽब्रवीत् 'रे रे मातंग ! त्वं मुंचेमां बालां ? यदि तव पौरुषं वर्त्तते तदैहि मम पार्श्वे ?' तत् श्रुत्वा क्रुद्धः स हस्ती तां कन्यां मुक्त्वा

कुमारवधाय धावितः, तदा कुमारो निजोत्तरीयं तदग्रेऽक्षिपत्, हस्त्यपि यावत्तदुत्तरीयं प्रति दंतप्रहारान् करोति तावत्सा कन्या ततः पलायिता, कुमारश्च चपलमेव तद्दंतयोर्निजपादौ स्थापयित्वा तत्स्कंधे समारुरोह. ततोऽसौ तमंकुशप्रहारादिभिर्वशे नीत्वालानस्तंभे बंधयामास. राजा तं वृत्तांतं श्रुत्वातीवहृष्टो जातः, नगरे च कुमारस्य कीर्त्तिर्विस्तृता, सा कन्यापि कुमारोपरि सानुरागा जाता. यदुक्तं—

गुणाः कुर्वंति दूतत्वं । दूरेऽपि वसतां सतां ॥ केतकीगंधमाघ्रातुं। स्वयमायांति षट्पदाः ॥१॥

ये प्राणिनः शरीरधनवचनादिभिः परेषामुपकारं कुर्वंति ते इह भवेऽपि संपदां भाजनं भवंति. ततो धनश्रेष्टिना सा निजपुत्री धनवती कुमाराय परिणायिता.

अथ स कुमारो यदा क्रीडार्थं नगरमध्ये भ्रमति तदा तद्रूपादिभिर्मोहितहृदयाः सर्वा अपि स्त्रियस्तत्पृष्टे परिभ्रमंति. तद्दृष्ट्वा सर्वोऽपि महाजनो मिलित्वा राज्ञः समीपे समागत्य विज्ञपयामास- 'हे स्वामिन्नस्माकं सर्वाणि कार्याणि सीदंति यतः सिंहलकुमारो यदा नगरमध्ये भ्रमति तदास्माकं सर्वा अपि स्त्रियो गृहकार्याणि त्यक्त्वा तत्पृष्टे एव भ्रमंति.' तत् श्रुत्वा राजा महाजनाय बहुमानं दत्वोवाच 'भो महाजन ! यथा भवतः सुखमुत्पत्स्यते तथोपायेन करिष्यामीत्युक्त्वा तेन महाजनो विसृष्टः,

अथ राज्ञा कुमारस्य नगरमध्ये परिभ्रमणं निवारितं, तेन दूनोऽसौ देशांतरं प्रति गंतुकामो धनवतीं पप्रच्छ, 'हे सुभगेऽहं देशांतरे यामि ततस्तयात्र सुखेन स्थेयं. धनवत्योक्तमहं त्वां विना स्थातुं न शक्नोमि, अतस्त्वया सहैव समेष्यामि, ततो

धनवत्या सह कुमारो रजन्यां नगरान्निर्गत्य क्रमेण जलधितटे प्राप्तः, तत्र च स तया सह प्रवहणे चटितः, परं मार्गे प्रतिकूलवातेन तत्प्रवहणं भग्नं. आयुर्बलेने धनवती फलकं लब्ध्वा क्रमेण समुद्रतटे प्राप्ता, ततोऽसौ कुसुमपुरनगरे समागत्य, तत्र लोकमुखात्प्रियमेलकाभिधयक्षस्य तीर्थं सप्रभावं विज्ञाय तस्य चैत्ये समागता, तत्र च यावन्मे भर्त्ता न मिलिष्यति तावदहमत्र तपः करिष्यामीत्यभिग्रहं गृहीत्वा तपस्तपंती सा स्थिता.

अथ स कुमारोऽपि लब्धफलकः क्रमेण रत्नपुरे प्राप्तः, तत्र रत्नप्रभाख्यो राजा राज्यं करोति, तस्य रत्नसुंदर्यभिधा राज्ञी वर्त्तते, तस्या रत्नवत्याख्या पुत्री तदा सर्पेण दष्टासीत्, तेन तत्र बहवो मंत्रवादिनो मिलिता आसन्. तैर्बहव उपचाराः कृताः, परं तस्या गुणो न जातः. तदा राज्ञा नगरमध्ये पटहो वादितः, सिंहलकुमारेण च स पटहः स्पृष्टः, तदा राजपुरुषैः स राज्ञाः समीपे समानीतः, कुमारेणापि नृपादेशेन स्वमंत्रबलेन सा सज्जीकृता. तुष्टेन राज्ञा शुभमुहूर्त्ते सा तेन सह परिणायिता.

अथ कुमारेण प्रथममेवाभिग्रहोऽगृहीत आसीत यद्यावन्मे धनवती न मिलिष्यति तावदहं शीलव्रतं पालयिष्यामि. अथ सप्तभौमावासे रत्नवती समागत्यातीवरमणीयपल्यंकोपरि मृदुशय्यायां सुप्ता, परं कुमारस्तत्रागत्य भूमौ सुप्तः, तदा रत्नवत्या चिन्तितमसौ भूमौ कथं सुप्त ? यतः—

घरे धेणु ने लुखो खाय । घरे घोडो ने पालो जाय ॥ घरे पल्यंक ने धरती सुए । तेहनी बइरी जीवताने रुए ॥

इति ध्यात्वा तया पृष्टं हे स्वामिन्! पल्यंकं मुक्त्वा त्वं धरित्र्यां कथं सुप्तः? तदा कुमारः सपत्नीभयेन कल्पितोत्तरं ददौ 'हे देवि मम प्रतिज्ञा वर्त्तते, देशविलोकनार्थमहं यदा निर्गतस्तदा पित्रोर्विलोकनावधि मया शीलव्रतपालनस्य भूमिशयनस्य च नियमः कृतोऽस्ति.' तत् श्रुत्वा रत्नवत्योक्तं 'हे स्वामिन् त्वं धन्यः कृतपुण्यश्चासि, यस्य पित्रोः प्रत्येतादृशी भक्तिर्वर्त्तते.'

अथ राज्ञा पृष्टेन कुमारेणात्मीयः सर्वोऽपि वृत्तांतस्तस्मै निवेदितः, तदा राजा रत्नीवतीयुतं कुमारं विसृष्टवान्. कुमारोऽपि भार्यायुतः प्रवहणे चटितः, राज्ञा रुद्राभिधो निजमंत्री तयोः सार्थे दत्तः. ततः प्रवहणं जलधौ चलितं.

अथान्यदा तेन रुद्रामात्येन रत्नवत्या रूपं दृष्ट्वा कामांधीभूय चिंतितमेनमेकाकिनं विदेशिनं जलधौ क्षिप्त्वानया रत्नवत्या सह भोगं विलसामीति ध्यात्वा स कुमारस्य छिद्राणि विलोकयामास. अथान्यदा कुमारः कायचिन्तार्थं रात्रौ मंचिकायामुपविष्टः, तदा प्रवहणे सर्वेषु लोकेषु सुप्तेषु स दुष्टात्मा मंत्री मंचिकारज्जू छित्वा कुमारं सागरेऽक्षिपत्. ततस्तेन पूत्कृतं 'हा हा कुमारः समुद्रे पतितः,' तत् श्रुत्वा विरहातुरा रत्नवती विलापं कर्त्तुं लग्ना. तदा रुद्रेणागत्योक्तं 'हे भद्रे! त्वं विलापं मा कुरु? अहं सदा तव दास्यं करिष्यामि, ततस्त्वं मे भार्या भवेति श्रुत्वा रत्नवत्या चिंतितं नूमनेन दुरात्मना मे भर्त्ता समुद्रे क्षिप्तोऽस्ति, है है अथैष दुरात्मा मे शीलं खंडयिष्यति, ततोऽस्य किंचिदप्युत्तरं दत्वाधुना मे शीलं रक्षामीति ध्यात्वा रत्नवत्योक्तं 'हे मंत्रिन् तीरे गत्वैतस्य मृतकार्यं कृत्वा तवोक्तं करिष्यामी'ति श्रुत्वा मंत्री हृष्ट उवाच 'हे प्रिये एवमस्तु.' अथाग्रे गच्छत्प्रवहणं भग्नं.उक्तं च-विश्वासघातकानां, कृतघ्नानां मित्रद्रोहकारिणां पापानां वंचकानां च सुखं नैव भवति.' अथ रत्नवत्या पुण्येन फलकं लब्धं, क्रमेण च सा कुसुमपुरे समागत्य प्रियमेलकतीर्थे तपः कुर्वती स्थिता. अथ स दुष्टमन्त्यपि फलकं प्राप्य कुसुमपुरे समा-

गतः, केनापि पुण्ययोगेन च स तत्रत्यराज्ञो मंत्री जातः. स सिंहलकुमारोऽपि समुद्रे पतन् केनाप्युत्पाट्य तापसाश्रमे मुक्तः, तत्राश्रमपतिना तस्य शरीरे राजचिह्नानि दृष्ट्वा बह्वादरपूर्वकं तस्मै कथितं, 'भो कुमार! त्वं ममैकं वचनं शृणु? एनां मे रूपवत्यभिधां पुत्रीं त्वं परिणय? यथाहं निश्चिंतीभूय तपस्यां करोमि,' तत् श्रुत्वा तेनापि सा परिणीता, करमोचने च तेन तापसपतिना दिनं प्रति शतटंकदात्री कंथा नभोगामिनी खट्वा च तस्मै दत्ते. ततः कुमारो भार्यायुतः कुलपतिं नत्वा खट्वायामुपविश्योवाच 'भो खट्वे यत्र धनवती भवेत्तत्र त्वं व्रज?' तत्कालं खट्वापि गगनमार्गेण कुसुमपुरोद्याने समागता. तदा तृषातुरया रूपवत्या जलं याचितं, कुमारोऽपि तस्याः समीपे खट्वां कंथां च विमुच्य निकटकूपे जलार्थं गतः, तत्र च यावत्स कूपे रज्जूं प्रक्षिपति तावत्कूपमध्यात्कश्चिदेवं जजल्प, 'भो उपकारिशिरोमणे त्वं कूपान्मां निष्कासय?' तत् श्रुत्वा यावत्स कूपमध्ये विलोकयति तावन्मनुष्यभाषां जल्पंतं सर्पमेकं स ददर्श तदा कुमारेण कृपया निजोत्तरीयं कूपे क्षिप्त्वा स फणी बहिर्निष्कासितः. तदैव तेनाहिना हस्ते दष्टः कुमारः कुब्जीभूतः, कुमारेणोक्तं 'भो फणींद्र! त्वया प्रत्युपकारस्तु भव्यः कृतः!' फणिनोक्तं 'भो कुमार! मरणसंकटे पतितस्य तवाहं प्रत्युपकारं करिष्यामीति' कथयित्वा स सर्पोऽदृश्यीबभूव. किमेतदिति विस्मितहृदयः कुमारः पानीयं गृहीत्वा भार्यासमीपे समागत्योवाच 'हे सुंदरि त्वमिदं शीतलजलं पिब?' कुब्जरूपं दृष्ट्वा रूपवती चिन्तयति नूनमयं मे भर्त्ता न, कोऽपि परपुरुषोऽस्तीति ध्यात्वा सा सन्मुखं न विलोकयति. तत उत्थाय सा बाला सर्वत्र निजभर्त्तारं विलोकयामास, परं कुत्रापि तमलब्ध्वा विलक्षीभूता प्रियमेलकतीर्थे गत्वा तीव्रं तपः कर्त्तुं लग्ना एवं तस्य सर्वा अपि स्त्रियस्तत्र मौनव्रतयुताः स्थिताः सत्यः केनापि सह वार्तालापमपि न कुर्वंति.

अथैषा वार्त्ता नगरमध्ये विस्तृता, लोकै राजा विज्ञप्तः, हे स्वामिन् काश्चित्त्रयः स्त्रियः प्रियमेलकतीर्थे समागत्य मौनयुतास्तपः कुर्वंति, केनापि सार्द्धं शब्दमपि न जल्पंति. तत् श्रुत्वा विस्मितो राजा तत्रागत्य ताभ्यो विविधप्रश्नानि पृच्छति, परं ताः शब्दमपि नो जल्पंति, सन्मुखं चापि न पश्यंति. ततो भयभीतो राजा नगरमध्ये पटहं वादयामास, यः कोऽप्येताः स्त्रियो जल्पयिष्यति तस्मै मम पुत्रीं कुसुममतीमहं दास्यामि. तदा स पटहस्तेन कुब्जेन स्पृष्टः, ततोऽसौ कुब्ज एकं निरक्षरपत्र-पुस्तकं चारुवस्त्रेण बध्ध्वा कक्षायां च तक्षिप्त्वा राज्ञः समीपे प्रियमेलकतीर्थे समागत्यैवमवादीत्, हे राजन् यः कोऽपि द्वाभ्यां जातो भविष्यति स एवैतानि मम पुस्तकस्थान्यक्षराणि वाचयितुं शक्तो न भविष्यति. तत् श्रुत्वा सर्वैरप्युक्तं अहोऽस्मिन् पुस्तके सुंदराण्यक्षराणि संति. ततोऽसौ कुब्जस्तत्पुस्तके स्वचक्षुर्न्यस्य वाचयामास, सिंहलद्वीपात् सिंहलसिंहाख्यः कुमारो निजभार्यया धनवत्या सह प्रवहणे चटितः, प्रवहणं च तत्समुद्रमध्ये भग्नं, तेन स समुद्रमध्ये पतितः अथाग्रेतनं वृत्तांतं कल्ये कथयिष्यामीत्युक्त्वा स मौनेन स्थितः एवं निजवृत्तांतं श्रुत्वा सा धनवती प्राह 'भो कुब्ज अग्रे किं जातं ? तत्करुणां कृत्वा वद ?' ततो विस्मितैर्नृपादिभिस्तस्मै कथितं 'भो भद्र ! अस्या मनोरथं त्वं पूरय ?' कुब्जेनोक्तं हे राजन् ! ततोऽसौ कुमारः फलकेन जलधिमुत्तीर्य रत्नपुरे गत्वा तत्र रत्नवतीं च परिणीय पुनरपि स प्रवहणे चटितः, महासमुद्रे गच्छन् रुद्रदत्ताख्यामात्येन स समुद्रमध्ये पातितः इत्युक्त्वा स निजं पुस्तकं बद्धुं लग्नः तदा रत्नवत्योक्तं 'हे सत्पुरुष ! अग्रे किं जातं ? तत्कृपां विधाय कथय ?' नृपादीनामत्याग्रहेण कुब्जोऽवादीत् 'समुद्रे पतन् स केनापि गृहीत्वा तापसाश्रमे मुक्तः, तत्र च तेन तापसकन्या रूपवती परिणीता. ततोऽसौ तापसपतिदत्तखट्वां स्कंधे समादाय रूपवत्या सहात्रागतः, तदा रूपवत्यतीव तृषातुरा जाता, तदा कुमारो

जलार्थं कस्मिंश्चित्कूपे गतः- तत्र च स सर्पेण दष्टः' इत्युक्त्वा स यावन्मौनं तिष्टति तावद्रूपवत्योक्तं 'भो कुब्ज ! अग्रे कथय? कुब्जस्तु तदनाकर्ण्यैव पुस्तकं बध्ध्वा राज्ञः समीपे कुसुमवतीमयाचत. सत्यप्रतिज्ञेन राज्ञा तस्मै निजपुत्री दत्ता.

अथ तयोः कुब्जकुमार्योर्विवाहोत्सवे तदयुक्तं विज्ञाय राज्ञः केऽपि स्वजनास्तत्र न समायाताः, गीतान्यपि ता एव त्रयः स्त्रियोऽगायंत. करमोचनावसरे श्यालकंप्रति कुब्जेन किंचिद्वस्तु याचितं, तदा क्रुद्धेन तेनापि फूत्कारं कुर्वन्नेकः सर्पः समानीय तस्मै दत्तः, स सर्पोऽपि कुब्जं ददंश, तेन स धरिज्यां पतितः, तं तथावस्थं दृष्ट्वा तास्त्रयोऽपि स्त्रियश्चिन्तयंति, अरे, यद्येष पुरुषो मरिष्यति तदास्मद्वल्लभस्य शुद्धिं कः कथयिष्यति? इति विचिंत्य यावत्ता निजोदरेषु क्षुरिकाः प्रक्षिप्तुं लग्नास्तावत्स कुमारो दिव्यरूपीभूय समुत्तस्थौ.

इतः कोऽपि देवः प्रकटीभूय सर्वसमक्षं तत्र तस्य कुमारस्य पूर्वभवचरित्रं कथयामास. धनपुरे धनंजयाभिधः श्रेष्टी वसति, धनञ्जयाभिधा भार्या वर्त्तते तयोर्धनदेवधनमित्राभिधौ पुत्रावास्तां. तयोर्वृद्धपुत्रेण धनदेवेनैकदा ग्रीष्मकाले शर्करामिश्रितं दुग्धं साधवे दत्तं, तत्पुण्यप्रभावेण स धनदेवजीवोऽहं महर्द्धिकः सुरोऽभूवं. लघुभ्रात्रा धनमित्रेणापीक्षुरसो भावं विना साधवे दत्तः, स च मृत्वा त्वं सिंहलसिंहकुमारो जातः. मुनिदानप्रभावेण त्वया चतुर्भार्या लब्धाः, परं भावखंडनतस्तव ताभिः सह विरहो जातो, यदा महासमुद्रे च त्वं पतितस्तदा मयोत्पाट्य त्वं तापसाश्रमे मुक्तः ततो मयैव त्वं तव शत्रुतो रक्षणार्थं कुब्जरूपीकृतः, इत्युक्त्वा स देवो गगने गतः तत् श्रुत्वा कुमारस्य च जातिस्मरणज्ञानं समुत्पन्नं.

प्रमुदितेन राज्ञा महोत्सवपूर्वकं निजपुत्र्या सह तस्य विवाहः कृतः. ततः क्रुद्धेन राज्ञा स्वदेशात्स रुद्रमंत्री निष्कासितः

ततः कुमारो निजचतुर्भिर्भार्याभिः सहितः खट्वामारुह्य गगनमार्गेण सिंहलद्वीपे गतः, तत्र पित्रा तस्मै राज्यं दत्तं, तत्रासौ कंथाप्रभावेण सकलजनदारिद्र्यं चूरयित्वा जिनधर्मं समाराध्य संलेषणापूर्वकं षष्ठे स्वर्गे देवो जातः, इति मुनिदानफलं ज्ञात्वा मुनिभ्यो दानं देयं, ॥ **इति सिंहलसिंहकुमारकथा समाप्ता ॥ श्रेारस्तु ॥**

तत् श्रुत्वा चुल्लशतकश्राद्ध आनंदवद्व्रतानि स्वीकृत्य प्रभुं वंदित्वा स्वगृहे समागतः. एवं शुद्धभावेन जिनोक्तं धर्मं कुर्वतस्तस्य चतुर्दशवर्षाण्यतिक्रांतानि. अथ पंचादेशे वर्षे ज्येष्ठपुत्रे गृहभारं संस्थाप्य स्वयं चैकादशप्रतिमा आराधयामास.

तत्रैकदा कोऽपि सुरः क्षपायां प्रकटीभूय खड्गहस्तश्चुल्लशतकं प्रत्यवादीत् ' भो श्राद्ध ! यदि त्वमेतानि व्रतानि न खंडयिष्यसि तदा तव ज्येष्ठपुत्रमत्र मारयित्वा तस्य मांसं तप्ततैलकटाहे च पाचयित्वा तद्रुधिरेण त्वां सेचयिष्यामि, एवं च त्वं महाशोकसागरे निमग्नोऽकाले मृत्वा दुर्गतिं यास्यसि, तत् श्रुत्वापि स निजध्यानान्न चचाल. तदा स देवः क्रोधेन तज्ज्येष्ठसुतं तत्रानीय तथैवाकरोत्. तद् दृष्ट्वापि स त्वधिकतरं ध्याने लीनः, एवं स तस्यान्यानपि त्रीन् पुत्रान्मारयित्वा तथैवाकरोत् परं स ध्यानान्न चलितः.

ततस्तेन देवेनोक्तं 'भो चुल्लशतक ! अद्यापि त्वं मम कथनं कुरु ? अन्यथा तवाष्टादशकोटिमितं सुवर्णमपि नगर्यां पृथक् पृथक् स्थाने पातयिष्यामि,' तत् श्रुत्वा तेन चुल्लशतकेन चिंन्तितं नूनमेष कोऽपि दुष्टोऽस्ति. येन मे चत्वारोऽपि पुत्रा मारिताः, अधुना च मे धनमपि स विनाशयिष्यतीति ध्यात्वा स तस्य निग्रहार्थं यावद्धावितस्तावत्स देवो विद्युद्वद्गगने समुत्पतितः चुल्लशतकेन बहिरागत्य कोलाहलः कृतः, तं श्रुत्वा तस्य बहुला भार्या तत्रागत्य कथयामास

'हे स्वामिन् भवद्भिः कथं कोलाहलः कृतः ?' तदा तेन सर्वोऽपि व्यतिकरस्तस्या अग्रे कथितः, तेनोक्तं 'भो नाथ ! केनापि देवेनैवागत्य तवायमुपसर्गः कृतोऽस्ति. तव सर्वेऽपि पुत्राः सूखसुप्ताः संति.' ततोऽसौ हृष्टो गुरुपार्श्वे समालोच्य विधिना श्राद्धधर्ममाराध्य प्रांते मासक्षपणं विधाय मृत्वा सौधर्मदेवलोकेऽरुणाभविमाने चतुःपल्योपमायुर्देवो जातः. तत् भुत्वा गौतमेन पृष्टं 'हे भगवन् ! स ततश्च्युत्वा क्व यास्यति ?' प्रभुणोक्तं 'सो महाविदेहे सेत्स्यति.' ॥ इति चुल्लगशतकस्य श्राद्धस्य चरित्रं सुधर्मस्वामिना जंबूस्वाम्यग्रे कथितं. ॥

**इति श्रीवर्द्धमानदेशनायां वाचनाचार्यश्रीरत्नलाभगणिशिष्येण श्री राजकीर्तिगणिना गद्यबंधेन प्रणीतायां चुल्लगशतकप्रतिबोधो नाम पंचम उल्लासः समाप्त ॥ श्रीरस्तु ॥**

अथ सुधर्मस्वामी जंबूस्वाम्यग्रे कुंडकोलिकश्राद्धस्य चरित्रं कथयति. 'इहैव भरतक्षेत्रे कांपिल्यपुराभिधं नगरमस्ति, तत्र शिलावर्त्तकाभिधमुद्यानं सहकारादिवृक्षोपेतं नंदनवनतुल्यं वर्त्तते. तत्र जितशत्रुराजा राज्यं करोति. तत्र बहुसमृद्धियुतः कुंडकोलिकाभिध एको गाथापतिर्वसति. पूषाख्या तस्य भार्या वर्त्तते. तस्य षट्षट्कोटिसुवर्णं व्याजे व्यापारे भूम्यां च वर्त्तते, षट् च गोकुलानि तस्य गृहे संति. अथान्यदा श्रीगौतमादिगणधरसहितः सकलसुरासुरैः प्रणतचरणः श्रीवर्द्धमानो जिनस्तत्रोद्याने समवसृतः. प्रभुं समवसृतं विज्ञाय स कुंडकोलिको हर्षेण रोमांचयुतो भूत्वा महद्ध्यां तत्रागत्य प्रभुं च त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वोचितस्थानके समुपविष्टः प्रभुरपि धर्मोपदेशं कथयामास भो भो भव्याः कुशाग्रलग्नजलबिंदुवत्तरलं मनुष्यजीवितमस्ति, लक्ष्मीश्च समुद्रतरंगवच्चपला वर्तते, पुत्रकलत्रादिस्नेहश्च स्वप्नोपमोऽस्ति. एवंविधं संसारस्वरूपं विज्ञाय

यूयं धर्मे यत्नं कुरुत । चतुर्विधधर्ममध्येऽपि शीलधर्मः प्रधानोऽस्ति. साधवस्तं शीलधर्मं सर्वस्त्रीवर्जनेनाराधयंति, श्राद्धाश्च परस्त्रीवर्जनेन तं पालयंति, ते च श्राद्धाः कुलध्वजवदिह भवे परभवे च सुखानि प्राप्नुवंति. तस्य कथा यथा—

अस्मिन् दक्षिणभरतक्षेत्रेऽयोध्याभिधा नगर्यस्ति, तत्र शंखाभिधो राजा राज्यं करोति, तस्य धारिण्यभिधा राज्ञी वर्त्तते, तस्याः कुक्षौ समुत्पन्नः कुलध्वजाभिधः कुमारोऽस्ति. स सर्वगुणसंपूर्णत्वेन कुलमंदिरोपरि ध्वज इव शोभते. अन्यदा स कुमारो वनखंडे क्रीडार्थं गतः, तत्रासावेकस्मिन् वृक्षतले बहुसाधुपरिवृतं मानतुंगाभिधानं गुरुं ददर्श. तं दृष्ट्वा हृष्टः कुमारस्तत्रागत्य त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वोचितस्थाने समुपविष्टः गुरुरपि तमुचितं विज्ञाय धर्मोपदेशं ददौ. संसारसमुद्रोत्तारणे यानपात्रं, नरकतिर्यग्गतिदुःखानां च्छेदनेऽसिपत्रं, समस्तकल्याणानां च गृहतुल्यं शीलं निजहितकांक्षिभिः पालनीयं.

तत् श्रुत्वा कुमारेणोक्तं हे भगवन् ! सर्वथा शीलपालने नाहं समर्थः, अतः परस्त्रीत्यागरूपं नियमं मे यच्छत । इति स्वदारसंतोषरुपं चतुर्थव्रतमंगीकृत्य गुरून्नत्वा स गृहमागच्छन् मार्गे द्वौ स्त्रियौ कलहं कुर्वत्यौ ददर्श. तदा स कुमारस्ते अपृच्छत् भो भद्रे ! युवां कलहं किं कुरुतः । तत् श्रुत्वैकावदत् हे राजपुत्र ! अहं लोहकारभार्या सौभाग्यकंदल्यभिधास्मि, तथाहं कूपाद्घटं भृत्वा भाराक्रांता गृहं प्रति गच्छामि. एषा च रथकारभार्या कनकमंजरी रिक्तघटा कूपे याति. अनया रिक्तघटयापि मम मार्गो न दत्तः, एष च कलहकरणे हेतुर्ज्ञेयः, अन्यदपि च कलहकरणकारणं श्रूयतां ॥

पृथिव्यां यावन्मात्रं विज्ञानं वर्त्तते तत्सर्वं मम भर्त्तर्यस्ति, तादृक् च विज्ञानं कुत्रापि न दृश्यते. तत् श्रुत्वा कौतुकेन कुमारोऽपृच्छत् हे भद्रे ? एवंविधं किं विज्ञानं तव भर्त्तर्यस्ति ? । सा प्राह हे स्वामिन् ! शृणु ॥ वंददेवाभिधो लोहकारो

मम भर्त्ता वर्त्तते, स च लोहमयं मीनं करोति, नृपाज्ञया च स मीन आकाशे समुत्पत्य समुद्रे प्रविशति, ततश्चोत्तममुक्ताफलानि गिलित्वा स पुनः स्वस्थाने समयाति.

अथ रथकारभार्या मुखमाम्रेडयित्वा हस्ततालं ददती हसंती प्राह 'रे कुमारेन्द्र अनेन विज्ञानेन किं। विज्ञानं तु तदेवाहं मन्ये यन्मे दयिते विद्यते.' कुमारेणोक्तं 'हे सुलोचने! तव भर्त्तरि किं विज्ञानं वर्त्तते?' तयोक्तमत्र नगरे कंदर्पाभिधो रथकारो मे भर्त्ता दारुमयमश्वं करोति, तदारुढो जनश्च षण्मासं यावद्गगने भ्रमति. अथ तयोर्वचनानि श्रुत्वा विस्मितः कुमारो नृपसमीपे समागत्य सर्वं वृत्तांतं कथयामास. राज्ञापि तत्कालं तौ लोहकाररथकाराकारितौ. लोहकाराय च राज्ञा लोहं समर्पितं, तदा लोहकारेण विद्याबलेन मीनो घटितः, तस्य मीनस्य पृष्टे चैकोऽपवरकः कृतः, द्वे च कीलिते कृते.

अथ स लोहकारो राज्ञा सह मीनोपरि समारुह्य पक्षिवद् गगने उत्पतितः एवं स राजा विद्याधर इव गगने गच्छन ग्रामाकरनगरसंकुलं देशमपश्यत्। अथ स मीनो यदा सागरसमीपे समायातस्तदा नृपलोहकारौ कपाटं विधायापवरके स्थितौ. मीनश्च जलमध्ये गत्वा मुक्ताफलानि गिलित्वा तूर्णं पश्चाद्वलितः, स्वपुरे च समागतः, तौ द्वावपि तत्पृष्टादुत्तरितौ, ततो लोहकारेण कीलिके दूरीकृते, तदा तन्मध्यान्मुक्ताफलानि पतितानि.

अथातिविस्मितो राजा लोहकारमाह एष मीनः कथं गत्यागती कुरुते? तेनोक्तं हे राजन्! मया पूर्वं सिद्धायिका देव्याराधितासीत्, तया च प्रसन्नया गत्यागतिकारिके द्वे कीलिके मह्यं दत्ते. तेन कीलिकायोगेनाहं गगने गच्छामि, यतो

देवानामर्चित्वा शक्तिर्वर्त्तते.

अथ स रथकारोऽपि दारुमयमश्वं घटित्वा राजानं दर्शयामास, कथितं च तेन हे स्वामिन्नत्राश्वे यूयं वा कुलध्वजकुमार आरोहतु ? तत् श्रुत्वा राजानं प्रति कुमारेणोक्तं 'हे स्वामिन् भवदाज्ञा चेत्तदाहमत्राश्वे समारुह्य पृथ्वीं पश्यामि,' राज्ञोक्तं सुखेन विलोकय ? ततो रथकारेण गमनागमनार्थं कुमाराय द्वे कीलिके समर्पिते, कुमारेणापि च ते कीलिके अश्वस्य पृष्टे निहिते. अथ कुमारो राजानं नमस्कृत्य सर्वेषु लोकेषु पश्यत्सु हयारूढो गगने समुत्पतितः, क्रमेण चादृश्यो बभूव.

अथ सोऽश्वः पृथ्व्यां भ्रांत्वा कस्यचिन्नगरस्य निकटे वने समुत्तरितः, तदा कुलध्वजकुमारेण तस्य कीलिके निष्कासिते, तुरंगस्य काष्ठानि च पृथक् पृथग् विधाय तस्य भारकं कृत्वोच्छीर्षके दत्त्वैकस्य वृक्षस्य छायायां स सुप्तः. मध्याह्नेऽपि तस्य वृक्षस्य छाया तथैव स्थिरीभूता. इतस्तत्रागतो मालाकारो वृक्षच्छायां स्थिरां दृष्ट्वा विस्मतश्चिंतयामास नूनमस्य सुप्तस्य पुरुषस्यायं प्रभावो दृश्यते, इति ध्यात्वा स तस्य पादांगुष्ठं पस्पर्श. तदा जागरितं कुमारंप्रति मालाकारोऽवदत् हे सत्पुरुष त्वमद्य मम गृहे प्राघूर्णको भव ? कुमारेणापि तत्प्रतिपन्नं, तदा मालाकारः कुमारं सार्थे कृत्वा गृहे समागतः, कुमारेणापि तत्र गृहकोणके तुरंगकाष्ठभारः स्थापितः, ततो मालाकारेण भव्यरीत्या कुमारस्य भोजनं कारितं. अथ दिनपाश्चात्यप्रहरे शोभाविलोकनार्थं कुमारो नगरमध्ये गतः, तत्र तेनैकं कांचनपांचालिकामंडितं तोरणैर्विराजितं जिनमंदिरं दृष्टं, तत्र गत्वा कुमारः श्रीमुनिसुव्रतजिनं नत्वा परमभक्त्या स्तुतिभिर्यावत्स्तवति तावदेका महिला तत्र समागत्य चैत्यस्थितान्मनुष्यान् बहिर्निष्कासयामास. तदा कुमारेण चिंतितं कैषा ? कथं च पुंसो बहिर्निष्कासयति ? इति ध्यात्वा

स एकस्मिन् कोणके तथा प्रच्छन्नतया लीनो यथा तं कोऽपि न पश्यति.

इत एका कन्या दिव्यरूपधारिणी तत्र समागत्य जिनपूजां विधाय सखीभिर्युता नाट्यं कृत्वा स्वगृहं प्रति चलिता. अथ रजन्यां कोणकान्निर्गत्य कुमारः कंचित्पुरुषमपृच्छत् भो भद्रात्रागता सा सुलोचना कास्ति ? तेनोक्तं भो सत्पुरुष शृणु ? रत्नपुरनामेदं नगरं वर्त्तते, श्रीमुनिसुव्रतस्वामिभक्ता विजयाख्यश्चात्र राजास्ति, तेन नृपेण चेदं स्वर्णमणिरत्नमंडितं जिनमंदिरं कारितमस्ति. तस्य राज्ञो जयमालाराज्ञीकुक्षिसमुद्भवा चैषा सुंदर्यभिधा कन्यास्ति.

अथ तां वरयोग्यां ज्ञात्वा योग्यवरार्थं चिंतातुरं राजानं वीक्ष्य कन्यया सखीपुरत एवं प्रतिज्ञा कृता, यो भूचरः खेचरश्च भवेत् स एव निजशक्त्या मम भर्त्ता भविष्यति, अन्यथा मेऽग्नेः शरणं, इति तया प्रतिज्ञा कृतास्ति, तत् श्रुत्वा कुलध्वजकुमारो मालाकारगृहे समागत्य निशाश्वं सज्जीकृत्य रात्रौ कीलिकाप्रयोगेण राजकन्याभुवने गवाक्ष मार्गेण प्राप्तः तत्रासौ कन्यायाः पल्यंकस्य चतुर्दिक्षु अर्द्धचर्वितांबूलानि क्षिप्त्वा पुनस्तेनैव मार्गेण पश्चाद्वलित्वा मालाकारगृहे समागतः.

अथ प्रभाते प्रतिबुद्धा राजकन्या सर्वत्र तांबूलं विस्तृतं वीक्ष्य चिंतयति अत्र नूनं कोऽपि त्रिदशो विद्याधरो वा रात्रौ समागतो विलक्ष्यते, इति ध्यात्वा कथमपि दिनमतिक्रम्य रजन्यां सा तत्र कपटनिद्रया सुप्ता. तदा स कुलध्वजकुमारोऽश्वमारुह्य तेनैव विधिना तत्र प्राप्तः सर्वत्र तांबूलं विकिर्य यावत् स पश्चाद्वलितस्तावत्कुमार्यां कराभ्यां तद्वस्त्रांचलो गृहीतः, ततः कुमारीपृष्टेन तेनोक्तं हे भद्रे काष्ठाश्वप्रयोगेण भूचरोऽप्यहं खेचरो जातोऽस्मि. तत् श्रुत्वा तयोक्तं भो सत्पुरुष

तर्हि मे मनोरथोऽद्य फलितः इत्युक्त्वा निजवृत्तांतं निवेद्य प्रदीपसाक्षिकं तया तेन सह निजविवाहस्तत्र कृतः. ततोऽसौ नित्यं तत्रागत्य तया सह विषयसुखानि भुंक्ते.

अथ क्रमेण दासिभिः कन्यायाः स्तनाद्यंगवृद्धिं विज्ञाय भयभीताभिश्चिंतितमहोऽकालेऽप्यस्य अंगानि वृद्धिभावं कथं प्राप्तानि? इति ध्यात्वा ताभिः स वृत्तांतो राज्ञ्यै निवेदितः, तदा राज्ञ्यपि तत्रागत्य तदंगवृद्धिं दृष्ट्वा विस्मिता राजानं तत्कथयामास. तत् श्रुत्वा क्रुद्धो राजावदत् हे देवि! येनानार्येण मम गृहे समागत्यैवंविधं दुश्चेष्टितं कृतमस्ति, तं पुरुषं नूनमहं यमगृहे प्राघूर्णको विधास्ये. इत्युक्त्वा राजा क्रोधातुरो भीषणभृकुटियुतभालः सभायामागत्योपविष्टः तदा सभायामुपविष्टया वागुराभिधया नगरनायिकयैकया राजानं क्रोधातुरं विज्ञाय तत्कारणं पृष्टं, तदा राज्ञापि तस्यै प्रच्छन्नं सर्वोऽपि निजपुत्रीवृत्तांतः कथितः तयोक्तं हे राजन् त्वं चिंतां मा कुरु? तमन्यायकारिणं पुरुषं बध्वाहं तव पार्श्वे आनयिष्यामि. इति प्रतिज्ञां कृत्वा सा निजगृहे समायता.

अथ तया वेश्यया रात्रौ प्रच्छन्नं कन्यायाः शयनगृहे सर्वत्र भूमौ सिंदुरः प्रक्षिप्तः ततोऽर्द्धरात्रौ हयारूढः कुमारोऽपि तत्रागत्य राजपुत्र्या सह भोगविलासमकरोत्, रात्र्याः पाश्चात्यप्रहरे च मालाकारगृहे पुनरागत्य सुप्तः. अथ प्रगे सा वेश्या कन्याया गृहे समागत्य भूमिविस्तृतसिंदूरपूरे पुरुषपदपंक्तिं दृष्ट्वा तत्रागतं च पुरुषं भूचरं विज्ञायारक्षकैः सार्द्धं तस्य गवेषणाय नगरमध्ये भ्रमंती द्यूतस्थाने समागतं सिंदूरारुणचरणं कुमारं ददर्श. तदा वेश्यया चिंतितं नूनमेष एव पुरुषस्तत्रागत्य रात्रौ राजकन्यया सह भोगविलासं करोति. इति विचिंत्य सा कुमार मारक्षकैर्गृहीत्वा राज्ञः पार्श्वे समानयत् राजापि तं

दृष्ट्वातीवज्वलितस्तस्यान्यायकारिणो वधाय समादिदेश. राज्ञ आदेशं प्राप्यारक्षकास्तं गृहीत्वा वधस्थाने नेतुं लग्नाः.

अथ मार्गे आरक्षकैर्नीयमानं तं महातेजस्विनं कुमारं दृष्ट्वा लोकाः परस्परमेवं जजल्पुः, अहो राजा नूनमेतादृशस्य पुरुषस्य वधकरणेनानुचितं कुरुते, एतद्वियोगेन राजकन्यापि ध्रुवं मरिष्यति, पुत्र्या च बाल्यवशेन यदीदृक्कर्म कृतं, तथा राज्ञः स्वगृहस्यैतद्दुश्चरितं प्रकाशयितुं न युज्यते. उक्तं च—

**आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं । मंत्रमैथुनभेषजं ॥ दानं मानापमानौ च । नव गोप्यानि कारयेत् ॥ १ ॥**

इत्यादि लोकवचनानि शृण्वन् सुभटैः परिवृतः कुमारः क्रमेण चलन् मालाकारगृहपार्श्वे समागतः, तदा कुमारेणारक्षकेभ्यः कथितं 'भो भो आरक्षका अत्र मालाकारगृहे मम कुलदेव्यस्ति. ततो यदि भवदाज्ञा चेत्तदा भवत्प्रसादेनाहमत्र तां नमामि तैरुक्तं याहि ? सुखेन प्रणमयेत्युक्तोऽसौ मालाकारगृहमध्ये समागत्य निजाश्वं सज्जीकृत्य तत्रारुह्य सर्वेषु पश्यत्सु पक्षिवद्गगने समुत्पतितः, ततोऽसौ कन्याया भवने समुत्तीर्य तामप्यश्वे समारोप्योड्डीय महासमुद्रपार्श्वे समायातः, तदा कुमारस्य क्षुधा लग्ना, कुमारं क्षुधितं विज्ञाय कन्ययोक्तं हे स्वामिन् भवत्कृते निजगृहे गत्वा यावन्मोदकानानयामि तावत्त्वं धीरतामवलंब्यात्र तिष्ठ. इत्युक्त्वा साश्वमारुह्य निजगृहे गता, अश्वं च गवाक्षे संस्थाप्य सा मोदकगृहणार्थमोत्सुक्यतोऽपवरके गता.

इतो वातप्रयोगेण स दारुमयोऽश्वो धरित्र्यां पतित्वा भग्नः. अथ मोदकान् गृहीत्वा यावत्सा राजपुत्री गवाक्षे समायाता तावदश्वं भग्नं मह्यां च पतितं विज्ञाय व्याकुलीभूता चिंतयामास 'हा हा दैवेनाहं मुष्टा, मे पूर्वार्चीर्णं कर्मोदयमागतं, अरे मे स्वामि समुद्रतटे स्थितः, अश्वश्चात्र भग्नः, अधुना तु ममोपरि दुःखसंघातः पतितः,

अथ मया पतिं दृष्ट्वैव भोक्तव्यमित्यभिग्रहं स्नेहवशेन साऽकार्षीत्. इतः कुलध्वजकुमारो निजप्रियां बहुवेलयाप्यनागतां ज्ञात्वा चिंतयामास, नूनं मे प्रिया गगनगामिना केनापि विद्याधरेण हृता. इति चिन्तयतः कुमारस्य पार्श्वे काप्येका महादिव्यरूपा विद्याधरी गगनमार्गाद्विमानतोऽवतीर्य कुमारसमीपे समागता. तदा कुमारेणोक्तं हे भद्रे ! त्वं कासि ! कुत्र च यास्यसि ? कुतश्चात्रागता ? सावादीत् भद्र शृणु ? वैताढ्यपर्वते मणिचूडाभिधो विद्याधरो नृपो वसति, तस्याहं कनकमालाभिधा पट्टराइयस्मि. अद्य मम भर्त्ता विपक्षैर्वलाद्धृतोऽस्ति, कामव्याकुलया भ्रमंत्या मया त्वमिह दृष्टः, तव सुंदरं रूपं दृष्ट्वाहं कामाग्निना ज्वलितास्मि, अतस्त्वमात्मीयसंगमजलेन मां शीतली कुरु ? कामबाणैः पीडिताहं तव शरणे समागतास्मि. तत् श्रुत्वा कुमारेणोक्तं हे सुंदरि ! परस्त्रीसेवने मे नियमोऽस्ति, ततस्तद्व्रतमहं प्राणत्यागेऽपि नैव भंक्ष्यामि. तत् श्रुत्वा कुपिता सा विद्याधरी कुसुमान्यभिमंत्र्य तस्योपरि चिक्षेप. तेन स कुमारो मूर्च्छितो जातः, ततः सा दुष्टा विद्याधरी तमुत्पाट्य जलधौ काष्टवदक्षिपत्. धिग् धिग् महिलानां कामांधत्वं निःकरुणत्वं च.

अथ समुद्रे पतन् स पुण्ययोगेन जलदेव्या धृतः, देवीप्रभावाच्च स सचेतनो जातः, ततो देवीपृष्टेन कुमारेण स्वकीयः सकलोऽपि वृत्तांतस्तस्यै निवेदितः, देव्योक्तं हे महाभाग ! परस्त्रीनियमपालनेन त्वं धन्यः कृतपुण्यश्चासि,

अथाहं तुभ्यं तुष्टास्मि, अतो यथेप्सितं वरं वृणु ? कुमारेणोक्तं हे देवि मम प्रियासंगो निरंतरं यथा भवेत्तथा कुरु ? तत् श्रुत्वा देवी तमुत्पाट्य कन्याया भवने मुमोच.

तदा कुमारो निजं काष्टाश्वं भग्नं निजभार्यां च रुदंतीं ददर्श. अथ देवी कुमारंप्रत्यवादीत् भो सत्पुरुष ! इदानीमपि

किंचित्तवेप्सितं कार्यं मे कथय ? कुमारः प्राह हे मातरिमं मे भग्नं दारुमयमश्वं त्वं सज्जीकुरु ? ततः सा देवी निजशक्त्या तमश्वं सज्जीकृत्य स्वस्थाने गता.

अथ दासीमुखात्तत्र कुमारागमनं श्रुत्वा क्रुद्धो राजा कुमारमारणाय निजसैन्यमप्रेषयत् तुरंगस्थेन नभोगेन कुमारेण पुण्यप्रभावात्सर्वं सैन्यं भग्नं.

अथ राजा मनसि चिन्तयति 'अरे मयैतद्युक्तं किमारब्धं ? कन्या तु यस्य कस्यापि देयैव, तदेदृशं वरं कुत्राहं लस्ये ? इति ध्यात्वा निजप्रधानपुरुषान् संप्रेष्य बहुमानपूर्वकं तेन निजपुत्री कुमारेण सह महोत्सवेन परिणायिता.

अथ कुमारो नृपादेशं प्राप्य सभार्यस्तमश्वमारुह्य स्वनगरं प्रति चलितः. इतः शंखनृपेण पुत्रवियोगेन षट्सु मासेष्वतिक्रांतेषु तं रथकारं धृत्वा तज्ज्वालनाय नगराद्बहिश्चिता कारिता. रुष्टो राजा यमतुल्यस्तुष्टश्च धनदोपमो भवति.

अथ नृपादेशेन राजपुरुषास्तं रथकारं बध्ध्वा चितासमीपे समानीय विरसं ब्रुवंतो यावत्तं चितामध्ये क्षेप्तुं लग्नास्तावत्कुमारः सभार्योऽश्वारूढो गगनात्तत्र समुत्तीर्णः. पुत्रागमनेन प्रमुदितो राजा पुत्रं रथकारं च महामहोत्सवेन नगरे प्रवेशं कारयामास. अथ क्रमेण स शंखराजा कथाशेषो जातः, कुलध्वजकुमारश्च राजा जातः, सा सुंदर्यपि पट्टराज्ञी जाता, एवं स तया सह स्वेच्छया विषयसुखानि भुंक्ते.

अन्यदा तन्नगरोद्याने परिवायुतः केवली समवसृतः, मालिकमुखात्तदागमनं श्रुत्वा राजा तद्वंदनार्थं गतः, तत्र धर्मं श्रुत्वा प्रतिबुद्धो राजा सुतं राज्ये निवेश्य विधिना तस्य केवलिनः पार्श्वे प्रव्रज्यां जग्राह. ततः स राजर्षिः संसारं कारागारं

मन्यमानोऽनित्यभावनां भावयामास. यथा—लक्ष्मीश्चपला वर्त्तते, सुखं च स्तोकं, शरीरं विनश्वरं, अवश्यमेव मर्त्तव्यं, पुनःपुनर्जन्मजरामरणानि, एवमरघटन्यायेन जीवानां क्लेशपरंपरा न निवर्त्तते. एवं विशुद्धभावनाभावितचित्तस्य तस्य क्रमेण शुक्लध्यानतः केवलज्ञानं समुत्पन्नं. ततोऽसौ कियत्कालं भव्यजीवान् प्रतिबोध्य मुक्तिं ययौ.

॥ इति श्रीकुलध्वजकुमारकथा समाप्ता ॥ श्रीरस्तु ॥

एवं भो भव्याः कुलध्वजकुमारवन्निर्मलशीलपालनात् शिघ्रमेव मुक्तिसुखं प्राप्यते. इति धर्मोपदेशं श्रुत्वा कुंडकोलिकेन द्वादशविधः श्रावकधर्मः प्रतिपन्नः, जीवाजीवादिनवतत्त्वानि विज्ञाय हृष्टोऽसौ श्रीवर्द्धमानजिनं वंदित्वा निजगृहे समाययौ एवं स तत्र मायादिशल्यरहितो भव्यरीत्या जिनधर्मं पालयति.

अथैकदा सोऽशोकवाटिकायां मध्याह्ने शिलापट्टके निजनामांकितमुद्रिकामुत्तरासंगं च विमुच्य सामायिकं प्रतिपद्य शुभध्यानं ध्यायति. तदा तत्र कोऽपि त्रिदशः प्रकटीभूय तन्मुद्रिकामुत्तरासंगं च गृहीत्वा गगनस्थस्तं प्रत्येवमवादीत् भो श्राद्ध मंखलीपुत्रस्य धर्मः शोभनोऽस्ति, तत्रोत्थानकर्मवीर्यपुरुषाकाराश्च न संति. तत्रोत्थानं तपःसंयमादिषु १ कर्म च गमनक्रियादिषु २ वीर्यं जीवशरीरबलं ३ पुरुषाकारो निजकार्यकरणपराक्रमो ज्ञेयः ४. एतैर्विना जीवानां सर्वकार्यसिद्धिर्भवति.

अतो भो कुंडकोलिक अतःपरं त्वयैवं न वक्तव्यं यदुत्थानादिभिः कार्यसिद्धिर्भवतीति, यतः—

प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः । सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ॥
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने । नाऽभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥१॥

न हि भवति यन्न भाव्यं । भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ॥
करतलगतमपि नश्यति । यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥२॥

अतो मंखलिपुत्रस्य गोशालकस्य धर्मः शोभनः, श्रीवर्द्धमानप्रणीतो धर्मः शोभनो नास्ति. इत्यादि सुरस्य वचनानि श्रुत्वापि जिनवचनभावितात्मा कुंडकोलिकश्राद्ध उवाच भो देव ! तवोक्तं युक्तियुक्तं न, यत उत्थानादिविना कार्यसिद्धिर्नैव भवति. चेद्यदि पुरुषाकारादि विनैव कार्यसिद्धिर्भवेत्तदा त्वया देवर्द्धिः कथं प्राप्ता ? यदि च संयमादिरहितैरपि देवर्द्धिः प्राप्यते तदा संसारस्थाः सर्वेऽपि जीवा देवर्द्धिसंयुक्ता एव भवेयुः, अत्र पुनरेके जीवाः सुखिनोऽपरे चातीवदुःखिनो दृश्यंते, तस्य किं कारणं ? यदि सर्वेऽपि भावा निजस्वरूपा एव भवेयुस्तदा नूनमेषां पर्यायपरावर्त्तोऽपि न भवेत्. भवतापि भवांतरे तीव्रतपःसंयमादि कृत्वैव देवत्वं प्राप्तमस्ति. अतस्त्वदुक्तं सर्वं मिथ्यैव ज्ञेयं.

जिनप्रणीतो धर्मः सत्यतत्त्वरूपोऽस्ति, गोशालस्य धर्मश्चासत्यरूपो ज्ञेयः. किं च भो देव त्वं ज्ञानवानसि, अतो निजबुद्धेर्धर्मस्य सत्यासत्यत्वं विचारय ? उक्तं च—

बुद्धेः फलं तत्त्वविचारणं च । देहस्य सारं व्रतधारणं च ॥
अर्थस्य सारं किल पात्रदानं । वाचः फलं प्रीतिकरं नराणां ॥ १ ॥

इत्यादि कुंडकोलिकवचनैर्देवो निरुत्तरीभूय चिंतयामास नूनमनेनाहं जितः. ततोऽसौ तन्मुद्रिकामुत्तरीयं च मुक्त्वा स्वस्थाने गतः.

इतस्तत्र श्रीवर्द्धमानस्वामी समवसृतः, देवैश्च समवसरणं कृतं. कुंडकोलिकोऽपि प्रभोरागमनं श्रुत्वा तत्र गत्वा प्रभुं त्रिः-प्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वा स्तुत्वा चाग्रे समुपविष्टः. देशनांते सुरासुरसभायां प्रभुणा कुंडकोलिकंप्रत्युक्तं भो कुंडकोलिक मध्याह्नेऽशोकवाटिकायां शिलोपर्युपविष्टस्य तवाग्रे कश्चिद्देवः प्रकटीभूय तव मुद्रिकोत्तरीये गृहीत्वा जिनधर्मं निनिंद, गोशालधर्मं च प्रशशंस, त्वया च तदा तं युक्तिभिर्निरुत्तरीकृत्य जिनधर्मः स्थापितः, अतस्त्वं कृतार्थः कृतपुण्यश्चासि. ततः प्रभुः साधुसाध्वीगणमुद्दिश्य कथयामास भो महानुभावा गृहस्थेनाप्यनेन कुंडकोलिकेन यदा स मिथ्यादृष्टिर्देवो युक्तिभिर्निरुत्तरीकृतस्तदा द्वादशांगवेदिभिर्युष्माभिस्तु परतीर्थिकान्निरुत्तरीकर्तुं विशेषेण समर्थैर्भवितव्यं.

तत् श्रुत्वा साधुसाध्वीगणोऽपि प्रभुवचनं तथेति कृत्वा विशेषेण तपःसंयमादिषूद्यतोऽभवत्. कुंडकोलिकोऽपि कियदर्थविचारं जिनमुखात् श्रुत्वा प्रभुं च नमस्कृत्य गृहे समागतः. प्रभुरप्यन्यत्र विजहार.

अथ स कुंडकोलिकश्राद्धश्चतुर्दशवर्षाणि यावज्जिनधर्मं समाराध्य पंचदशे वर्षे जातसंवेगो ज्येष्ठपुत्रं गृहभारे संस्थाप्यानंदवद्विधिनैकादशप्रतिमा आराधयामास. प्रांते चाराधनां विधाय जीवराशिं च क्षामयित्वा पंचपरमेष्ठिध्यानं ध्यायन् मासक्षपणेन कालं कृत्वा प्रथमदेवलोकेऽरुणाभविमाने चतुःपल्योपमायुर्देवो जातः. तदा श्रीगौतमेन पृष्टं हे भगवन्! ततश्च्युत्वा स देवः क्व यास्यति? भगवानुवाच हे गौतम! ततश्च्युत्वासौ महाविदेहे सेत्स्यति. एवं कुंडकोलिकश्राद्धस्य चरित्रं श्रुत्वा जंबूस्वामी श्रीसुधर्मस्वामिनं पुनः पुनर्नमस्कारं करोति. ॥

**इति श्रीवर्द्धमानदेशनायां वाचनाचार्यश्रीरत्नलाभगणिशिष्येण श्री राजकीर्तिगणिना गद्यबंधेन प्रणी-**

तायां श्रीकुंडकोलिकश्रावकप्रतिबोधो नाम षष्ठ उल्लासः समाप्तः ॥ श्रीरस्तु ॥

अथ श्रीसुधर्मस्वामि जंबूस्वाम्यग्रे सद्दालपुत्रस्य चरित्रं कथयति.—

अस्मिन् जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे पोलासाभिधं नगरं वर्त्तते, तत्र जितशत्रुराजा राज्यं करुते. तन्नगराद्बहिः सहस्राम्रवनाभिधश्चैको वनखंडोऽस्ति. तत्रैकः सद्दालपुत्राभिधः प्रजापतिर्वसति, स च मंखलीपुत्रगोशालकस्य श्रावकोऽस्ति, तस्य मते चातिनिपुणीभूतो गोशालप्ररूपितं धर्मं करोति. तस्य व्याजे व्यापारे भूम्यां चैकैका स्वर्णकोटिरस्ति, एकं च तस्य गोकुलं वर्त्तते. अन्यापि तस्य गृहे बह्वी समृद्धिरस्ति. तस्याग्निमित्राभिधा भार्या शुद्धशीलपवित्रगात्रास्ति. तस्य नगराद्बहिः पंचशतानि भांडहट्टानि संति, पंचशतभृत्याश्च तेषु हट्टेषु व्यापारार्थमुपविशंति, नवीनभांडानि कुर्वंति पाचयंति च. अन्येऽपि तस्य भृत्या भांडानि गृहीत्वा नगरमध्ये राजमार्गे समुपविश्य विक्रयंति.

अथान्यदा सद्दालपुत्रोऽशोकवाटिकायां स्थितोऽस्ति. तदा कोऽपि देवः प्रत्यक्षीभूय तमवादीत् भो सद्दालपुत्र ! प्रगेऽत्र सम्यग्ज्ञानदर्शनधरः सर्वज्ञः केवली त्रैलोक्यपूज्यो मुक्तकर्मबंधनश्चार्हन्नत्र समेष्यति, त्वया वंदनं कार्यं तस्मै च त्वया पीठफलकशय्यासंस्तारकार्थं निमंत्रणं कार्यं, इत्युक्त्वा स देवोऽदृश्यभूतः. अथ सद्दालपुत्रो मनसि चिंतयति नूनं पूर्वोक्तगुणोपेतो मे धर्माचार्यो मंखोलीपुत्रो गोशाळोऽत्र समेष्यति, तस्याहं वंदनं विधाय पीठफलकशय्यासंस्तारकार्थं निमंत्रयिष्यामीति ध्यात्वा स्थितः.

अथ प्रभाते श्रीवर्द्धमानस्वामिनस्तत्र समागताः. नृपादिनगरलोकाश्च प्रभोर्वंदनार्थं तत्र समायाताः. तदा स सद्दालपुत्रोऽपि

विधिना स्नानं कृत्वा शुद्धवस्त्राणि परिधाय सुखासनस्थो महद्ध्वर्या जिनपार्श्वे समागतः. प्रभुं प्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वा चाग्रे निषण्णः. तदा प्रभुपरि मधुरया वाण्या धर्मोपदेशं कथयति. धर्मस्य रागो, विषयाणां विरतिः, कषायाणां त्यागो. गुणेष्वनुरागो, धर्मक्रियायां चाऽप्रमादः, एते सद्गतेरुपायाः संति.

देशनांते जिनेंद्रः सद्दालपुत्रंप्रत्यवादीत् भो सद्दालपुत्र ! गतदिने एको देवस्तव पार्श्वे प्रकटीभूयोवाच प्रभाते सर्वदर्शी सर्वज्ञो जिनः समेष्यति, स सुरासुरैर्वंदनीयोऽस्ति, अतस्त्वयापि तत्पार्श्वे गत्वा तस्मै वंदनं कार्यं, पीठफलकशय्यासंस्तारकार्थं च तस्य निमंत्रणा कार्येत्युक्त्वा स देवो गतः, ततस्त्वया चिंतितं नूनमेतल्लक्षणलक्षितो मे धर्माचार्यो गोशालः समेष्यतीति. तत् श्रुत्वा सद्दालपुत्रो मनसि चिंतयति नूनं देवोक्ताः सर्वे गुणा अस्मिन्नेव दृश्यंते. अतोऽसौ सर्वज्ञो जिनोऽस्ति. पुण्यहेतवे च ततोऽहमेनं शय्यासंस्तारकपीठफलकार्थं निमंत्रयामीति विमृश्य स नमस्कारपूर्वकं श्रीवीरजिनेंद्रं निमंत्रयति, हे भगवन् ! अत्र पोलासपुरनगरे पंचशतानि मे कुलालहट्टानि विद्यंते. ततो यूयं पादपीठशय्यासंस्तारकादि गृहीत्वा ममोपर्यनुग्रहं कुरुत ?

तत् श्रुत्वा श्रीवर्द्धमानजिनस्ततः शय्यासंस्तारकादि गृहीत्वा तस्य प्रतिबोधार्थं तत्र स्थितः.

अथैकदा स प्रजापतिर्निजभांडान्यातपे स्थापयति, तदा तत्प्रतिबोधनार्थं जिनोऽवादीत् भो सद्दालपुत्र एते भांडास्त्वया कया रीत्या निष्पादिताः ? तेनोक्तं हे भगवन् ! प्रथममहं खानितो मृत्तिकामानयामि, ततस्तां पानीयेनार्द्रीकृत्य मर्दयामि, ततस्तस्याः पिंडं कृत्वा चक्रे समारोप्य घटादि करोमि. तदा जिनेंद्रेणोक्तं तर्हि किमेते घटादय उद्यमैर्विनैव जाताः ?

तत् श्रुत्वा गोशालमतरतः सद्दालपुत्रोऽवादीत् हे भगवन् उद्यमादीनां त्वभाव एव वर्त्तते, जगति सर्वेऽपि पदार्था नियता एव संति. तदा भगवानुवाच भो सद्दालपुत्र यदि कोऽपि पुरुषो रुष्टः सन् तव भांडानि पृथक् पृथग् विधाय खंडयेत्, तव भार्यया सह च भोगविलासान् कुर्यात्तदा तस्य त्वं कं दंडं कुर्याः ? सद्दालपुत्रेणोक्तं हे भगवन् ! तं पुरुषमहं तर्जयामि, बंधयामि, विडंबनापूर्वकं च हन्मि. तदा भगवतोक्तं भो सद्दालपुत्र तव मते यदि सर्वे पदार्था नियता एव संति तदा पूर्वोक्तकार्यकरणेऽपि स पुरुषस्तन्न करोत्येव. तथा च त्वया तस्योपरि क्रोधादिरपि न करणीय एव, यतस्तव मतानुसारेण भवितव्यं भवत्येव. परं भो सद्दालपुत्र ! स तवाचार्यो गोशालकोऽसत्यप्ररूपकोऽस्ति. इत्यादिश्रीवीरवचनानि श्रुत्वा तस्य मिथ्यात्वतिमिरं प्रणष्टं. तेनासौ चिन्तयति नूनं गोशालप्ररूपितो धर्मो युक्तियुक्तो नास्ति, श्रीवर्द्धमानप्ररूपितो धर्मश्च सत्योऽस्ति.

इति विचिंत्य स जिनवरेन्द्रमवादीत् 'हे भगवन् ! अथ युष्मन्मुखादहं विशुद्धं धर्मं श्रोतुमिच्छामि.' भगवतोक्तं धर्मोऽर्थः कामश्चैते त्रयः पुरुषार्थाः संति, तत्राप्यर्थकामौ धर्मादेव भवतस्तेन धर्म एव प्रधानो ज्ञेयः, धर्मादेव प्राणिनां सौभाग्यमुत्तमकुले जन्म, परोपकारे मतिः, निर्मला बुद्धिः, दिव्या समृद्धिः, प्रधानभोगाश्च भवंति. स च धर्मो द्विविधोऽस्ति, एकः साधुधर्मो, द्वितीयश्च श्रावकधर्मः, तपोधनानां साधूनां स पंचमहाव्रतरूपः, श्राद्धानां च सम्यक्त्वमूलः पंचाणुव्रतसप्तशिक्षाव्रतैर्द्वादशविधः कथितोऽस्ति. दुष्टाष्टकर्मविनाशाय च बाह्याभ्यंतरभेदैर्द्वादशविधं तपः प्ररूपितमस्ति.

ततो ये मनुष्या भावेन स्तोकमपि तपः कुर्वंति ते सर्वश्रीणां भाजनं भवंति, दामनकवच्चेहलोके परलोकेऽपि च ते सुखिनो भवंति.

तथाहि—इहैव भरतक्षेत्रे राजपुरे एकः कुलपुत्रो वसति, तस्य जिनदासाख्य एकः श्राद्धः सुहृद्वर्त्तते। अन्यदा स जिनदासस्तं कुलपुत्रं साधुसमीपे समानयत्, तदा साधुना तस्याग्रे जिनप्रणीतो धर्मः कथितः, धर्मं श्रुत्वा तेन झषमांसभक्षणस्य गुरुसमीपे प्रत्याख्यानं कृतं, तदनंतरं स शुद्धभावेन भव्यरीत्या तद्व्रतं पालयति. अथान्यदा तत्र देशे महादुर्भिक्षो जातः, तदा सर्वेऽपि लोकाः क्षुद्व्यथापीडिता मीनमांसाशिनो जाताः, तदा तस्य कुलपुत्रस्य भार्या तं कुलपुत्रं प्रति प्राह 'हे स्वामिन् तवैते बालकाः क्षुधापीडिता म्रियंते, त्वं निश्चिन्तः कथं स्थितोऽसि ? झषान् समानय ? यथैते भोजनं कुर्युः.' कुलपुत्रेणोक्तं 'ते म्रियंतु वा जीवंतु, अहं मत्स्यान्नैव निष्कासयिष्यामि,' तदा तस्य श्यालकास्तं हस्ते गृहीत्वा तटिन्यां नीत्वा जालं दत्वा कथयामासुस्त्वं मत्स्यान्निष्कासय ! एवं परवशेन तेन जलमध्ये जालं क्षिप्त्वा बहिर्निष्कासितं, तदा तत्र बहुमत्स्यान् वलवलायमानान् दृष्ट्वा पुनर्जलमध्ये तान् स प्रक्षेपयामास. एवं त्रिवारं निष्कास्य दयया पुनस्तेन जलमध्ये मुक्ताः, ततस्तेन चिंतितं 'कुटुंबार्थमपि कृतं पापं नूनं प्राणिनं नरककूपे प्रक्षिपति. अरे ! एतन्मलमूत्राविलशरीरपोषणार्थमेतान् दीनान् मत्स्यानहं मुधा कथं विनाशयामि ? यथा मज्जीवो मे वल्लभोऽस्ति तथात्मीयजीवः सर्वेषामपि जीवानां वल्लभो वर्त्तते.' इति विचार्य स पुण्यात्मा गृहे समागत्याराधनां विधायानशनं जग्राह. सर्वजीवान् क्षामयित्वा श्रीपरमेष्ठिमंत्रं स्मरन् कालं कृत्वा राजगृहे नगरे स मणिकारश्रेष्ठिगृहे पुत्रत्वेन समुत्पन्नः. द्वादशे दिने महोत्सवपूर्वकं 'दामनक' इति तस्य नाम कृतं, लाल्यमानोऽसौ क्रमेणाष्टवार्षिको जातः.

अथान्यदा तस्य श्रेष्ठिनो गृहे मारिदोषः प्रवर्त्तितः, तेन च तस्य सर्वेऽपि गृहमनुष्याः क्रमेण मृत्युं प्राप्ताः, केवलमेकः

स दामनक एव जीवन्नासीत्, ततोऽसौ बालो निजगृहान्निःसृत्य सागरपोतश्रेष्ठिनो गृहे गतः, तेन श्रेष्ठिनापि च स स्वगृहे रक्षितस्तत्र च स सुखेन तिष्ठति.

अन्यदा तस्य श्रेष्ठिनो गृहे साधुयुग्मं भिक्षार्थं समागतं, तयोरेको वृद्धसाधुस्तं बालं दृष्ट्वा लघुसाधवे कथयामास 'नूनमसौ बालोऽस्य गृहस्य स्वामी भविष्यति. तन्मुनिवचनं श्रेष्ठिना श्रुतं, तदा स विषण्णश्चिन्तयति अरे! मम गुणवति विद्यावति च पुत्रे सत्यपि अयमन्यकुलोद्भवो मे गृहस्वामी कथं भविष्यति? चेदसौ मद्गृहस्वामी जातस्तदा मम विशालं कुलं नष्टमेव ज्ञेयं. ततः केनाप्युपायेनैनं बालमहं मारयामीति' ध्यात्वा श्रेष्ठी तं बालं मारणार्थं चांडालाय समर्पयामास. चांडालोऽपि तं बालं दूरे नीत्वा सुलक्षणं प्रसन्नरूपं च विज्ञाय दयया चिंतयति 'अहोऽनेन मुग्धेन बालेनास्य श्रेष्ठिनः किं विनाशितं यदेनं स मारयति! धिग्धिग् तं निर्दयं श्रेष्ठिनं, अहमेनं न मारयामीति' ध्यात्वा स तस्यैकां कनिष्ठांगुलिं छित्वा तंमप्रत्यवादीत् 'हे बाल त्वमितः स्थानाद् द्रुतं त्याहि! चेत्पश्चादागमिष्यसि तदा त्वां जीवादप्यहं मारयिष्यामि'

तत् श्रुत्वा स बालो भीतः सन् पलायितः वनमध्ये गच्छंतं तमेको गोपालो दृष्ट्वात्मीयपार्श्वे समाकार्योवाच भो बाल त्वं मा भैषीरित्याश्वास्य स तं निजपार्श्वे स्थापितवान्.'

अथ तस्य गोपालस्य गृहे स बालः सुखेन तिष्ठति गावश्च चारयति. एवं क्रमेण स यौवनं प्राप्य सकलगोकुलवासिलोकानां वल्लभो जातः अथैकदा स सागरपोतश्रेष्ठी गोकुलविलोकनार्थं तत्र समागतो दामनकं दृष्ट्वा विस्मितो जातोऽचिंतयत् कोऽसौ सुरोपमरुपधारी? ततः श्रेष्ठी गोकुलवासिजनानपृच्छत् क एष बालः? कस्य च स पुत्रोऽस्ति? तैरुक्तं भो

श्रेष्ठिन् एष बालोऽनाथ एकाक्येवात्र समागतोऽस्ति, गोपालेन च पुत्रीकृत्य पालितोऽस्ति तत् श्रुत्वा सार्थवाहश्चिंतयति ध्रुवं स एवायं 'बालोऽस्ति' ततोऽसौ मनसि किंचिद्विचार्यैकं लेखं दामनकाय दत्वा प्राह, भो भद्रैतल्लेखं गृहीत्वा मम गृहे गत्वा मम पुत्राय समर्पय ? दामनकोऽपि तस्य लेखं गृहीत्वा क्रमेण राजगृहसमीपे समागतः, श्रांतश्चैकस्मिन् देवकुले सुष्वाप. तदा तत्र देवपूजार्थं तस्य सागरपोतश्रेष्ठिनो विषाभिधा पुत्री समायाता. देवं पूजयित्वा पश्चाद्वलिता तं दामनकं सुप्तं ददर्श. तस्य मस्तके च स्वपितृसत्कं लेखं दृष्ट्वा निष्कास्य वाचयामास, तद्यथा—भो पुत्र लेखं वाचयित्वास्य कुमारस्य त्वया विषं देयं.

अथ तया कन्यया चिंतितं 'हा हा मम पित्रा चांडालकर्म किमेतदारब्धं ? अस्य विषदानमयुक्तमेव, केवलं विषाया एव दानं युक्तं. इति विचिंत्य षकारोपरिस्थं बिंदू दूरीकृत्याग्रे आकारौ सादात्. तथा च ' विषा देया ' इति कृत्वा लेखं संवेष्टय पुनस्तस्य मस्तके संस्थाप्य गृहे समागता.

अथ जागरितो दामनकः सागरपोतश्रेष्ठिनो गृहे समागत्य तत्पुत्राय लेखं समर्पयामास. सोऽपि लेखं वाचयित्वा तं योग्यं वरं विज्ञाय तत्पुण्ययोगेन तस्मिन्नेव दिने शुभलग्नं विज्ञाय निजभगिन्या विषया सह तस्य पाणिग्रहणं चकार. इतो गृहे समागतः सागरपोतश्रेष्ठी दामनकं निजपुत्र्या सह विवाहितं दृष्ट्वा वज्राहत इव बभूव. चिंतयामास च ही ही मयान्यदेव चिंतितं, विधिना त्वन्यथैव कृतं. तथाप्युपायेनैनं मारयिष्यामीतिध्यात्वात्मीयसेवकानाकार्य स इत्युवाच. भो सुभटा एष मम जामाता भवद्भिः किंचिच्छलं लब्ध्वा मारणीयः. तेऽपि तथेति प्रतिपद्य तस्य वधार्थं छलं व्यलोकंत. परं तस्य पुण्य-

प्रभावादेवंविधावसरं न प्राप्नुवंति.

अथैकदा श्रेष्ठिपुत्रदामनको मित्रस्य गृहे नाटकविलोकनार्थं रात्रौ गतः अर्द्धरात्रौ तद्विलोक्य निद्राबाधितो दामनकः पश्चादगृहे समागतः, परं गृहकपाटं दत्तं दृष्ट्वांगणस्थितमंचकोपरि सुप्तः, तं तथा सुप्तं दृष्ट्वा ते सेवका अवसरं प्राप्य श्रेष्ठिनमापृच्छय यावत्तद्वधाय तत्रागतास्तावद्दामनकस्तु पूर्वमेव मंचकस्थमत्कुणबाधितस्तत उत्थाय मित्रगृहे गत्वा सुप्तः, तन्मंचकोपरि च श्रेष्ठिनः पुत्रो नाटकं दृष्ट्वा तत्रागत्य सुप्त आसीत्.

अथ ते सेवका मंचकसुप्तं श्रेष्ठिपुत्रं दामनकं विज्ञाय खड्गेन मारयामासुः. अथ प्रभाते स्वकीयमेव पुत्रं मारितं दृष्ट्वा श्रेष्ठी हृदयस्फाटतस्तत्क्षणमेव मृतः, ततो राज्ञा सभार्यः स दामनक एव तत् श्रेष्ठिगृहस्वामि कृतः. एवं पूर्वभवाचीर्णदयाधर्मप्रभावात्तस्य सकला चिंतितैव भोगसामग्री संजाता. अथैकदा स्वर्णसिंहासनोपरिस्थस्य दामनकस्याग्रे कैश्चिन्नर्त्तकैरागत्य नाटकं कृतं, तन्मध्ये च तैरेकैवंविधा गाथा पठिता.

**अणुपुंखमावहंताविं अणत्था तस्स बहुगुणा हुंति ॥ सुह दुःख कत्थं पडउ । जस्स कयंतो वहइ पक्खं ॥ १ ॥** इति गाथां श्रुत्वा दामनकेन तेभ्यो लक्षमेकं सुवर्णस्य दत्तं.

ततोऽसौ साधुवचनैः सम्यक्प्रकारेण जिनधर्ममाराध्य देवलोके गतः, ततश्च्युत्वा मनुष्यभवं संप्राप्य केवलज्ञानमुपार्ज्य मुक्तिं यास्यति. एवं प्राणिनः स्तोकमपि तपः कृत्वा दामनकवद्भोगान् भुक्त्वाऽचिरेण मोक्षसुखानि लभंते. ॥

**इति श्रीदामनककथा समाप्ता ॥ श्रीरस्तु ॥**

एवं जिनमुखाद् द्विविधं धर्मं श्रुत्वा सद्दालपुत्रेण कथितं 'हे भगवन्! पंचमहाव्रतानां भारोद्वहनेऽहमसमर्थोऽस्मि, अतः सम्यक्त्वयुतं श्राद्धधर्मं मे यच्छत!' ततोऽसावानंदवत् श्राद्धधर्मं स्वीकृत्य परिग्रहादिपरिमाणं विधाय वीरजिनं नत्वा बहुपरिवारयुतः स्वगृहे समागत्य निजभार्यां प्रति जगाद, 'हे भद्रे मयाधुना श्रीवीरभाषितो धर्मः प्रतिपन्नोऽस्ति, अतस्त्वमपि प्रभुपार्श्वे गत्वा तं धर्मं स्वीकुरु!'

तत् श्रुत्वा हृष्टा सा निजसेवकानाकार्य कथयामास, 'भो सेवका यूयं यानं प्रगुणीकुरुत? ततस्तेऽपि यानं प्रगुणीकृत्य तत्र समायाताः. ततः सा कृतस्नाता पवित्रवेषा दासीगणैः परिवृता याने समारुह्य श्रीवीरसमीपे समागता, प्रभुं च त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य नत्वाग्रे समुपविष्टा. वीरेणापि तस्या अग्रे धर्मः प्ररुपितः, धर्मं श्रुत्वा रोमांचिता सती सा जिनं प्रत्येवमवादीत् हे भगवन्! पंचमहाव्रतग्रहणेऽहमसमर्थास्मि, अतो मह्यं सम्यक्त्वमूलानि द्वादशश्राद्धव्रतानि यच्छत? ततो वीरप्रभुदत्तद्वादशव्रतानि गृहीत्वा प्रभुं नत्वा च सा गृहे समायाता. श्रीवर्द्धमानजिनोऽपि सुपर्वसंचारितनवसुवर्णकमलेषु पादौ स्थापयन्नन्यत्र विजहार. अत्र स सद्दालपुत्रोऽपि सकुटुंबः श्रीवीरजिनप्रज्ञप्तं जिनधर्मं भावेन करोति, प्रवर्द्धमानश्रद्धया च यतीनां भक्तिं कुर्वंस्तिष्ठति.

अथ गोशालेन श्रुतं यत्सद्दालपुत्रो मम धर्मं त्यक्त्वा वर्द्धमानजिनोक्तं धर्मं प्रतिपद्य सन् तस्य साध्वादीनां बहुभक्तिं करोतीति ततस्तेन चिंतितं हा हा स मे महाभक्तोऽपि वीरेण प्रतिबोध्यात्मीयमते स्थापितः! ततोऽधुनैवाहं पोलासपुरे गत्वा युक्तियुक्तदृष्टांतहेतुभिस्तं सद्दालपुत्रं प्रतिबोध्यात्मीयमते स्थापयामीति चित्ते विचार्य स स्वशिष्यसमूहयुत-

स्तत्र समागतः, आत्मीयोपासकानां विशालशालायां चागत्य समवसृतः, ततोऽसौ तत्र निजोपकरणादिकं मुक्त्वा विविधयुक्तीर्विचारयन् सद्दालपुत्रस्य गृहे समेतः, तदा निजशिष्यादिपरिवारयुतं गोशालकं स्वगृहे समागतं विलोक्य सद्दालपुत्रेण तस्य सन्मुखमपि न दृष्टं, नमस्कारभक्त्यादेश्च का कथा ?

अथ स सद्दालपुत्रस्य तत्स्वरुपं विज्ञाय पीठफलकसंस्तारकाद्यर्थं तस्याग्रे श्रीवीरप्रभोः सत्यगुणकीर्त्तनं चकार. भो सद्दालपुत्र किमत्र महामाहनः समागत आसीत् ? तेनोक्तं भो गोशालक को महामाहन ? गोशाल उवाच स महावीरो जगति महामाहनः कथ्यते, तेनोक्तं कथं स महामाहनः ? गोशालेनोक्तं स उत्पन्नज्ञानस्त्रैलोक्यार्चनीयोऽस्ति, तेन च स महामाहनः कथ्यते- किं च स एव महागोपालोऽस्ति, सद्दालपुत्रेण पृष्टं कथं स महागोपालः कथ्यते ? तेनोक्तं गोपालो यथा गोवर्गं वने चारयति, इतस्ततश्च गच्छंतं सन्मार्गे समानयति, सिंहादिक्रूरश्वापदैश्च रक्षति संध्यायां च वाटके प्रवेशयति तथा स वीरजिनोऽपि भवाटव्यां शुभमार्गपरिभ्रष्टान् भव्यजीवान् शीघ्रमेव शिववाटके क्षिपति. एवं शुद्धधर्मप्रदानेन स गोपाल उच्यते. किंच स महासार्थवाहोऽपि कथ्यते, सद्दालपुत्रोऽवादीत् भो गाशाकक ! स कथं महासार्थवाहः कथ्यते ? तेनोक्तं यथा सार्थवाहः सर्वजनसमूहं निजसार्थे गृह्णाति, चौरादीनां भयं च दूरीकरोति, मार्गं दर्शयंश्चाभीष्टनगरे प्रापयति, तथा श्रीवीरजिनोऽपि जनानां मिथ्यात्वं दूरीकृत्य सम्यग्रत्नं च दत्वा शुद्धसंयममार्गं प्रदर्श्य निर्वाणपुरं प्रापयति, तेनासौ महासार्थवाहः कथ्यते. किं च स निर्यामकोऽप्युच्यते, सद्दालपुत्रेण पृष्टं कथं स निर्यामकः कथ्यते ? गोशालः प्राह यथा निर्यामको जनान् प्रवहणे चटाप्य महासमुद्रान्मकरादिभी रक्षयन् तटे प्रापयति.

तथा श्रीवीरोऽपि जन्मजरामरणकल्लोलोच्छलितसंसारसमुद्राद् भव्यसमूहं धर्मपोतेन शिवपुरीं प्रापयति, तस्मात्स निर्यामकः प्रोच्यते. तथैव स महाधर्मकथकोऽपि कथ्यते. सद्दालपुत्रेण पृष्टं भो गोशालक ! कथं स महाधर्मकथकः कथ्यते ? तेनोक्तं महापापरक्तानां सर्वेषां जनानामग्रे निस्तारणाय स धर्मकथां करोति, ततोऽसौ महाधर्मकथकः कथ्यते.

अथ स सद्दालपुत्रस्तथाविधं त्रिशलासुतस्य श्रीमहावीरस्य गोशालेन कृतं गुणकीर्तनं श्रुत्वा तं प्रति हृष्टमानस उवाच भो गोशालक ! त्वं सर्वशास्त्रार्थं वेत्तासि, सर्वकलासु कुशलोऽसि, विचक्षणोऽसि, पंडितोऽसि, लब्धलक्षोऽसि, उपदेशविषये चतुरोऽसि, जगति च प्रसिद्धोऽसि, अतो मम धर्माचार्येण सह त्वं विवादं कृत्वा तं निरुत्तरं कुरु ? यथाहमपि पुनस्तवमतं स्वीकरोमि. गोशालोऽवादीत् भो सद्दालपुत्र स जिनेंद्रोऽनंतशक्तिरस्ति, अहं च स्वल्पशक्तिरस्मि, तेन वीरेण सह विवादं कर्त्तुमहं न समर्थः, श्रीवीरप्रभुः सर्वज्ञोऽस्ति, ततोऽल्पज्ञो वराकोऽहं तत्प्रश्नानामुत्तरं दातुं सर्वथा न शक्तोऽस्मि, यतो बको हंसगत्या गंतुं निजसर्वशक्त्यापि समर्थो न भवति, किंच यथा भास्करो जगत् प्रकाशयति तथा दीपस्तत्प्रकाशयितुं किं समर्थो भवति ? तत् श्रुत्वा सद्दालपुत्रेणोक्तं भो गोशालाक ! त्वं श्रीवीरप्रभोः सत्यगुणकीर्त्तनं करोषि तेन त्वां शय्यासंस्तारकाद्यर्थमहं निमंत्रयामि, न तु धर्मनिमित्तेन. ततो गोशालकस्तस्यापणात्पीठफलकशय्यासंस्तारकादि गृहीत्वा तद्दत्तशालायां स्थितो युक्तिहेत्वादिभिरात्मीयमतं प्ररूपयामास, परं स सद्दालपुत्रस्य मनो जिनोक्तधर्मान्मनागपि चालयितुं न शशाक.

अथ तं जिनोक्तधर्मे एव रक्तं विज्ञाय गोशालोऽन्यत्र जगाम. एवं श्रीवीरभाषितधर्मं कुर्वतः सद्दालपुत्रस्य चतुर्दश-

वर्षाण्यतिक्रांतानि, पंचदशे वर्षे चैकदार्द्धरात्रौ स मनसि चिंतयामास, अथाहं ज्येष्ठपुत्रे गृहभारं संस्थाप्य श्राद्धप्रतिमाना-माराधनं कुर्वे. इति विचिंत्य स प्रभाते निजं सर्वं कुटुंबं भोजयित्वा ज्येष्ठपुत्रे च सर्वं गृहभारं समारोप्य स्वयं च पौषध-शालां प्रमार्ज्य दर्भसंस्तारकं कृत्वा भावतः सर्वव्रतानि संस्मृत्य विधिना श्राद्धप्रतिमा आराधयामास.

अथान्यदा नाशाग्रस्थापितनेत्रस्य प्रतिमास्थितस्य तस्याग्रे कोऽपि कृपाणपाणिः सुरः प्रकटीभूयोवाच भो सद्दालपुत्र ! चेत्त्वं स्वर्गापवर्गसुखानि समीहसे, तर्ह्येतत्तपःकायोत्सर्गादिकष्टं त्वं मा कुरु ? व्रतानि त्यक्त्वा विविधान् भोगान् भुंक्ष्व ? यदि च त्वं मम वचनं न करिष्यसि तदा तव ज्येष्ठपुत्रं गृहादानीयात्र तव समीपे मारयित्वा तस्य मांसं तप्ततैलकटाहे पाच-यिष्यामि, तद्रुधिरेण च त्वां स्नपयिष्यामि, तथा च त्वमार्त्तध्यानपतितोऽकाले मृत्युमवाप्य दुर्गतिं यास्यसि.

एवं कर्णे तप्तत्रपुनिभं तद्वचनं श्रुत्वापि सद्दालपुत्रो मेरुवन्निश्चलीभूय धर्मध्यानान्न चलितः, तदा स कुपितो देवस्तस्य ज्ये-ष्ठपुत्रं तत्रानीय मारयित्वा तस्य मांसं च तप्ततैलकटाहे पाचयित्वा तद्रुधिरेण तं स्नपयामास. तथापि तं सद्दालपुत्रं निश्चलं विज्ञाय स तस्य द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं च पुत्रं क्रमेण तत्रानीय तथैवाकरोत्. तथापि तं धर्मध्यानस्थितमेव विज्ञाय स देवः कथयामास भो सद्दालपुत्र अद्यापि त्वं व्रतानि त्यक्त्वा मयोक्तं वचनं कुरु ? अन्यथा तवाग्निमित्रां भार्यामपि नूनमत्रा-नीय मारयित्वा तथैव करिष्यामि, एवं तेन द्वित्रिवारमुक्तोऽसौ सद्दालपुत्रो मनसि चिंतयामास अरे महादुष्टोऽयं प्रथमं मे सुतान् मारयित्वाधुना मम धर्मे सहायभूतां भार्यामपि मारयितुमिच्छति, ततोऽथैतस्य दुरात्मनः पापकारिणोऽहं निग्रहं करोमिति ध्यात्वा यावत्स तद्गृहणाय धावितस्तावत्स देवस्तडिद्वद् गगने समुत्पतितः तदासौ

बहिरागत्य कोलाहलमकरोत्. तत् श्रुत्वा तस्य भार्या तत्रागत्य कथयामास हे आर्यपुत्र ! त्वया कथं कालाहलः कृतः ? तदा सद्दालपुत्रेण यथाभूतः सर्वोऽपि वृत्तांतस्तस्या अग्रे कथितः. तत् श्रुत्वा तयोक्तं हे नाथ ! तवायमुपसर्गः कोऽपि देवेन कृतोऽस्ति, तव सर्वेऽपि पुत्रा निजावासे सुखेन सुप्ताः संति.

अथ विराधितव्रता यूयं गुरुसमीपे गत्वालोचनां कुरुत ? तत् श्रुत्वा तेनापि गुरुसमीपे गत्वालोचना गृहीता. एवं स विंशतिवर्षाणि यावत् श्रीवीरजिनेंद्रोक्तं धर्मं समाराध्यालोच्य प्रतिक्रम्यानशनं विधाय सौधर्मदेवलोकेऽरुणाभविमाने चतुःपल्योपमायुः सुरो महर्द्धिको जातः.

अथ श्रीगौतमः प्रभुं पृच्छति हे भगवन् ! स सद्दालपुत्रस्ततश्च्युत्वा क्व यास्यति ? प्रभुणोक्तं भो गौतम ! स ततश्च्युत्वा महाविदेहे सिद्धिं यास्यति . एवं श्रीसद्दालपुत्रस्य चरित्रं श्रुत्वा जंबूस्वामी परमसंवेगं प्राप्तवान्. ॥

**इति श्रीवर्द्धमानदेशनायां वाचनाचार्यश्रीरत्नलाभगणिशिष्येण राजकीर्तिगणिना गद्यबंधेन विरचितायां सद्दालपुत्रप्रतिबोधो नाम सप्तम उल्लासः समाप्तः ॥ श्रीरस्तु ॥**

अथ श्रीसुधर्मस्वामी जंबूस्वाम्यग्रे महाशतकस्य चरित्रं कथयति—अस्मिन् भरतक्षेत्रे राजगृहाभिधं नगरं वर्त्तते. तत्र गुणशिलाख्यं चैत्यमस्ति, तस्मिन्नगरे जिनभक्तो महाराजा श्रीश्रेणिको राज्यं करोति. तत्रैव नगरे महाधनाढ्यो महाशतकाख्यो गृहपतिर्वसति. तस्य व्याजे व्यवसाये भूमौ चाष्टाष्टकोटिसुवर्णमस्ति. पुनस्तस्य गृहेऽष्टौ गोकुलानि संति. किं च सौभाग्ययुता रूपश्रिया निर्जितसुरांगना रेवतीप्रमुखास्त्रयोदश तस्य भार्याः संति- तत्र रेवत्यै तत्पित्राष्टकोटिसुवर्णमष्ट-

गोकुलानि च दत्तानि संति. शेषाणां द्वादशानां पितृभिस्ताभ्य एकैककोटिस्वर्णमेकैकं च गोकुलं दत्तमस्ति. इत्यादिभूरिसमृद्धिस्तस्य गृहे वर्त्तते-

एवं ताभिर्भार्याभिः सह स विबधसौख्यानि भुंक्ते. अथैकदा सुरासुरसेवितपदकमलोऽष्टमहाप्रतिहारशोभितः श्वेतचामराभ्यां वीज्यमानश्छत्रत्रयेण च विराजमानोऽग्रेनीयमानधर्मचक्रः श्रीवीरजिनेंद्रस्तत्र समवसृतः. वनपालमुखात् श्रीवीरागमनं श्रुत्वा हृष्टमानसः श्रीश्रेणिकराजा हस्त्यश्वरथपदातियुतो वाद्यमानविविधवादित्रो मस्तकध्रियमाणपवित्रछत्रोऽधिकश्रीको वीरजिनेंद्रवंदनार्थं समागतः. तत्र प्रभुं स त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वा यथास्थानमुपविष्टः. महाशतकोऽपि प्रभुवंदनार्थं समायातः.

तदा स श्रीत्रिभुवनस्वाम्यपि वांछितपूरणे कल्पतरुतुल्ययामृतकल्पया वाण्या धर्मोपदेशं ददौ. भो भो भव्यलोका अस्मिन् संसारे संयोगवियोगापत्संपद्भोगरोगसधनत्वनिर्धनत्वसुखदुःखयौवनजराव्याप्तं सर्वं लोकं ज्ञात्वा शाश्वतसुखप्राप्तये यूयं धर्मं कुरुत ? तमपि धर्मं शुभभावेन समाचरत ! शुभभावना हि शिवभवनारोहणे निःश्रेणितुल्यास्ति, भावनायुतं च धर्मं यः समाराधयति सोऽसंमतवत् शिवसुखं प्राप्नोति. तत् श्रुत्वा श्रेणिकेनोक्तं हे स्वामिन् स कोऽसंमतः, कथं च तेन भावना भाविता ? कथं च तेन मुक्तिसुखं प्राप्तं ? इति पृष्टः श्रीवीरप्रभुरवादीत्.

अत्र रत्नपुरे नगरेऽरिमर्दनो राजा राज्यं करोति, ललितांगाभिधश्च सर्वशास्त्रवेत्ता तस्य पुत्रोऽस्ति. अन्यदा वसंतसमये क्रीडार्थं स वनमध्ये गतः, तत्र क्रीडार्थमागतां मन्त्रिपत्नीं विलोक्य स कामातुरोऽजनि. मंत्रीपत्न्यपि तं महारूपवंतं दृष्ट्वा

मदनातुरा बभूव. तदा कुमारेण तस्याः समीपे निजमित्रं प्रेष्य कथापितं हे सुभगे अथावयोः संगमः कथं भविष्यति ? तत् श्रुत्वा हृष्टा सा वदति भो सुंदर ! अहं गृहात् क्षणमपि निस्सरितुं न शक्नोमि, महेर्ष्यालुर्मम पतिर्मां क्षणमपि गृहाद्दिवहर्निस्सरितुं न ददाति परमावयोर्मिलने त्वेको दुःसाध्य उपाऽयोस्ति. मम गृहपार्श्वे चैकः कूपोऽस्तितो तत्र त्वया स्ववासावधि सुरंगा कारणीया, तत्र च स्वसेवकाः स्थाप्याः, अहं च कुटुंबेन सह कलहं कृत्वा कूपे पतिष्यामि, तदा तव सेवकैर्गृहीताहं सुरंगामार्गेण तवावासे समेष्यामीति संकेतं कृत्वा सा तन्मित्रं विसर्जयामास.

अथ कुमारेणापि तथैव सुरंगां कारयित्वा तत्र निजसेवकाः स्थापिताः. मंत्रीपत्न्यपि कृत्रिमं कुटुंबकलहं कृत्वा केनाप्यलक्षिता तत्र कूपे पपात. तदा तत्रस्थैः कुमारसेवकैः सानीय कुमारपार्श्वे मुक्ता. इतस्तां कूपपतितामाशंक्य मंत्री तत्र तारकान् प्रक्षिप्य तस्याः शुद्धिं चकार, परं तत्र सा न लब्धा.

अथैषा वार्त्ता नगरमध्ये विस्तृता, क्रमेण राजापि तं वृत्तांतं विज्ञाय स्वसेवकानवादीत् अरेऽनेन दुरात्मना मंत्रिणा स्त्रीहत्या कृता, अतस्तद्गृहसर्वस्वं लुंटयित्वा तं कारागृहे क्षिपत ? अथैवं मंत्रिविडंबनां विज्ञाय कुमारेण चिंतितं धिग् धिग् विनापाराधं राज्ञा मंत्री विडंबितः, धिग्धिग् मां यदा मया तत्पत्नी गृहीता तदा स मंत्री कष्टे पतितः, अतः परं मम गृहवासेन सूतं, स्त्रीजाले पतितः प्राणी मक्षिकावद्बध्यते. इति ध्यात्वा कुमारस्तामनालाप्य युवराजपदमपि मुक्त्वा द्रुतमेव नगरान्निर्गतः.

ततोऽसावेकाकी गच्छन् वने मुनिमेकं ददर्श. नत्वा चाग्रे समुपविश्य वैराग्यरंगितात्मा स मुनिं प्रत्युवाच, हे भगवन् भवसमुद्रे ब्रुडंतं मां परमार्थोपदेशदानेन तारय ? मुनिनापि तस्मै साधुधर्मः समुपदिष्टः. तत् श्रुत्वा प्रतिबुद्धोऽसौ प्रव्रज्यां

जग्राह. विशुद्धक्रियायुतं घोरं तपः कुर्वन्नन्यदा विहरन् स क्षेमपुरनगरोद्याने नद्यास्तीरे कायोत्सर्गेण स्थितः.

अथ तत्रैव नगरे एकोऽसंमताभिधो नरो वसति, स महानास्तिकवादी पितरं मातरं भ्रातरं गुरुं देवं जीवं पुण्यं पापं नरकं मुक्तिं चापि न मन्यते. वाचालत्वेन च देवगुरुधर्माद्युत्थाप्य हृदये गर्वं वहति. इतो यत्र ललितांगमुनिः कायोत्सर्गेण स्थितोऽस्ति तत्र नद्यां महासलिलपुरं समागतं, तस्मिन्नगाधे जलपूरे तीरस्थाः सर्वे वृक्षादयो बुडिताः परं तपःप्रभावात्स एवंविधं तं मुनिवरं दृष्ट्वा सर्वेऽपि नगरलोका विस्मिताः संतः परस्परमेवमब्रुवन्, अहोऽयं मुनिर्यज्जलपूरे न बुडितः स नूनं तत्तपसः प्रभावो ज्ञेयः इति ध्यात्वा नगरलोकास्तं मुनिं वंदन्ते पूजयंति च, रोगिणश्च तत्पादरजोलिप्तशरीरा नीरोगा भवंति एवं तस्य मुनेर्महिमा नगरे विस्तृतः. अथेमं वृत्तांतं श्रुत्वा स नास्तिकशिरोमणिरसंमत ईर्ष्यया चिंतयामास यदेते सर्वेऽपि लोका असत्यमेव वदंति, इति ध्यात्वा स दुष्टात्मा रात्रौ नदीतीरे समागत्य कायोत्सर्गस्थस्य तस्य मुनेः पादौ शृंखलया बध्वा परितश्च शुष्ककाष्ठानि संस्थाप्य तत्राग्निं ज्वालयामास.

अथ तेनाग्निना निकटस्थवृक्षतृणादि ज्वलितं, परं तपःप्रभावान्मुनेस्तु रोममात्रमपि न ज्वलितं, तद् दृष्ट्वा चमत्कृतेनासंमतेन चिंतितं नूनमसौ मुनिरग्निनापि यन्न दग्धः स खलु तपस एव प्रभावः इति ध्यात्वा स मुनिसमीपे समागत्य क्षामयित्वा तत्पादशृंखलां निष्कासयामास. ततः पुनरसौ चिंतयति नूनं तपसैव विघ्नानि दूरे यांति, लोके च यानि सुखानि संति तानि सर्वाण्यपि तपसैव प्राप्यंते, पूर्वभवे ये तपो न कुर्वंति ते ईह भवे दुःखिनो भवंति. इह भवे च ये तपः कुर्वंति ते परभवेऽपि सुखिनो भवन्ति पुण्येन जीवः स्वर्गे याति तत्र च देवसुखं भुक्त्वा पुनरपि मनुष्यभवं प्राप्य धर्मं कृत्वा मुक्तिं

याति. इति तत्वविचारं कुर्वन् स शुक्लध्याने चटितः, ततोऽसौ घातिकर्मक्षयात्केवलज्ञानं प्राप्तवान्. देवदत्तयतिवेषोऽसौ सुररचितस्वर्णकमले समुपविश्य भव्यलोकेभ्यो धर्मदेशनां ददौ. एवं ये मनुष्या भावनां भावयंति ते भवसागरं तीर्त्वा केवलज्ञानमवाप्य मोक्षं प्राप्नुवंति. ॥ इति भावनाविषयेऽसंमतकथा समाप्ता ॥ श्रीरस्तु ॥

इति जिनवरमुखाद्धर्मोपदेशं श्रुत्वा संवेगं प्राप्तो महाशतको द्वादशविधं श्राद्धधर्मं स्वीकृत्य परिग्रहादिनियमं कृत्वा प्रभुं च वंदित्वा राज्ञा युतो निजगृहे समाययौ. श्रीवीरजिनोऽपि तत्र भविनां हृदयेषु धर्मबीजं संस्थाप्यान्यत्र विजहार.

अथैकदा तस्य महाशतकस्य वृद्धा रेवत्याख्या भार्या चिन्तयति ममैतद्यौवनं वनपुष्पवन्निरर्थकं याति. सपत्नीवारकेण त्रयोदशे दिने एव केवलं भर्त्रा सह विषयसुखं भुंजामि, तत एताः सर्वा अपि सपत्नीः केनाप्युपायेनाहं चेन्मारयामि तदा नित्यं भर्त्रा सह मे भोगविलासो भवेदिति विचिंत्य कामातुरया तया दुष्टया षट् सपत्न्यः शस्त्रप्रयोगेण (अग्निप्रयोगेण) षट् च विषप्रयोगेण मारिताः, ततस्तासां सर्वर्द्धयोऽपि तया दुष्टया गृहीताः.

जगति तदकृत्यं नास्ति यत्कामातुराः स्त्रियो न कुर्वंति. उक्तं च—

**अनृतं साहसं माया। मूर्खत्वमतिलोभता॥ अशुचित्वं छलं सप्त। स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥ १॥**

अथ सा रेवती महाशतकेन सह हृष्टा सती यथेच्छया विषयसुखानि भुंजाना तिष्ठति, पापाचारमतिश्च साहोनिशं मद्यमांसान्यश्नाति.

अथैकदा श्रीवीरजिनभक्तः श्रेणिकराजा दयया नगरेऽमारिपटहं वादयामास, यथा भो भो लोका यः कोऽपि जीववधं

करिष्यति तस्य राजा महादंडं विधास्यति. तत् श्रुत्वा मांसलोलुपा रेवती प्रच्छन्नं प्रत्यहं गोकुलाद् द्वौ गोवत्सौ निजपुरुषैर्मारयित्वा तन्मांसमौषधीभिः सह पाचयित्वाश्नाति. तद्भक्षणतश्चातीवविषयलुब्धा सती निजकालं गमयति.

अथैवं महाव्रतानि पालयतो महाशतकस्य चतुर्दशसंवत्सराणि गतानि, पंचदशे संवत्सरे स चैकदा निशि धर्मजागरिकां कुर्वन् चिंतयामास, इयत्कालावधि मया बहु धनं समुपार्जितं, स्वजना अपि सर्वे संतोषिताः, निरंतरं पंचविषयसुखानि भुक्तानि, सुपात्रदानादीनदुःखिता अप्युद्धरिताः.

अथ मे पुत्रा अपि कुटुंबभारोद्धरणे समर्था जाताः, ततोऽहमथ श्रावकप्रतिमा आराधयामीति ध्यात्वा स निजवृद्धपुत्रं कुटुंबभारे स्थापयित्वा पौषधशालां प्रमार्ज्य तत्र दर्भसंस्तारकोपविष्टः प्रतिमाध्यानस्थस्तस्थौ. इतो बहुसुरापानतो मदोन्मत्तीभूता कामातुरा रेवती विकीर्णकेशा लुलंती पौषधशालायामागत्य शृंगारमयानि कामोत्पादकानि वचांसि महाशतकस्याग्रे कथयामास. 'भो महाशतक ! त्वं लब्धानि विषयसुखानि त्यक्त्वा मुधा मूढवत्कथं कायक्लेशं कुरूषे ? यत्सुरादिसुखकृते त्वं घोरं तपः करोषि, तत्सर्वमपि सौख्यं तवेहैव प्राप्तमस्ति. यच्च मोक्षसुखं त्वं वांछसि तत्र तु स्वर्णवर्णदेहा पीनतुंगकठिनस्तनी पुष्टनितंबबिंबमंडिता कापि कामिन्यपि नास्ति, मृदंगवेणुवीणाद्युपलक्षितं नाटकमपि तत्र नास्ति, मोदकघृतपूरादिखाद्यपदार्था अपि तत्र न संति, एवंविधे मोक्षे त्वं किं सुखं मन्यसे ? यतः—

जइ नत्थि तत्थ सीमंतिणी उ। मणहरपिअंगुवण्णाओ ॥ ता सिद्धंति अ बंधण। खु मुक्खो न सो सुक्खो ॥१॥

तथा द्विरष्टवार्षिका योषित्। पंचविंशतिकः पुमान् ॥ अनयोर्नितरां प्रीतिः। स्वर्ग इत्यभिधीयते ॥२॥

तस्मात् हे महाभाग ! इमानि व्रतानि त्यक्त्वा मया सार्द्धं त्वं लोके दुर्लभं प्रधानं विषयसुखं भुंक्ष्व ?' एवं कथयंती हावभावादिदर्शयंती दीर्घकटाक्षान् प्रक्षिपंती सा रेवती तस्य समीपे समागत्य तस्थौ. तथापि स महाशतकश्राद्धो निःप्रकंपो ध्याने एवैकाग्रमनास्तस्थौ. एवं द्वित्रिवारमपि तस्याः कथनेन तन्मनो मनागपि विकारमार्गे न प्राप्तं. यतः—

**जिणवयणमुवगयाणं न हरइ हिअयाइं महिलिआ कावि ॥**
**णिअंपि जासरूवा । हविज्जा जहण च वलाया ॥ १ ॥**

एवं सा रेवती तं दृढचित्तं ज्ञात्वा निजगृहे गता. महाशतकोऽपि विधिना प्रतिमाः समाराधयन् क्रमेण क्षीणशरीरो जातः, ततोऽसौ संलेखनां विधायानशनं कृत्वार्त्तरौद्रध्याने त्यक्त्वा धर्मध्याने वर्तमान आनंदवदवधिज्ञानमुपार्जयामास.

अथ पुनरप्येकदा सा रेवती मद्यपानं कृत्वा मदोन्मत्ता सती महाशतकपार्श्वे समागत्य कामोद्दीपकवचनानि प्राह, 'हे प्राणनाथ ! तव पुत्रा लघुवयसो विनययुक्ताश्च वर्त्तंते, यौवनवतीं च मां मदनोऽधुना बाधते, प्रमदानां च भर्त्तारं विना शोभा न भवति, ततो मयि कृपां विधायानशनं त्यक्त्वा मया सार्द्धं भोगान् भुंक्ष्व ? स्वर्गापवर्गसौख्यानि च केन दृष्टानि संति ? नूनं त्वं केनापि वंचितोऽसि' तस्या इत्यादिवचनानि श्रुत्वापि स धर्मध्यानान्न चलितः. तदासौ द्वितीयतृतीयवारमप्येवमेवावदत्. तदा क्रुद्धो महाशतकोऽवधिज्ञानेन तस्याः स्वरूपं विज्ञाय कठोरवचनैरवादीत् ' रे दुष्टे पापिष्टे ! तव पापकर्मतस्त्वमद्यतः सप्तमे दिने विसूचिकारोगेण मृत्वा रत्नप्रभापृथिव्या लोलकनाम्नि नरकावासे नारकत्वेनोत्पत्स्यसे'. इति निजवल्लभवचनाद्भयभीता रेवती निजगृहे गत्वा चिंतयामास, हा मया मे पतिर्महाशतको धर्मध्यानाच्चालितः, ततः कुपितोऽसौ मां

नूनं केनापि कुमरेणन मारयिष्यति. इति भीतार्त्तध्यानपतिता सा सप्तमदिने विसूचिकारोगेण मृत्वा प्रथमनरके गता.

इतः श्रीवर्द्धमानजिनोऽपि विहारं कुर्वंस्तत्राजगाम. तदा श्रेणिकप्रमुखा जनास्तत्रागत्य प्रभुं नत्वोपविष्टाः. प्रभुणापि मधुरवाण्या धर्मोपदेशो दत्तः. ततः सर्वा अपि पर्षदो निजनिजस्थानके गताः.

अथश्री महावीरो गौतमस्वामिनं प्रति वदति 'हे गौतम ! अत्र नगरे महाशतकाभिधः श्राद्धवर्योऽस्ति, तेनोपासकप्रतिमातपः कुर्वता मां च स्मरता धन्यात्मनानशनं गृहीतमस्ति. तद्भार्यया कामोद्दीपकवचनैः क्षोभितोऽपि स क्षुब्धो नास्ति. परं तस्यै क्रोधवशेन तेनैवं कथितमस्ति, रे दुष्टे पापिष्टे त्वमद्यतः सप्तमदिने विसूचिकारोगेण मृत्वा प्रथमनरके उत्पत्स्यसे इति. परं हे गौतम ! इदृग्वचनं वक्तुं तस्य युक्तं न. सर्वजीवराशिं क्षामयित्वानशने गृहीते सति सत्यमपि परपीडाकारि वचनं वक्तुं न युज्यते. यतः—

**प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं । सूनृतव्रतमुच्यते ॥ तत्तथ्यमपि नो तथ्य-मप्रियं चाहितं च यत् ॥ १ ॥**

**[१]जेण परो दुहिज्झइ । पाणिवहो होइ जेण वयणेण ॥ अप्पा पडइ किलेसे । तं णहु जंपंति गीयत्था ॥२॥**

अतो भो गौतम ! तत्र गत्वा त्वं तं श्रमणोपासकं महाशतकं कथय ? यथा त्वं तत्पापं समालोचय ? मिथ्यादुष्कृतं च देहि ? तदा श्री गौतमोऽपि तथेत्युक्त्वा राजगृहे पौषधशालायां गतः. गौतममायांतं दृष्ट्वा हृष्टो महाशतकस्तस्मै वंदनादि विधायासनदानादिकमकरोत्. ततः श्रीगौतमो महाशतकं प्रत्याह 'भो श्राद्धोत्तम ! वीरजिनो मम मुखेन त्वां प्रति वदति यत्परपीडाकरं वचनमनशनिनो न वदंति, ततो रेवत्यै त्वया सत्यमपि तत्पीडाकरं यद्वचनं भणितं तदालोचय ? तदर्थं च

१ येन परो दुह्यते प्राणिवधो भवति येन वचनेन । आत्मा पतति क्लेशे तन्नहि जल्पन्ति गीतार्थाः

मिथ्यादुष्कृतं देहि। यत :—

**[1]पागडियसव्वसल्लो। गुरुपयमूलंमि लहइ साहुपयं॥ अविसुद्धस्स न वड्ढइ। गुणसेढी तत्ति अट्ठाइ॥ १॥**

इति श्रीगौतमेनोक्तं वचनं तथेति कृत्वा स महाशतक आलोचयति क्षामयति, तन्निमित्तं प्रायश्चित्तं च कुरुते. ततः श्रीगौतमोऽपि वीरप्रभुपार्श्वं समागतः, प्रभुरन्यत्र विजहार. अथ स महाशतकश्राद्धोऽपि विंशतिवर्षाणि यावत् श्रावकधर्मं पालयित्वैकमासिकमनशनं विधाय शुभध्यानेन पंचपरमेष्ठिनमस्कारं स्मरन् प्रथमदेवलोकेऽरुणावतंसकविमाने चतुःपल्पोपमायुर्देवो जातः. तत्र स दिव्यनाटकादिविविधसौख्यान्यनुभवति. उक्तं च—

**[2]देवाण देवलोए। जं सुक्खं तं नरो सुभणिउवि॥ न भणइ वाससएणवि। जस्सवि जीहासयं हुज्जा ॥१॥**

ततः श्रीगौतमेन वीरजिनेंद्रः पृष्टो हे भगवन् ततश्च्युत्वा स क्व यास्यति? भगवानुवाच ततश्च्युत्वा स महाविदेहे मनुष्यत्वं प्राप्य केवलज्ञानं लब्ध्वा मोक्षं यास्यति. ॥ इति श्रीमहाशतकस्य चरित्रं श्रुत्वा जंबूस्वामी परमसंवेगं प्राप्तवान्. ॥

**इति श्रीवर्द्धमानदेशनायां वाचनाचार्यश्रीरत्नलाभगणिशिष्येण राजकीर्तिगणिना गद्यबंधेन प्रणीतायां महाशतकश्रावकप्रतिबोधो नामाष्टम उल्लासः समाप्तः ॥ श्रीरस्तु ॥**

---

१ प्राकटितसर्वशल्यो गुरुपदमूले लभते साधुपदं अविशुद्धस्य न वर्द्धते गुणश्रेणि तृप्ति अर्थाय.

२ देवानां देवलोके यत् सुखं तन्नरो सुभणितोऽपि। न भणति वर्षशतेनाऽपि यस्यापि जीह्वाशतं भवति.

## नंदिनीप्रियचरित्रम्

अथ समग्रसिद्धांतपारगः श्रीसुधर्मस्वामी जंबूस्वाम्यग्रे नंदिनीप्रियस्य चरित्रं ब्रूते—

अस्मिन्नेव भरतक्षत्रे श्रावस्त्यभिधाना नगर्यस्ति, तत्र कोष्टकाभिधं च चैत्यं वर्त्तते. तत्र जितशत्रुनामा राजा राज्यं कुरुते, तत्र जगति विख्यातो महर्द्धिकश्चनंदिनीप्रियाभिधः श्रेष्ठी वसति. तस्य व्याजे व्यापारे भूम्यां च प्रत्येकं चतुश्चतुः-कोटिसुवर्णमस्ति, चत्वारि च तस्य गोकुलानि संति. अन्यापि भूरिसमृद्धिस्तस्य गृहेऽस्ति. तस्याश्चिन्यभिधा सुशीला भार्या वर्त्तते, तया सह स विषयसुखानि भुंक्ते. इतः श्रीवर्द्धमानस्वामिनस्तत्र श्रावस्तीनगर्यां समवसृताः, जितशत्रुप्रमुखा-श्चलोकास्तद्वंदनार्थं गताः, नंदिनीप्रियोऽपि जिनागमनं श्रुत्वा हृष्टः सन्महताडंबरेण तत्र गत्वा जिनं नत्वोपविश्य प्रभु-मुखाद्धर्मोपदेशं भावेन शृणोति. तद्यथा—

"देवा हि सततं विषयासक्ताः, तिर्यंचश्च विवेकविकलाः, नारकाश्चातीववेदनार्त्ताः संति, ततो भो भव्या इदं दुर्लभं मनुष्यत्वं प्राप्य यूयं धर्मं कुरुत ? धर्मतो देवसमृद्धिर्जंगति कीर्त्तिश्च भवति. तस्य धर्मस्य रहस्यभूता च जीवदयास्ति. तां जीवदयां प्रतिपाल्यानंता जीवा मुक्तिं गता गमिष्यंति च. जीवदयां विना जीवो रम्यसुखानि न प्राप्नोति, यश्च सर्वेषु करुणां करोति स भीमकुमारवद्देवानामपि माननीयो भवति,"

तत् श्रुत्वा नंदिनीप्रियेण पृष्टं हे 'भगवन् ! तेन भीमकुमारेण कथं जीवदया पालिता ? कथं च स देवानामपि माननीयोऽभवत् ?"

स्वाम्याह—" इहैव भरतक्षेत्रे कमलपुराभिधं नगरं वर्त्तते, तत्र नरवाहनाख्यो राजा राज्यं करोति, तस्य मालत्यभिधा च भार्यास्ति. तयोर्महासत्वोपेतो भीमनामा पुत्रोऽस्ति. अथान्यदा स भीमकुमारो वनमध्ये गतः, तत्र च वृक्षाध उपविष्टं साधुमेकं स ददर्श, साधुं वंदित्वा च सोऽग्रे उपविष्टः, साधुनापि तस्मै धर्मोपदेशतो दत्तः. ततोऽसौ साधुसमीपे सम्यक्त्वमूलं श्राद्धधर्ममंगीचकार. पश्चादसौ गृहे समागत्य जिनभाषितधर्मं करोति.

अथैकदा कोऽपि कापालिको भीमकुमारसमीपे समागत्य पुष्पफलानि चाग्रे विमुच्य विज्ञपयति ' हे कुमार ! सत्पुरुषाः कदापि प्रार्थनाभंगं न कुर्वंति, तस्मात्त्वामहं प्रार्थयामि यद् द्वादशसंवत्सराणि यावत्पूर्वं मया विद्यायाः सेवा कृतास्ति, सांप्रतं चतुर्दशीदिने च तां विद्यां साधयितुमहमिच्छामि, ततो महोपकारी त्वं मम विद्यासाधने उत्तरसाधको भव ?' तत् श्रुत्वा परोपकारप्रविणेन कुमाऽरेणापि तस्य तद्वचनं स्वीकृतं.

अथ तस्मिन् दिने समागते स भीमकुमारोऽपि कापालिकसमीपे चचाल. तन्मित्रेण मंत्रिपुत्रेण गाढं निवारितोऽपि स नातिष्टत्. ततोऽसौ भीमकुमारः खड्गहस्तो एकाक्येव स्मशाने योगिपार्श्वे गतः.

अथ स योगी मंडलमालिख्य देवतायाः पूजनं कृत्वा कुमारमस्तके शिखाबंधं कर्तुमुत्थितः. कुमारस्तु तद्दुष्टभावं ज्ञात्वाऽवादीत् ' भो कापालिक ! अस्माकं तु सत्वमेव शिखाबंधोऽस्ति, ततस्त्वं तव समीहितं कुरु ? अनया चिंतया तेऽलं, दुष्टव्यंतरयक्षादयो ममाग्रे समर्था न भवंति.' तत् श्रुत्वा स कापालिकश्चिंतयति एष कुमारो महाबलिष्टोऽस्ति, अतोऽहमस्य मस्तकं कथं गृह्णामि ? तद्विना च मत्कार्यसिद्धिर्न भविष्यति. ततो बलात्कारेणाप्यस्य मस्तकमहं गृह्णामीति विचिंत्य स

निजं विकरालरूपं विधाय छुरिकां च हस्ते कृत्वोवाच, भो कुमार अथ त्वमात्मीयमिष्टदेवं स्मर १ अधुना बलात्कारेणापि तव मस्तकं गृहीत्वाहमिमां विद्यां साधयिष्यामि. तत् श्रुत्वा स हसित्वाह रे मूढकापालिक! गोमायुतुल्यस्त्वं मे सिहस्य मस्तकं कथं गृहिष्यसि ? ततस्तयोः परस्परं युद्धं प्रवर्तितं. कुमारस्तं कापालिकं मुष्टिभिस्ताडयित्वा भूमौ निपात्य तद्वक्षसि समारुह्य केवलं दययैव तन्मस्तकछेदमकुर्वन् भृशं ताडयामास. ततोऽसौ भृशमारटन् क्रोधात्कुमारं गृहीत्वाकाशे उल्लालयामास. तदैकया देवतया तद्रूपमोहितयाकाशस्थितया स गृहीतः.

ततः सा तं निजस्थाने समानीयोवाच 'भो सत्पुरुष ! अयं विंध्याचलाख्यः पर्वतो वर्त्तते, अत्र नानामणिमंडितमिदं मे गृहमस्ति, कमलाभिधाहं च यक्षिण्यस्मि, तव रूपेण च मोहितास्मि, ततो भो महाभाग! ममोपरि कृपां विधाय त्वं मया सह भोगान् भुंक्ष्व ?' तत् श्रुत्वा स भीमकुमारश्चिंतयति प्राणांतेऽप्यहं व्रतभंगं नैव करिष्यामि, एषा देवी ममोपरि रोषं करोतु वा संतुष्टा भवतु ? इति ध्यात्वा सोऽवदत् व्रतभंगेन प्राणिनः संसारमध्ये भ्रमंति, कामभोगाश्चानर्थानां खानितुल्याः, मुक्तिसुखस्य च शत्रुरूपा वर्त्तंते. यतः

**न जातु कामः कामाना-मुपभोगेन शाम्यति ॥ हविषा कृष्णवर्त्मेव । भूय एव विवर्द्धते ॥१॥**

**[1]सल्लं कामा विसं कामा । कामा आसिविसोवमा ॥ कामेय पत्थमाणा य । अकामा जंति दुग्गइं ॥ ॥ २ ॥** इति कुमारवचनानि श्रुत्वा हृष्टा देव्युवाच भो कुमार त्वं धन्यः कृतपुण्यश्चासि, येन यौवनावस्थायामपि स्वात्मावशीकृतोऽस्ति. इतः कुमारो मधुरध्वनिं कस्यापि श्रुत्वा देवीमपृच्छत्, भो देवि कस्यायं मधुरध्वनिः श्रूयते? देव्युवाच



१ शल्यं कामा विषं कामा कामा अशीविषोपमा । कामान् प्रार्थ्यमाना अकामा यान्ति दुर्गतिं ॥

अत्र शैले केचिन्मुनयश्चतुर्मासीं स्थिताः संति, तेषामयं स्वाध्यायध्वनिः श्रूयते. तदा कुमारस्तत्र गत्वा मुनीन् वंदित्वा पृच्छति 'भो मुनयो यूयमत्र महाटव्यां कथं स्थिताः स्थ? इति यावत्स पृच्छति तावदेको भुजस्तत्रागत्य कुमारस्य खड्गं गृहीत्वा गगने नंतुं प्रवृत्तः, तदा स कुमारोऽपि सत्त्वमालंब्य तत्र भुजे समारुरोह. भुजोऽपि कुमारं गृहीत्वा कालिका देव्याश्चैत्ये समागतः तदा कुमारो भुजाद् उत्तीर्य चैत्यमध्ये गतः, तत्र च स तमेव योगिनं ददर्श. स भुजोऽपि योगिनः शरीरे प्रविष्टः, कुमारोऽपि तत्र प्रच्छन्नं स्थितः

अथ तेन योगिना पूर्वं कोऽपि सुंदराकारः पुरुषो धृतोऽस्ति, तं पुरुषं स केशेषु धृत्वा वदति, रे पुरुष! सांप्रतं त्वं निजेष्टदेवं स्मृत्वा कंचिदपि शरणीकुरु? अधुनैवानेनासिना तव शिरच्छेदं करिष्यामि.

तत् श्रुत्वा स पुरुषः प्राह श्रीवीतरागदेवो मे शरणमस्तु, तथैव भीमकुमारोऽपि मे शरणं भवतु? तत् श्रुत्वा योगी वदति रे मूर्ख तस्य कापुरुषस्य भीमकुमारस्य त्वं किं शरणं करोषि? स तु मार्यमाणो ममाग्रतः क्वापि नष्ट्वा गतोऽस्ति. तत् श्रुत्वा भीमकुमारः प्रकटीभूय योगिनं प्रत्युवाच 'रे कापालिकाधम! त्वमेनं कथं मारयसि?' इति तद्वचनं श्रुत्वा स कापालिकस्तं पुरुषं विमुच्य भीमस्य मारणार्थं धावितः तयोर्घोरे युद्धे जाते कुमारो योगिनं ग्रीवायां गृहीत्वा धरित्र्यां च प्रपात्य तस्योपर्युपविष्टोऽवादीत् रे चांडालाधम! अधुना त्वमेव तवेष्टं देवं स्मर? इत्युक्ते सा कालिकादेवी कुमारसत्त्वेन तुष्टा सती प्राह, भो कुमार! मम भक्तमेनं योगिनं त्वं मा मारय? वरं च वृणु? भीमेनोक्तं हे देवि! यदि त्वं ममोपरि तुष्टासि तर्हि त्वमपि जीवदयां पालय? यतः सर्वेषामपि जीवानां निजजीवो वल्लभोऽस्ति जीवहिंसा

च महादुःखदायिन्यस्ति. यतः-

**सुखार्थं दुःखसंघातं । मंगलार्थेऽप्यमंगलं ॥ जीवितार्थं ध्रुवं मृत्युं । कृता हिंसा प्रयच्छति ॥ १ ॥**

**म्रियस्वेत्युच्यमानोऽपि । देही भवति दुःखितः ॥ मार्यमाणः प्रहरणै—र्दारुणैर्न कथं भवेत् ॥ २ ॥**

तत् श्रुत्वा सा प्राह भो कुमार! अद्यप्रभृत्यहं जीववधं नैव करिष्यामि, इति स्वीकृत्य सा देव्यदृश्यी बभूव. अथ कापालिकेन यः पुरुषस्तत्र मारणार्थमानीतोऽभूत्, तं निजमित्रं मंत्रिपुत्रं विज्ञाय हृष्टः कुमारस्तमालिंग्यापृच्छत्, भो मित्र ! त्वं जानन्नप्यस्य दुष्टस्य वशे कथं पतितः ? तत् श्रुत्वा सोऽवादीत् भो मित्र यदा त्वं गृहमध्ये केनापि न दृष्टस्तदा नृपादिः सर्वोऽपि लोकः शोकातुरो जातः, ततः समाराधितया कुलदेव्या प्रकटीभूयोक्तं हे राजन् ! त्वं चिंतां मा कुरु ? स्तोकैरेव दिनैर्भवत्पुत्रो महर्द्धियुतोऽत्र समेष्यति.

अथाहं लोककथाश्रवणार्थं यदा गृहाद्बहिर्निर्गतस्तदानेन दुरात्मनाहं गृहीत्वाऽत्रानीतः ततो योगिनापि कुमारवचनेन जीवदयाधर्मोऽङ्गीकृतः

इतः कोऽपि महागजेंद्रस्तत्रागत्य भीमकुमारं मंत्रिपुत्रं च शुंडया समुत्पाट्य निजपृष्टे च संस्थाप्य गगनमार्गे गतः, तथैकस्य शून्यनगरस्य प्रतोलीपार्श्वे तौ मुक्त्वा स्वयमदृश्यीभूतः

अथ भीमकुमारो मंत्रिपुत्रं बहिः संस्थाप्य स्वयं नगरमध्ये प्रविष्टः, तत्र च नरसिंहरूपेणैकं सुंदराकारं नरं मुखे गृहीतं रुदंतं स ददर्श, तं दृष्ट्वा कुमारः करुणया तं नरसिंहं प्रत्याह 'भो नरसिंह त्वमेनं दीनं मनुष्यं मुंच ?' तत् श्रुत्वा

नरसिंहोऽवदत् भो कुमार बुभुक्षितेन मया बहुकालेनेदं भक्ष्यं लब्धमस्ति, ततस्तमहं कथं मुंचामि?' कुमारेणोक्तं त्वं वैक्रियशरीरो दृश्यसे, ततोऽयं तव कथं भक्ष्यो भवेत्?' तेनोक्तं 'हे कुमार तवोक्तं सत्यमस्ति, परमसौ मे पूर्वभववैरी वर्त्तते, तस्मादेनमहं निश्चयेन मारयिष्यामि, अस्य मारणेनैव मे क्रोधो यास्यति.' भीमो भणति, 'हे नरसिंह जगति कोऽपि कस्यापि वैरी न भवति, प्राणिनां सुखदुःखानि निजकर्मभिरेव भवंति, अतस्त्वमेनं दीनं मनुष्यं मुंच?' एवं कुमारेण बहुधा भणितोऽपि स तं न मुमोच. तदा कुमारेण बलात्कारेण स मनुष्यस्तन्मुखाद् गृहीतः, ततस्तयोः परस्परं युद्धं जातं. कुमारप्रहारैः पीडितांगः सोऽदृश्यीबभूव. ततो निर्भयः कुमारस्तेन नरेण सार्द्धं नृपमंदिरे गतः

तदा तत्र स्थिताः पांचालिका उत्थाय कुमारस्य भक्तिमकुर्वन्. एका भृंगारे जलं भृत्वा समागता, द्वितीया चागत्य कुमारस्य चरणौ क्षालयामास. तृतीययोक्तं 'भो कुमार त्वं विधिना शीघ्रं स्नानं कुरु?' चतुर्थ्योक्तं 'त्वमेतानि पुष्पाणि गृहीत्वा जिनेंद्रपूजां कुरु?' पंचम्योक्तं 'भो कुमार त्वमेतद्दिव्यभोजनं भुंक्ष्व? दिव्याभरणैश्च निजशरीरं शृंगारय?' ततः कुमारेणापि पुत्तलिकोक्तं तत्सर्वं कृत.

अथालंकृतशरीरो विस्मितोऽसौ यावत्तिष्ठति, तावदेकं देवमग्रे स्थितं स ददर्श देवेनोक्तं 'भो कुमार त्वं वरं वृणु? अहं तवोपरि तुष्टोऽस्मि.' कुमारेणोक्तं 'भो देव! इदं नगरं शून्यं कथं जातं?' देवोऽवादीत् 'भो कुमार शृणु? कनकपुरनामेदं नगरमस्ति, अत्र च कनकरथाभिधो राजाऽभूत, तस्य च सुदत्तनामा पुरोहितोऽभूत, परं स नगरवासिलोकानामुद्वेगकारको जातः, इत एकेन नरेणागत्य स राजा विज्ञप्तः 'हे राजन् तव पुरोहितो नित्यमेव परस्त्रीगमनं करोति.' तत् श्रुत्वा रुष्टो

राजा तं पुरोहितं विडंब्य मारयामास. स च पुरोहितो मृत्वाहं राक्षसो जातः, नरसिंहरूपीभूतस्य मम मुखात्त्वया यः पुरुषो गृहीतः, स एवायमस्य नगरस्य राजास्ति. तव सत्त्वात्तुष्टेन च मया पुत्तलिकापार्श्वात्तवायं सर्वोऽप्युपचारः कारितोऽस्ति. नगरीलोकोऽपि मयैव मे शक्त्याद्दश्यीकृतोऽस्ति.

अथ चात्र नगरोद्याने केवली समवसृतोऽस्ति, तत् श्रुत्वा भीमकुमारो मंत्रिपुत्रो राक्षसश्च ते त्रयोऽपि तस्य वंदनार्थं तत्र गताः. केवलिनं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वा च तेऽग्रे समुपविष्टाः संतो केवलिप्रोक्तं धर्मं शृण्वंति. तदा कोऽपि गजेंद्रो गर्जन् शुंडादंडं चोल्लालयन् केवलिपार्श्वे समागतः तं दृष्ट्वा सर्वापि सभा क्षुब्धा, परं स गजेंद्रो भीमकुमारं दृष्ट्वा प्रसन्नो जातः.

अथ केवली प्रोवाच भो भो जना असौ गजेंद्ररूपधारी यक्षोऽस्य राज्ञः पितामहजीवोऽस्ति, स च निजपौत्ररक्षार्थं भीमकुमारमत्रानीतवान्. भीमकुमारोऽपि तत्पौत्रं राक्षसान्मोचयामास. तत् श्रुत्वा यक्षो निजगजेंद्ररूपं त्यक्त्वाऽवदत्. नूनं केवलिप्रभुणोक्तं सर्वं सत्यमेवास्ति.

इतः सा कालिकादेव्यपि महाविभूत्या गुरुसमीपे समागत्य प्रथमं भीमकुमारं नत्वा पश्चात्केवलिनं ननाम. तद् दृष्ट्वा विस्मितो राजा केवलिनं पप्रच्छ, हे भगवन् देव्या प्रथमं भीमकुमारं प्रणम्य पश्चाद्भवंतः कथं नमस्कृताः? केवली प्राह 'हे राजन्! असौ भीमकुमारोऽस्या जिनधर्मदानाद्गुरुरस्ति, तस्माच्च तयायं पूर्वं नमस्कृतः. अथ यक्षो भीमकुमारं प्रत्युवाच हे कुमार! त्वद्विरहेण ते पितरावतीवदुःखितौ स्तः. तस्मादथ त्वं स्वपुरे गच्छ?' इत्युक्त्वा यक्षेणैकं विशालं विमानं कृतं. ततस्तौ मुनिं नमस्कृत्य विमाने समारुह्य देवीकृतमहोत्सवौ निजपुरे समागत्य मातापित्राः पादयोर्ननामतुः.

अथ शुभमुहूर्ते कुमाराय राज्यं दत्त्वा हरिवाहननृपः प्रव्रज्यां गृहीत्वा पूर्वार्जितकर्माणि क्षपयित्वा मुक्तिं ययौ. भीमकुमारोऽपि चिरं राज्यं प्रपाल्य सुतं च राज्ये न्यस्य दीक्षां गृहीत्वा कर्मक्षयं विधाय मोक्षे ययौ. ॥ इति भीमकुमारकथा समाप्ता ॥

एवं जिनमुखात् श्रुत्वा स नंदिनीप्रियोऽपि गृहस्थव्रतान्यानंदवत्प्रत्यपद्यत. ततोऽसौ निजजीवितं सफलं गणयन् प्रभुं वंदित्वा स्वगृहे समागतः. प्रभुरप्यन्यत्र विजहार. एवं सभार्यस्य तस्य श्रीजिनोक्तं धर्मं कुर्वतश्चतुर्दशवर्षाण्यतिक्रांतानि.

पंचदशे च वर्षे तेन चिंतितमियत्कालं मया कुटुंबचिंता कृता, अधुनाहं श्राद्धप्रतिमातपः कुर्वे, इति ध्यात्वा स सर्वं स्वजनवर्गं संतोष्य, ज्येष्ठपुत्रं च कुटुंबभारे संस्थाप्य स्वयं पौषधशालायां प्रमार्ज्य दर्भसंस्तारकस्थितः श्राद्धप्रतिमा आराधयामास. ततोऽसौ निरुपसर्गोऽनशनं गृहीत्वा श्रीवीरं स्मरन् शांतकषायः कालं कृत्वा सौधर्मदेवलोकेऽरुणाभविमाने चतुःपल्योपमायुर्देवो जातः. अथ श्रीगौतमेन पृष्टं 'हे भगवन् ततश्च्युत्वा स क्व यास्यति ?' भगवानुवाच 'भो गौतम ! स महाविदेहे सेत्स्यति.' एवं श्रीसुधर्मस्वामिना जंबूस्वाम्यग्रे नंदिनीप्रियश्राद्धस्य चरित्रं. कथितं ॥

इति श्रीवर्द्धमानदेशनायां वाचनाचार्यश्रीरत्नलाभगणिशिष्येण राजकीर्तिगणिना
गद्यबंधेन प्रणीतायां नंदिनीप्रियप्रतिबोधो नाम
नवम उल्लासः समाप्तः ॥ श्रीरस्तु ॥

## तेतलिपुत्रचरित्रम्

अथ श्रीसुधर्मस्वामीं जंबूस्वाम्यग्रे तेतलिपुत्रस्य चरित्रं कथयति—अस्मिन् भरतक्षेत्रे श्रावस्त्यभिधा नगरी वर्त्तते, तत्र नानावृक्षैः शोभितं कोष्ठकाभिधानं च चैत्यमस्ति. तत्र जितशत्रुनामा राजा राज्यं करोति, किंच तत्रैकस्तेतलिपुत्राभिधः सुप्रसिद्धो गाथापतिर्वसति, तस्य फल्गुनाम्नी च भार्या वर्त्तते. व्यवसाये व्याजे धरित्र्यां च तस्य चतुश्चतुःकोटिसुवर्णमस्ति, चत्वारि च गोकुलानि तस्य गृहे वर्त्तंते. अथैकदा श्रीवर्द्धमानस्वामी विहरंस्तत्र नगरे समाययौ. देवैश्च तत्र समवसरणं कृतं. जितशत्रुनृपप्रमुखा नगरलोकाश्च समवसरणे समागताः. तेतलिपुत्रोऽपि जिनं समागतं श्रुत्वा हृष्टमनास्तत्र समागत्य प्रभुं च वंदित्वा पुरो निषण्णः. तदा श्रीवर्द्धमानप्रभुरपि सर्वप्राणिसाधारणया भाषया धर्मोपदेशं ददौ. 'भो भो भव्या दुर्लभं मनुष्यभवं ज्ञात्वा दुर्गतिदायकं प्रमादं मा कुरुत ? इहलौकिकसुखं सुलभं, स्वर्गादिसंपच्च सुलभा, परमेकांतसुखदायको जिनप्रणीतो धर्मो दुर्लभोऽस्ति, धर्मोणोत्तमकुले समुत्पत्तिर्दिव्यरूपसंपत्तिः कीर्त्तिविस्तारश्च भवंति, ततः प्रमादं त्यक्त्वा प्रयत्नेन धर्मः कार्यः. धर्मस्य च मुख्यकारणं ज्ञानं विज्ञाय तत्रादरः कार्यः. ज्ञानेन पुण्यपापे खाद्याखाद्ये पेयापेये इहलोकपरलोकौ स्वर्गमोक्षौ च ज्ञायंते. ज्ञानं हि दुर्गतिदुःखं हरति, शिवसुखं च कुरुते, एवं ज्ञानं सर्वगुणानां स्थानमस्ति, ज्ञानेन च सागरचंद्रस्येव प्राणिनः सर्वसंपदो भवंति.' तदा तेतलिपुत्रेण पृष्टं 'हे भगवन्! कोऽसौ सागरचंद्रः ? कथं च तस्य ज्ञानेन संपदो जाताः ?'

भगवानाह भो तेतलिपुत्र ! त्वं सावधानमनास्तस्याश्चर्यकारकं चरित्रं शृणु ! अस्मिन् भरतक्षेत्रे मलयपुरेऽमितचंद्रा-

भिधो राजा राज्यं करोति, तस्य चंद्रकलाभिधा च राज्यस्ति, तयोश्च सागरचंद्राभिधः पुत्रो वर्त्तते, तस्मिन् कुमारे ये गुणा यच्च सौभाग्यं यच्च भुजाबलमासीत्तदन्यत्र कुत्रापि नाभवत्, लीलया स महागजेंद्रमप्युल्लालयति, बलवंतं राक्षसमपि हेलया वशीकरोति.

अथैकदा स कुमारो नगरमध्ये लीलया भ्रमन्नेकं पुरुषं वंशाग्रोर्ध्वीकृतलेखं ददर्श. तदा कुमारस्तत्पार्श्वे गत्वा तमपृच्छत् 'भो पुरुष ! अस्मिन् लेखे किमस्ति ?' सोऽवदद्भो कुमार अत्र लेखे चैकाऽपूर्वा गाथास्ति, तस्याश्च पंचशतदीनाराणि मूल्यमस्ति. तत् श्रुत्वा कुमारस्तस्मै तन्मुल्यं दत्वा गाथालेखं च गृहीत्वा हृष्टो वाचयामास.

**अप्पच्छियं चिय होयइ। दुहं तह सुहंपि जीवाणं ॥ तं चिय उवसमिउं धम्मे चिय कुणह पडिबंधं ॥१॥**

ततोऽसौ तद्गाथार्थं मनसि स्मरन्नुद्याने गत्वा विविधक्रीडाभिः क्रीडयामास.

इतोऽसौ कुमारः केनापि हृत्वा महासमुद्रे क्षिप्तः, तदा च पूर्वकृतपुण्योदयेन तेनैकं फलकं लब्धं, नवमे दिने च सोऽमरद्वीपे प्राप्तः, तत्र स नालिकेरजलेन शरीरं मर्दयित्वा पटुशरीरो जातः, गाथार्थं च स्मरन् दुःखनामापि न ज्ञातवान्, फलपुष्पाणि च भक्षयन् स प्राणाधारं करोति. अथ तत्र द्वीपे भ्रमन् कुमारः कस्याश्चिद्रुदंत्याः कन्याया ध्वनिं शुश्राव. तत् श्रुत्वा करुणया कुमारस्तद्ध्वनिदिशं प्रति चचाल. अग्रे गच्छता च तेन श्रुतं 'यदन्यस्मिन् भवेऽपि स सागरचंद्रकुमार एव मे भर्त्ता भवतु,' इत्युत्वा सा बाला यावद्गले पाशं बध्ध्वाऽऽत्मानं मोचयति तावत्कुमारेणागत्य द्रुतं तत्पाशश्छेदितः.

१ अप्रार्थितं किल भवति दुःखं तथा सुखमपि जीवानां तत् किल उपशमितुं धर्मे किल कुरुत प्रतिबन्धं.

'इतः कोऽपि विद्याधरस्तत्रागत्य कुमारं प्रत्युवाच ' भो सत्पुरुष ! त्वयास्याः कन्याया जीवितव्यरक्षणेनास्माकमुपरि महानुपकारः कृतोऽस्ति.'

'अथ कुमारस्तं प्रत्यपृच्छत् 'भो खेचर ! कैषा कन्यास्ति ? खेचरोऽवादीदस्मिन्नमरद्वीपमध्येऽमरपुराभिधं नगरमस्ति, तत्र च भुवनभानुराजा राज्यं करोति, तस्य चंद्रवदनाभिधा राज्ञ्यस्ति, तत्कुक्षिजातेयं सकलकलाकलापकुशला कमलमालाभिधा पुत्र्यस्ति. तयैकदा सागरचंद्रस्य गुणान् श्रुत्वेति प्रतिज्ञा कृता, यदस्मिन् भवे मम सागरचंद्रकुमारो भर्ता भवतु ? अन्यथा मेऽग्निशरणमस्तु.

इतस्तस्या रूपमोहितेन सुरसेनविद्याधरेण सा हृत्वात्रानीता. इत एतस्या मातुलोऽहममिततेजोऽभिधो राजा तद्विलापं श्रुत्वा क्रुद्धोऽत्रागत्य तेन सार्द्धं युद्धं कृत्वा तं विनाशितवान्. एवं सैषा कमलमाला मम भागिनेयी वर्त्तते. इतोऽमिततेजोजननी विद्युल्लतापि तत्र समायाता, तया च सागरचंद्रं दृष्ट्वोपलक्ष्य च कथितं हे पुत्र !—

**कः कल्पपादपो रत्न-निधिः को वा सुधारसः ॥ अनंतफलदो लब्धो । योगः सत्पुरुषैर्यदि ॥ १ ॥**

एष एवामितचंद्रपुत्रः सागरचंद्रोऽस्ति, नंदीश्वरद्वीपे गच्छंत्या मया स दृष्ट आसीत्. इति श्रुत्वा कमलमालापि चित्ते भृशं प्रमुदिता चिंतयामास ' अहो ! जगति पुण्यपरिपाकः कीदृशोऽस्ति ! कुत्रासौ कुमारः ? कुत्र चाहं ? नूनं विधिनाऽनुकूलः संयोगः कृतः.'

अथामिततेजो राज्ञा महामहोत्सवेन कुमारेण सार्द्धं तस्याः प्राणिग्रहणं कारितं. ततोऽसौ सागरचंद्रकुमारोऽमरपुरे प्राप्तः,

श्वशुरेण चाडंबरपूर्वकं तस्य प्रवेशमहोत्सवः कृतः, तत्र च स्थितोऽसौ विविधसौख्यानि भुंक्ते. अथैकदा रजन्यां भार्यया सह सुप्तः कुमारः प्रभाते स्वात्मानं कस्मिंश्चिन्महापर्वतशिखरे ददर्श. तदासौ विस्मितश्चिंतयति 'कुत्र तद् गृहं ? कुत्र सा मे प्रिया कमलमाला ? कुत्र चेदं गिरिशिखरं ?' इति ध्यात्वा स गाथार्थं विचारयामास, तदा स क्षुत्तृड्दुःखं च न विवेद.

अथ तत्र निर्भयोऽसौ परिभ्रमन्नशोकपादपस्याध एकं कायोत्सर्गस्थितं मुनिं ददर्श. तदोत्पन्नविवेकोऽसौ तत्र गत्वा मुनिं वंदित्वापृच्छत् 'हे भगवन्! जीवानां सुखं कुतो भवेत्? मुनिरपि तं योग्यं ज्ञात्वा धर्मलाभं दत्वा तस्य हितार्थमेवमब्रवात्. जिनधर्मं कुर्वन् जीवः सर्वसुखानि लभते, जिनधर्मं विना जीवस्यार्थकामौ न भवतः, धर्मद्रुमस्य मूलं च सम्यक्त्वं कथ्यते. सम्यक्त्वं विनाराधितो धर्मो निष्फलः स्यात्. जीवो यद्देवगुरुधर्मरूपं तत्त्वत्रयं सम्यक् श्रद्धाति तत्सम्यक्त्वं समाख्यातं. जितरागद्वेषोऽष्टादशदोषवर्जितो यथार्थकथकस्त्रैलोक्यपूजनीयः सर्वज्ञो देवो ज्ञेयः. पंचमहाव्रतैर्युक्ताः सामायिके संस्थिता निर्ग्रंथा धर्मोपदेशतत्परास्त्यक्तकषायाश्च गुरवो ज्ञेयाः. यो दुर्गतिपतितानां जीवानां रक्षति धारयति च स धर्मो ज्ञेयः, स च संयमादिदशभेदैर्जिनैर्भणितः. इति श्रुत्वा कुमारः सम्यक्त्वं प्रत्यपद्यत. ततः पुनरपि किंचित्पृष्टुं यावत्स कुमार उद्यतो भवति, तावत् स तं मुनिं न ददर्श. कुमारेण चिंततमहो मम धर्माचार्यः क्व गतः ? इति तस्योपकारं मनसि स्मरन् विस्मितोऽसौ यावत्तिष्ठति, तावदकस्मादागत्य समरविजयकुमारेण सेनया स वेष्टितः. सैन्यनायकेन निजसुभटान्प्रति कठोरभाषयोक्तं रे रे सुभटा एनं पापकारिणं कुमारं शीघ्रं मारयत ? तत् श्रुत्वापि निर्भयः कुमारो गाथार्थं मनसि स्मरन् बलात्कस्यचित्सुभटस्य शस्त्रं गृहीत्वा तैः सार्द्धं युद्धं चकार. एवं तेन केचित्सुभटा मारिताः, केचिच्च ततः

पलायिताः. एवं तत्सर्वमपि सैन्यं ततो नष्टं. निजं सैन्यं पलायमानं दृष्ट्वा क्रुद्धः समरविजयकुमारः स्वयं युद्धायोत्थितः, मत्तगजेंद्रवद्युद्धं कुर्वतोस्तयोर्वरणार्थं जयश्रीरपि संशयं प्राप्ता.

इतः सागरचंद्रेण छलं लब्ध्वा स कुमारो बद्धः, ततोऽसौ भयभीतः सागरचंद्रचरणयोः पतित्वा क्षमामयाचत. कुमारेणापि दयया स सत्कृत्य बंधनमुक्तः कृतः. इतः काचिदंगना तत्रागत्य जगाद भो कुमार ! कुशलवर्द्धननगरे श्रीकमलचंद्राभिधो नृपो वसति, अमरकांताभिधा च तस्य राज्यस्ति, तयोर्जिनमतभाविता भुवनकांताभिधा च पुत्र्यस्ति. कस्यचिन्मुखात्तया तव गुणान् श्रुत्वेति प्रतिज्ञा कृतास्ति, यदस्मिन् भवे मम सागरचंद्र एव भर्त्ता भवतु ? अन्ये सर्वेऽपि पुरुषा मे सहोदराः. एवं दृढप्रतिज्ञां गृहीत्वा सा तिष्ठति.

अथ सोलापुरे नगरे सुदर्शनाभिधो राजा राज्यं करोति, तस्य समरविजयाख्यः सुतोऽस्ति, तस्यार्थे सुदर्शनराज्ञा सा कन्या प्रार्थिता, परं कमलचंद्रनृपेण न दत्ता. तेन स समरविजयकुमारः सेनया सह समागत्य तां कन्यां च हृत्वा प्रच्छन्नमत्र वने स्थितः. तदाहं तस्याः कन्याया धात्री मोहात्तत्पृष्टे लग्नात्र समागता, इतो मया पुण्ययोगेन त्वमत्र दृष्ट उपलक्षितश्च. अतस्त्वं कृपां कृत्वा तां कन्यामस्य पार्श्वाद् गृहीत्वा परिणय ? तत् श्रुत्वा समरविजयकुमारेणापि सा कन्या तस्मै समर्पिता, सागरचंद्रकुमारेणापि सा भुवनकांता कन्या परिणीता.

अथ कुमारः श्वशुरस्य मिलनार्थं कुशलवर्द्धननगरं प्रति चचाल. मार्गे गच्छंश्च वीणादियुतं गीतगानं सोऽशृणोत्. तत् श्रुत्वा विस्मितोऽसौ तत्कन्यायुग्मं रथयुतं तत्र मुक्त्वा तद्गानशब्ददिशि चलितः. अतिदूरे गत्वैकस्मिन् गहनवने स सप्तभू-

मिमंडितमेकमावासं ददर्श, तत्र च गीतध्वनिं श्रुत्वा स समारुरोह, तदा सप्तमभूमौ महासुंदराकाराः पंचकन्याः स ददर्श. ता दृष्ट्वा विस्मितः कुमारो यावत् स्थितस्तावत्ताभिरुक्तं स्वागतं ते, इत्युक्त्वा ताभिरुत्थाय तस्मै आसनं दत्तं. ततः कुमारेण ताभ्यः पृष्टं भो सुंदर्यो यूयमत्रैकाकिन्यः कथं स्थिताः स्थ ? ताभिरुक्तं 'भो सुंदर ! त्वमस्माकं स्वरूपं शृणु ? वैताढ्यपर्वते सर्वेषां खेचराणामधीशः सिंहनादाभिधो विद्याधरो वसति. तस्य वयं कमलाश्रीरंभाविमलातारााभिधाश्च पंच पुत्र्यः स्मः. अन्यदास्माकं जनकेनैको नैमित्तिकः पृष्टो यदेतासां मे पुत्रीणां को भर्ता भविष्यतीति. निमित्तज्ञनेनोक्तं भो राजन् ! अमितचंद्रसुतः सागरचंद्राभिधः कुमारस्ते कन्यानां भर्त्ता भविष्यति. स च घोरांधकारयुतवने ताभ्यो मिलिष्यति. ततो राजा तं निमित्तज्ञं सत्कृत्य विसर्जयामास.

अथ तेन सिंहनादराज्ञात्र घोरांधकारत्वनेऽयं सप्तभूमिरावासः कारितः, वयं च तेनात्र स्थापिताः. अस्माकं पुण्येन त्वया चाद्यात्रागत्य निमित्तज्ञवचनं सत्यापितं. अतस्त्वं कृपां विधायास्मत्पाणिग्रहणं कुरु ? तत् श्रुत्वातीवविस्मितः कुमारो गाथार्थं स्मरन् तासां पाणिग्रहणमकरोत्. इतोऽसौ तद्भुवनं कन्याश्चापि तत्र न पश्यति. तदा तेन चिंतितं किं काऽप्ययं मे मोहश्चित्तभ्रमो वा कोऽपि देवानुभावः समुत्पन्नः ? पुनरपि स गाथार्थं स्मरन् यत्र रथो मुक्तोऽभूत् तत्र समागत्य यावद्विलोकयति तावद्रथं कन्ये चापि न व्यलोकयत्. ततो भृशं विषादं प्राप्तो गाथार्थं स्मरन् यावदग्रे वनमध्ये स चचाल, तावदुत्तंगतोरणमंडितमेकं जिनमंदिरं स ददर्श. तत्र गत्वा रत्नमयीं जिनप्रतिमां कमलपुष्पैः पूजयित्वा स्तुत्वा च गाथार्थं स्मरन् यावत् स तिष्ठति, तावन्मंगलापुरीतः सुधर्माख्यो राजा तत्र समागतः, स च कुमारजनकस्य सुहृदस्ति. जिनराजं

पूजयित्वा तत्र सागरचंद्रं दृष्ट्वोपलक्ष्य च सोऽतीव हृष्टः.

अथ तेन सार्द्धं तत्र जिननमनार्थं तस्य सुंदर्यभिधा कन्यकापि समागतासीत्, सापि सागरचंद्रं दृष्ट्वातीवहृष्टा बभूव. यतः पूर्वं निमित्तज्ञेन तस्यै कथितमासीत् यत्तव भर्त्ता सागरचंद्रकुमारो भविष्यतीति.

इतः सिंहनादविद्याधरेश्वरोऽपि पुत्रीभिः सहितस्तत्र समागतः, जिनप्रतिमां नत्वा स्नेहेन स कुमारमालापितवान्, 'भो वत्स भव्यं जातं यन्मे पुण्येन त्वमत्र कुशलेन समागतः.' कुमारेण पृष्टं 'हे स्वामिन् ! परं स आवासो मया परिणीताश्च सर्वा अपि कन्याः क्व गताः?' सोऽवादीत् वत्स शृणु ? 'समुद्रतटेऽमिततेजाभिधो राजास्ति, तस्य कनकमालाभिधा च राज्यस्ति. तयोः कमलोत्पलाभिधौ च पुत्रौ स्तः. तयोः कमलस्तव भुवनकांताभिधां दयितां रथादपहृत्य द्रुतं वैताढ्यपर्वते गतोऽस्ति, संप्रति सा कन्या तत्र निजदृढशीलयुता स्थितास्ति.'

अथ तेनोत्पलेनापि ताः पंच कन्यका हृत्वा, तमावासं चादृश्यीकृत्य त्वं पृथिव्यां मुक्तः. ततो विद्याबलेनाह तत्सर्वं ज्ञात्वा दुष्टमुत्पलं मारयित्वैताः कन्याः समानीतवान्.' तत् श्रुत्वा क्रुद्धः कुमारस्तंप्रत्याह 'हे तात त्वं मां वैताढ्ये प्रापय ? यथा तं दुष्टं हत्वा मे प्रिया समानयामि.'

अथ सुधर्मराज्ञा निजपुत्री सुंदरी तेन कुमारेण सह तत्र परिणायिता, ततः सिंहनादविद्याधरेंद्रोऽपि कुमारं निजपुरे समानीय निजपुत्रीभिः सार्द्धं तस्य पाणिग्रहणं कारयामास. ततस्तेन कुमाराय बहुरूपकारिणीप्रमुखा विद्या दत्ताः. एवं स विद्याबलयुतो निजप्रियाभुवनकांताग्रहणाय चलितः. तदामिततेजविद्याधरः स्वयं तत्सन्मुखमागत्य कुमाराय भुवनकांतां समर्पयामास, निजसुतस्यापराधं च क्षामयामास- ततोऽमिततेजनृपेण तस्य प्रथमपत्नी कमलमालापि तत्रानीय तस्मै सम-

र्पिता. एवं ताभिरष्टाभिर्निजभार्याभिर्युतः सागरचंद्रकुमारो विद्याधरेंद्रमापृच्छ्य दिव्य विमानस्थितो गगनमार्गेण निजनगरे प्राप्तः.

एवं महासमृद्धियुतं निजपुत्रं समागतं वीक्ष्य हृष्टेनामितचंद्रनृपेण महोत्सवपूर्वकं तस्य नगरप्रवेशः कारितः, ततः कुमारो मातापित्रोः पादयोर्नमस्कृत्य स्वावासे प्राप्तः, तत्र च स निजाष्टभार्याभिः सह विविधानि सौख्यानि भुंक्ते.

अथान्यदा तत्पुरोद्याने भुवनानंदाभिधः केवली समागत्य समवसृतः, तद्वंदनार्थं राजा ससुतस्तत्र समागतः, केवलिनं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य वंदित्वा चाग्रे समुपविष्टो राजा केवलिप्रोक्तं धर्मोपदेशं शुश्राव. देशनांते राजा पृच्छति हे भगवन्! मेऽयं सामरचंद्रकुमारः केन हृतः? केवल्यभाषत हे राजन्नस्य तव पुत्रस्य चरित्रं शृणु? महाविदेहक्षेत्रे वणिक्सुतौ द्वौ भ्रातरावभूतां, तौ धनवंतौ गुणवंतौ विवेकवंतौ चास्तां. तयोर्वृद्धभ्रातुर्भार्या निजभर्तुर्यतीवस्नेहवती धर्मकर्मरताभूत्. अन्यदा स वृद्धभ्राता व्यापारार्थं देशांतरे ययौ. किद्दिनांतरं लघुभ्रात्रा हास्येन निजयभ्रातृजायायै कथितं, यन्मे भ्राता पथि गच्छन् दुष्टतस्करैर्मारितः. तत् श्रुत्वा सातीव शोकातुरा स्नेहवशेन तत्कालं मृत्युमवाप. तद् दृष्ट्वा स लघुभ्रातापि पश्चात्तापं कुर्वन्नतीवदुःखितो जातः.

इतः कियता कालेन तस्य वृद्धभ्रातापि तत्र समाययौ, निजभार्यामरणवृत्तांतं च विज्ञाय लघुभ्रातुरुपरि स क्रोधातुरो जातः, लघुभ्रात्रा क्षामितोऽपि स क्रोधं न तत्याज. ततः स वृद्धभ्राता तापसो भूत्वा घोरमज्ञानतपः कृत्वा क्रोधकलुषितात्माऽसुरकुमारेषु देवो जातः. लघुभ्राता तु जिनोक्तं धर्मं श्रुत्वा जातवैराग्यो दीक्षां जग्राह. शुद्धभावेन प्रव्रज्यां पालयन् सोऽसुरकुमारेण तेन क्रोधेन शिलायामास्फाल्य मारितः, स मुनिरपि शुभभावेन मृत्वा प्राणतकल्प देवो जातः. सोऽसुर-

कुमारोऽपि संसारे भ्रांत्वा पुनरप्यसुरकुमारो जातः, लघुभ्राता तु प्राणतकल्पाच्च्युत्वा तवायं सागरचंद्राभिधः सुतोऽभूत्. एवं पूर्वभववैरात्तेनासुरकुमारेण तवायं पुत्रः समुद्रे क्षिप्तः, पूर्वकृतपुण्यवशाच्च फलकं लब्ध्वा स निर्गतः, ईदृग्समृद्धिसहितश्च स तव गृहे समागतः.

अथ पुनरपि सोऽसुरकुमार एतस्योपसर्गं करिष्यति, ततोऽस्य कुमारस्य पार्श्वात्स प्रतिबोधमपि प्राप्स्यति. इति निजपूर्वभवं श्रुत्वा जातजातिस्मरणेन तेन सागरचंद्रकुमारेण वैराग्यं प्राप्य निजसुतं च राज्ये न्यस्य जनकजननीभ्यां सह तस्य केवलिनः पार्श्वे दीक्षा गृहीता.

अथ तेन चिंतितमहो एकापि पठिता गाथा मे सुखकारिणी जाता, अतोऽहं सर्वादरपूर्वकं सर्वश्रुताभ्यासं करोमीति विचिंत्य स सर्वपूर्वाभ्यासं चकार. ततो गुरुणाचार्यपदे स्थापितोऽसौ भव्यजीवान् प्रतिबोध्यांतेऽनशनमग्रहीत्. तदा पूर्वभववैरेण सोऽसुरकुमारः पक्षिरूपं विधाय तस्य शरीरं त्रोटयामास, ततस्तेन सिंहगजादिरूपाण्यपि विकुर्व्य स मुनिः कदर्थितः, परं स महात्मा मनागपि न क्षुब्धः ततः सोऽसुरकुमारः शांतक्रोधो मुनिवेषं दृष्ट्वा प्रतिबुद्धो निजापराधं क्षामयित्वा तत्र महोत्सवमकरोत्. सागरचंद्रमुनिस्तुः कर्मक्षयं कृत्वा केवलज्ञानमुत्पाद्य शाश्वतस्थानके मोक्षे ययौ श्री अभितचंद्रप्रमुखः सर्वोऽपि साधुसाध्वीलोकः सुरलोके गतः एवं यथा सागरचंद्रेण ज्ञानेन वारिधिमपि तीर्त्वा ऋद्धयः प्राप्तास्तथा यूयमपि सर्वश्रीनिदानं ज्ञानं ज्ञात्वा तत्रादरं कुरुत ? ॥ इति सागरचंद्रकथा ॥

इत्याद्युपदेशं श्रुत्वा तेतलिपुत्रश्राद्ध आनंदवत् श्राद्धधर्मं प्रतिपद्य नवतत्त्वज्ञानं च समासाद्य प्रभुं नमस्कृत्य गृहे समागत्य सकुटुंबो विशुद्धभावेन जिनधर्मं करोति. ततः पंचदशे वर्षे धर्मं कुर्वतस्तस्य मनसीति विचारः समुत्पन्नः, इयत्कालं

मया सकलोऽपि कुटुंबभारो निर्वाहितः,

अथ श्रावकप्रतिमारूपं धर्ममपि समाराधयामीति ध्यात्वा पौषधशालां प्रमार्ज्य दर्भसंस्तारके समुपविश्यानंदवदेकादश-प्रतिमाः समाराधयामास. अत्युग्रतपसातीवक्षीणीभूतः संलेषणां कृत्वानशनं प्रत्यपद्यत, ततोऽसौ जीवराशिं क्षामयित्वा शुभध्यानं ध्यायन् पंचपरमेष्टिनमस्कारं स्मरन् मृत्वा सौधर्मदेवलोकेऽरुणाभविमाने चतुःपल्योपमायुर्देवो जातः तत् श्रुत्वा गौतमेन पृष्टं हे भगवन् ततश्च्युत्वा स क्व यास्यति? भगवानुवाच 'भो गौतम स ततश्च्युत्वा मनुष्यभवं प्राप्य कर्मग्रंथिं च भित्वा मुक्तिं यास्यति.' एते दशश्रावकाः श्रीवीरजिनेंद्रशासने कथिताः संति, ते च सुरासुरनरतिर्यक्कृतोपसर्गैरक्षुब्धा दृढसम्यक्त्वा विंशतिवर्षाणि यावत्पालितजिनधर्माः सर्वेऽपि प्रथमदेवलोके देवा बभूवुः सर्वेऽपि च ते मनुष्यभवं प्राप्य विगतकर्मबंधनाः सेत्स्यंति. एतेषां चरित्रं च श्रुत्वा श्रीजंबूस्वामी शमभावभावितात्मा धर्मपरायणो जातः. अस्मिन् ग्रंथे यत्किंचिद् उत्सूत्रादिदूषणं भवेत् तत्सर्वं मयि कृपापरैर्गीतमत्सरैः श्रुतधरैः शोधनीयं.

श्रीबृहत्खरतरगच्छे श्रीजिनभद्रसूरेरंतेवासी वाचनाचार्यः श्री पद्ममेरुगणी, तच्छिष्यो वाचनाचार्यः श्रीमतिवर्द्धनगणी, तच्छिष्यो वाचनाचार्यः श्रीमेरुतिलकगणी, तच्छिष्यो वाचनाचार्यः श्रीदयाकलशगणी, तच्छिष्यो वाचनाचार्यः श्रीअमर-माणिक्यगणी, तच्छिष्यो वाचनाचार्यः श्रीक्षमारंभगणी, तच्छिष्यो वाचनाचार्यः श्रीरत्नलाभगणी, तच्छिष्येण.

राजकीर्त्तिगणिनेयं श्रीवर्द्धमानदेशना गद्यबंधेनप्रणिता. ॥

इति श्रीतेतलिपुत्रश्रावकप्रतिबोधो नाम दशम उल्लासः समाप्तः॥ श्रीरस्तु ॥

इतिश्री वर्द्धमानदेशना समाप्ता।

इति श्री

# वर्द्धमानदेशना

समाप्ता.